भारतीय संस्कृति और हिमाचल प्रदेश

पद्मचंद्र काश्यप

Digitised by
Tharah Kardu

भारतीय संस्कृति और हिमाचल प्रदेश

गत दो दशकों में हिमाचल तथा देश-विदेश में इतिहास, संस्कृति, पुरातत्त्व, जातीय पुरातत्त्व, मानवशास्त्र, भूगर्भश एवं वैदिक वाङ्मय के क्षेत्र में हुए व्यापक अनुसंधानों से प्रचुर मात्रा में जो तथ्य प्राप्त हुए हैं, उन्होंने हमारे अतीत का चित्र एकदम बदल दिया है। पुरानी मान्यताएँ धूल चाट रही हैं और तब तक माने जाते रहे परम सत्य झूठे साबित हो गए हैं।

हमने अपने स्पिति-लद्दाख क्षेत्र में भारत भूखंड के एशिया भूखंड से छह करोड़ वर्ष पहले हुई भीषण टकराहट का घोर नाद सुना, हिमालय का जन्म देखा। वहीं स्पिति में हमने भारत और एशिया के बीच के समुद्र को लुप्त होते देखा और स्पिति नदी के किनारे चट्टानों में फँसे समुद्री जीवों के पत्थर बने अस्थि-पंजर भी।

मानव जन्मा। उसने आग का उपयोग जाना। लद्दाख-स्पिति क्षेत्र में उसकी गुफा मिली, पास ही जलाई गई लकड़ी के कोयले। व्यास और सतलुज की सहायक नदियों के किनारे पाषाणयुगीन मनुष्य के पाषाण शस्त्र हाथ लगे। न जाने कितने युगों-कल्पों के बाद हम उसे सरस्वती-सिंधु क्षेत्र के जनों के साथ कंधे से कंधा मिलाकर एक अत्यंत समृद्ध नागर सभ्यता की स्थापना करते पाते हैं।

इससे पूर्व वह हिमालय-शिवालिक क्षेत्र में वेद की रचना करने लग पड़ा था। हमने उसे सुना उस भयंकर निर्णयकारी इंद्र-वृत्र संघर्ष के गीत गाते हुए जिसे जीतकर इंद्र सृष्टिकर्ता बना था। आज भी प्रतिवर्ष हमें अपने मेलों में उसकी गूँज सुनाई देती है। सरस्वती-सतलुज-व्यास के जल-संग्रहण भाग में हमें हड़प्पा सभ्यता की जीवित बस्तियों में रहने-बसने का सुयोग मिला।

यही नहीं, हमने खश भाई-बंधुओं को ऋग्वेद के सर्वाधिक क्रियाशील देवता मरुत बने इंद्र की जीत सुनिश्चित करते भेंट की और धन्य हुए कि हिमाचल ने अपनी परंपराओं में यह सब कुछ हमारे लिए सँजोए रखा है। इसका प्रकटीकरण ही इस ऐतिहासिक और सांस्कृतिक अध्ययन की सार्थकता है।

ISBN—81-88123-15-3

मूल्य : रु० 225.00

tharahkardu.in

भारतीय संस्कृति
और
हिमाचल प्रदेश

Digitised by
Tharah Kardu

हिमाचल पुस्तक भंडार
गांधीनगर, दिल्ली-110031

tharahkardu.in

भारतीय संस्कृति और हिमाचल प्रदेश

पद्मचंद्र काश्यप

Digitised by
Tharah Kardu

ISBN—81-88123-15-3

© डॉ० पद्मचंद्र काश्यप

प्रकाशक
हिमाचल पुस्तक भंडार
IX/221, सरस्वती भंडार, गांधीनगर
दिल्ली-110031

प्रथम संस्करण
2003

आवरण
रवि शर्मा

मूल्य
दो सौ पच्चीस रुपये

मुद्रक
एस०एन० प्रिंटर्स
नवीन शाहदरा, दिल्ली-110032

BHARTIYA SANSKRITI AUR HIMACHAL PRADESH
(Hindi)
by Dr. Padm Chandra Kashyap
Price : Rs. 225.00

tharahkardu.in

एक बात

हिमाचल प्रदेश की संपूर्ण इकाई के अध्ययन का यह मौलिक एवं प्रथम उद्योग है। हिमालय के इस भूखंड के इतिहास और संस्कृति पर सुव्यवस्थित, वैज्ञानिक ढंग से गंभीरतापूर्ण लेखन का कार्य नहीं हुआ है। जो कुछ छिटपुट प्रयत्न हुए हैं, उनका उद्देश्य प्रदेश के किसी भाग विशेष के किसी विशिष्ट पक्ष पर ही प्रकाश डालना रहा है।

पूर्ण राज्यत्व-प्राप्ति के फलस्वरूप प्रदेश अब इस स्थिति में है कि वह निजी व्यक्तित्व का प्रकाशन कर सके और अपनी सामाजिक, सांस्कृतिक और आर्थिक संभावनाओं का समुचित विकास कर पाए। अतः यह स्वाभाविक है कि उसे अपने अतीत के प्रति जिज्ञासा हो। भूत पर ही वर्तमान स्थित है और भविष्य का निर्माण वर्तमान से ही संभव है। वर्तमान को समझने का एकमात्र आधार भूतकाल है। आज तभी जाना जा सकता है जब बीते कल का ज्ञान हो। बीता कल इतिहास का क्षेत्र है और आज संस्कृति का।

हिमाचल प्रदेश भले ही भारतीय संघ के कनिष्ठतम राज्यों में से हो, किंतु इसकी संस्कृति और राजतंत्र अत्यंत प्राचीन हैं। विश्व में हिमाचल प्रदेश ही संभवतः अकेला ऐसा क्षेत्र है जहाँ की कतिपय रियासतें—खूँद इकाइयाँ पाँच-छह हजार वर्षों तक कायम रही हों।

इस अध्ययन से एक बात स्पष्ट हो गई है कि भारत की जातीय एवं सांस्कृतिक परंपरा का सही ज्ञान प्राप्त करने में हिमाचल काफी बड़ी सीमा तक सहायक हो सकता है। इस प्रदेश में प्रायः वे सभी जातियाँ किसी न किसी रूप में विद्यमान हैं जो भारत के दीर्घकालीन इतिहास में यहाँ जन्मीं अथवा बाहर से आकर बसीं। हिमाचल प्रदेश में नाग, किन्नर, किरात, कोल, खश, आर्य, शक, यवन, हूण, शूलिक और गुर्जर, सभी प्राचीन जातियों के चिह्न हैं।

यह प्रदेश वास्तव में भारत का शीतागार है। समूचे देश की सामाजिक व्यवस्था का क्रमिक विकास, उसकी अर्थ-नीति का आदि स्वरूप, सांस्कृतिक परंपरा का वैविध्यपूर्ण चित्रण यहाँ उपलब्ध है। यही नहीं, हिमाचल प्रदेश में ऐसे सूत्रों का बाहुल्य है जिनसे सैंधव सभ्यता से यहाँ के लोगों का सीधा संबंध स्थापित होता है। सिंधु घाटी सभ्यता और संस्कृति का मूर्त एवं जीवित रूप यहाँ देखा जा सकता है।

Digitised by
Tharah Kardu

जहाँ एक ओर जातीय स्तर पर कर्नाटक, गुजरात, असम, बंगाल, राजस्थान तथा उत्तरी भारत के अन्य भागों से गहरा संपर्क रहा है, वहाँ दूसरी ओर सांस्कृतिक क्षेत्र में हिमाचल प्रदेश तमिलनाडु के उतना ही निकट है, जितना कि आंध्र प्रदेश। कई बार यह भ्रम होने लगता है कि संस्कृति के मूल स्वरूप—धर्म—की चर्चा करते हुए दक्षिण भारत का ब्योरा दिया जा रहा है या हिमाचल प्रदेश का।

प्रस्तुत पुस्तक में लक्ष्य यही रहा है कि जहाँ हिमाचल के विभिन्न भागों की एकता को सामने लाया जाए, वहाँ हिमाचली संस्कृति और इतिहास को वृहद् भारतीय परिप्रेक्ष्य में देखा जाए। संभवतः हिमाचल के विभिन्न भागों की एकता की बात विचित्र लगे, किंतु वस्तुस्थिति यह है कि ऐतिहासिक कारणों और जातीय सम्मिश्रण के फलस्वरूप भौगोलिक पार्थक्य ने इस प्रदेश में उन्नीसवीं-बीसवीं शताब्दी तक चली आई तीस-चालीस रियासतों को पृथक् व्यक्तित्व प्रदान किया था। फलतः कई बार लोगों का दिशा-ज्ञान चूक गया और वे अपनी छोटी-सी इकाई को ही सीमा मानने लग पड़े थे। इससे सारे हिमाचल प्रदेश में राजनीतिक और सांस्कृतिक केंद्रों की संख्या भी उतनी ही बढ़ी थी, जितनी रियासतों की। ऐसी स्थिति में इन विभिन्न स्थानों की विविधता को एक सूत्र में बाँधने में कठिनाई पड़ी। किस स्थल या स्थान को केंद्र माना जाए, जिसके आधार पर इस प्रदेश की राजनीतिक और सांस्कृतिक कहानी कही जाए, यह समस्या बराबर बनी रही। यह प्रयत्न इसलिए भी दुरूह हो गया कि प्रदेश के जनजीवन को यहाँ की मिट्टी में ही देखा गया, बाह्य संदर्भों की पुष्टि का अंश नहीं समझा गया। इस उलझन को सुलझाने के लिए केवल उन धाराओं का ही उल्लेख किया गया है जिनकी सार्थकता समूचे प्रदेश के लिए है। स्थानों या व्यक्तियों का नाम केवल तथ्य की पुष्टि हेतु ही दिया गया है।

विषय के प्रतिपादन के लिए लिखित सामग्री का प्रायः अभाव ही है, जिसके कारण लेखक को सभी मान्यताएँ स्वयं निर्धारित करनी पड़ी हैं। इनमें उसने विद्वत्ता का कभी दावा नहीं किया है। चाह केवल अन्वेषणात्मक दृष्टिकोण की रही है। अधिक खोज अथवा अन्य सामग्री प्राप्त होने पर लेखक की धारणाएँ सही या गलत सिद्ध हो सकती हैं। उसने प्रयत्न यही किया है कि हिमाचल के अतीत और वर्तमान के अध्ययन से जो प्रश्न राष्ट्रीय महत्त्व के उत्पन्न हों, उन्हें सामने लाया जाए और उसी संदर्भ में उनका उत्तर खोजा जाए।

प्रस्तुत पुस्तक की सीमाओं के प्रति लेखक सजग है। उसकी केवल यही कामना है कि यह अकिंचन् प्रयास भविष्य में भगीरथ प्रयत्न का सूत्रपात कर सके।

—पद्मचंद्र काश्यप

tharahkardu.in

एक दूसरी बात

पिछले दो दशकों में हिमाचल तथा देश-विदेश में इतिहास, पुरातत्त्व, जातीय विज्ञान, मानवशास्त्र, भूगर्भज्ञान के क्षेत्रों में जो अतुलनीय प्रगति हुई है और नित-नई खोजों से जो विस्मयकारी तथ्य प्राप्त हुए हैं, उनसे हमारे अतीत का चित्र एकदम बदल गया है। पुरानी मान्यताएँ ढह चलीं, तब तक माने जाते रहे परम सत्य झूठे साबित होते गए हैं। हिमाचल और भारत का इतिहास और संस्कृति एकदम नए रूप-स्वरूप में स्पष्ट उभरकर सामने आए हैं। देश के शीतागार हिमालय और हिमाचल अपने वक्ष में छिपाए रहस्यों का एक-एक कर उद्‌घाटन करने लगे हैं।

हमने देखा, हमारा स्पिति-लद्दाख क्षेत्र गवाह है कि हिमालय जन्म की उस प्रसव-पीड़ा का, जब छह करोड़ वर्ष पूर्व भारत महाद्वीप (गोंडवानालैंड) एशिया महाद्वीप से टकराया था और उसकी पाषाण चद्दर टकराहट की भीषणता से ऊपर को मुड़ गई थी, हिमालय जन्मा था। भारत और एशिया के बीच का समुद्र पीछे हटता गया और स्पिति में पहुँचकर सदा के लिए लुप्त हो गया। स्पिति का रेगिस्तान उसी समुद्र का तल है। लोकसर की चट्टानों पर समुद्री लहरों की चोट के निशान और स्पिति नदी की चट्टानों में फँसे समुद्री जीव-जंतुओं के पत्थर बने अस्थि-पंजर इसके प्रमाण हैं। उधर रामपुर का एक अरब अस्सी करोड़ वर्ष पुराना शैल, भूगर्भवित्ताओं के अनुसार कभी पृथ्वी के गर्भ के भीतर 20 किलोमीटर नीचे था। शिवालिक तो मात्र 20 लाख वर्षों पहले गंगा के मैदान जैसा था और भारत तथा एशिया के बीच सेतु का काम करती इंडो-ब्रह्म नदी का तल था।

बहुत बाद मानव जन्मा, विश्व के कतिपय अन्य स्थानों की तरह यहाँ भी। लद्दाख में ही पाषाणयुगीन मनुष्य द्वारा जलाई गई लकड़ी के कोयले मिले। पास ही एक गुफा भी, जिसमें शायद वह वास करता रहा होगा। किंतु दक्षिण-पूर्व की ओर काँगड़ा की व्यास उपत्यका में आदि मानव काफी समय तक रहा होगा, प्रचुर मात्रा में पाषाण शस्त्रों की मौजूदगी इसका संकेत देती है। नालागढ़ में सिरसा नदी के किनारे रंगीन पत्थरों के औजार प्राप्त हुए हैं।

समय गुजरते शिवालकीय क्षेत्र के इन मानवों की जान-पहचान सरस्वती-

Digitised by
Tharah Kardu

सिंधु मैदान के छिटपुट कबीलों से भी होती रही लगती है, इसका सुभीता यहाँ की नदियों ने सुलभ कराया। उन्हीं के किनारे-किनारे होता यह पहाड़ी मानव मैदानी भाग में पहुँचा था, और न जाने कितने काल के बाद उसने सरस्वती-सिंधु जनों के साथ कंधे से कंधा मिलाकर एक अत्यंत समृद्ध नागर सभ्यता का सूत्रपात किया था, जिसे आज हम सिंधु सभ्यता, हड़प्पा सभ्यता या सरस्वती-सिंधु सभ्यता के नाम से जानते हैं।

इससे पूर्व वह शिवालिक-हिमालय के क्षेत्र में ऋग्वेद की रचना करने लग पड़ा था और तभी लंबे भयानक शीतकाल से आक्रांत ऋग्वेद के आरंभिक रचनाकारों में से एक ऋषि, भरद्वाज, हेमंत के आगमन से पूर्व देवताओं से बार-बार प्रार्थना करता है, "मुझे तथा मेरे पुत्रों को सौ हेमंत सकुशल पार कराओ।" 'जीवेम शरदः शतम्' की अभिलाषा तो बहुत बाद की बात है।

कभी सुदूर अतीत में, जिसके संबंध में ऋग्वेद के ऋषियों ने भी केवल सुना था, यहाँ एक भयंकर संघर्ष हुआ था, दो पक्षों में। एक के पास अग्नि थी, अर्थात् अग्नि की उपादेयता का रहस्य मालूम था, दूसरे के पास जल, यानी वह उस क्षेत्र का रहने वाला था, जहाँ जल प्रचुर मात्रा में उपलब्ध था। जिसका उपयोग शायद कृषि के लिए भी होता था। अग्नि पक्ष की जीत हुई, उसने विरोधियों से जल को मुक्त करा दिया। इन मुक्त किए गए जलों में दो नदियाँ थीं—सतलुज और व्यास। और सारे संसार में केवल इन्हीं दो नदियों के हिमाचल जल-संग्रहण क्षेत्र में यह घटना आज भी याद है और प्रतिवर्ष बुढ़ी दियाउड़ी नामक मिथक-आधारित मेले में अभिनीत होती है। तब तक यह घटना सृष्टि रचना की विश्वव्यापी मिथक बन चुकी थी।

इसी सतलुज जल-संग्रहण क्षेत्र में बीसवीं शताब्दी की आठवीं दशाब्दी में कतिपय ऐसी बस्तियों का पता चला जो हड़प्पा सभ्यता के जीवित अवशेष हैं। रोचक बात यह है कि ऋग्वेद के सृष्टि-रचना मिथक का अभिनय भी मुख्यतः इन्हीं हड़प्पा बस्तियों में अपने कमोबेश मौलिक रूप में दिखाई पड़ता है, जिससे यह तथ्य सुगमता से स्वीकार किया जा सकता है कि वस्तुतः वैदिक और हड़प्पा सभ्यता एक ही है।

यही नहीं, अपने झीरू वर्ग के मेलों में हिमाचल ने ऋग्वेद से पहले के समाज की झाँकी सुरक्षित रखी है। वेदों में इन प्रदर्शनों को शिश्न (लिंग) प्रदर्शन कहा गया है। दूसरी ओर हिमाचल क्षेत्र को यह गौरव भी प्राप्त है कि इसने वे जन पैदा किए जिन्हें देख, आधार बनाकर, ऋग्वैदिक ऋषियों ने देव-समाज के सर्वाधिक क्रियाशील देवताओं को कल्पित किया था। ये देवता हैं मरुत और मानव हैं खश।

tharahkardu.in

भारतीय इतिहासकारों के सम्मुख एक गुत्थी बहुत समय से सामने आ रही थी। वैदिक सभ्यता एक उन्नत समाज का चित्र प्रस्तुत करती है और पुरातत्त्व ने अपनी खोजों से उसे हड़प्पा सभ्यता के रूप में स्थापित किया है। लेकिन प्रश्न था कि कोई समाज एकदम इस प्रकार की ऊँचाई प्राप्त नहीं कर सकता। उससे पूर्व एक ऐसा समाज और समय होना चाहिए, जो अभी विकास की पूर्व अवस्था में था, जिससे होते हुए सैकड़ों-हजारों वर्षों में वह वैदिक-हड़प्पन नागर सभ्यता की ऊँचाइयाँ छू पाया था। यह हिमाचल को श्रेय जाता है कि इसने झीरू, खश-मरुतों आदि के रूप में उस समाज का आरंभिक स्वरूप सुरक्षित रखा हुआ है। इस तरह हिमाचली समाज भारत के इतिहास की 'बदलाव के साथ निरंतरता' की कहानी का प्रत्यक्ष प्रमाण उपस्थित करता है।

पिछले डेढ़ सौ वर्षों से भारतीय इतिहास पर एक नाम सार्वभौम की तरह छाया रहा है—आर्य। साधिकार कहा गया कि आर्य चरवाहों, गड़रियों, बर्बर, असभ्य, खानाबदोशों की जाति थी, जो मध्य एशिया से आई थी। आर्य आक्रमणकारी थे, उन्होंने देशज दास-दस्युओं को परास्त कर अपना वर्चस्व स्थापित किया और हड़प्पा की नागर सभ्यता का नामोनिशान मिटा दिया था और ऋग्वेद इन बर्बर, असभ्य, घुमंतुओं की धर्म-पुस्तक है। इस संदर्भ में देखने वाली बात यह है कि वेदों को ही साक्षी मानकर आर्य जाति की कल्पना की गई, उसे आक्रमणकारी ठहराया गया और अब जब ये धारणाएँ निर्मूल सिद्ध हो गई हैं, तो वेदों को ही इतिहास के रूप में अमान्य ठहराया जा रहा है।

अभी तक भारत पर आर्य जाति का आक्रमण ही इस देश के इतिहास की विभाजक-रेखा रही है और जोर देकर कहा जाता रहा कि यह रेखा अलंघ्य है। किंतु हाल के विश्वव्यापी इतिहास, पुरातत्त्व और वेद-अध्ययन से प्राप्त तथ्यों ने सिद्ध किया है कि न तो आर्य नाम की कोई जाति थी, न उस जाति का कोई मूल स्थान था, जहाँ से वह दक्षिण और पश्चिम की ओर गई हो और न ही किसी आर्य ने भारत पर आक्रमण किया था।

ऋग्वेद में 'आर्य' शब्द जिस अर्थ में प्रयुक्त होता रहा है, वह है श्रीमान्, मालिक, मान्यवर, महोदय आदि। यह समाज का एलीट वर्ग है, कोई जाति नहीं। सिंधु सभ्यता के विनाशक के स्थान पर वैदिक जनों के ये वंशज उसके जन्मदाता थे। अतः इस क्रांतिकारी अध्ययन की चर्चा हमने एक पृथक् अध्याय में की है और दिखाया है कि आर्य जाति उन्नीसवीं सदी के यूरोपियन विद्वानों द्वारा आविष्कृत मात्र मिथक है, जिसके द्वारा उन्होंने अपने देशों के साम्राज्यवादी हितों की रक्षा और स्थायित्व का प्रयत्न किया था।

Digitised by
Tharah Kardu

हमने इस पुस्तक में सन् 2000 तक की समूची ऐतिहासिक परंपराओं की खोजों को आधार बनाया है।

आशा है, पाठक इस कृति को पढ़कर हिमाचल तथा उसकी संस्कृति से बखूबी परिचित हो सकेंगे।

–पद्मचंद्र काश्यप

34, मैत्री अपार्टमेंट्स
ए-8, पश्चिम विहार
नई दिल्ली-110063

tharahkardu.in

क्रम

प्रथम अध्याय

भौगोलिक स्थिति और परिचय 13—20

पर्वत • नदियाँ • सरस्वती • शिमला • उपत्यकाएँ • वन • जलवायु • कृषि • सिंचाई • फल • आलू • आकार

द्वितीय अध्याय

ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य 21—52

प्राचीनता • प्राचीनतम जातियाँ • कोल (कोली) • किरात • यक्ष • किन्नर • नाग • बुढ़ी दियाउड़ी—इंद्र-वृत्र संघर्षगाथा • सिंधु सभ्यता के जन्मदाता

तृतीय अध्याय

खश और ऋग्वैदिक मरुत 53—68

चतुर्थ अध्याय

आर्य कौन ? 69—88

शक • कुषाण • गुर्जर • भोट • ब्राह्मण • राजपूत, क्षत्रिय • वैश्य • कोली

पंचम अध्याय

राजनीतिक इतिहास 89—121

सीमांत प्रदेश • ऐतिहासिक सामग्री • प्रारंभिक रूपरेखा • बरींद • खूँद • जनपद • त्रिगर्त • जातीय सम्मिश्रण • कनिष्क • राणा • औदुंबर • कुलिंद • निरमंड ताम्रपत्र • स्पिति राज्य • राजाकाल • काँगड़ा • कुल्लू • बुशैहर • दिल्ली आधिपत्य • संसारचंद • प्रशासन • मलाणा • डोडराक्वार • संथांग • राजा देवता • डूम

षष्ठ अध्याय

सांस्कृतिक पर्यवेक्षण 122—156

खालसा • बौद्ध धर्म • नाथ और सिद्ध • वैष्णव धर्म • शैव धर्म • मानव का दैवीकरण • हिमाचली शिव • ग्राम देवता • गूर • बलि प्रेम • भूँडा • काईका

Digitised by
Tharah Kardu

सप्तम अध्याय

सामाजिक जीवन 157--186

भूमि पर आश्रय • संयुक्त परिवार • दोघरी • बहुपति प्रथा • खंग चुंग • आयु पूजा • हल घृणा • सहकारिता • मधुर स्वभाव • पर्व और त्योहार • शिवरात्रि • वसंत पंचमी • मिंजर • रली • 'बी मा' विधि माता • संस्कार • चूड़ाकर्म • उपनयन • विवाह • अंतर्जातीय विवाह • विधवा विवाह • हार • ढेरी विवाह • द्रौपदी विवाह • प्रमुख विशेषता • ब्याह • रीत • नारी

अष्टम अध्याय

कलात्मक संपदा 187—231

कला • संगीत • वाद्य • मंदिर और मूर्ति • मंदिर • मसरूर • पाषाण मंदिर • बैजनाथ • बजौरा • दुशाल • निरत • काष्ठ मंदिर • मृकुला-उदयपुर का मृकुला देवी मंदिर • ताबो • लक्षणा देवी मंदिर • शक्ति देवी मंदिर • मिश्रित • हाटेश्वरी मंदिर • अंबिका मंदिर • मूर्तियाँ • स्वच्छंद भैरवी • कोठी का भैरव • **चित्रकला :** सार्वभौमिकता • 'की' चित्र • लोककला • नवजागरण • विभिन्न केंद्र • गुलेर और काँगड़ा • माध्यम • लघु चित्र • विषयवस्तु • केंद्रबिंदु नारी • कृष्ण • भीतिचित्र • रूमाल • हास • **मेले** : वर्गीकरण • (1) धार्मिक मेले : भूँडा • (2) सांस्कृतिक, ऐतिहासिक अथवा पौराणिक मेले • (3) व्यापार मेले • (4) लौकिक एवं सामाजिक मेले : विशु, फुलैच • **नृत्य :** शास्त्रीय नृत्य, लोकनृत्य • नामकरण • नृत्य वर्ग • नाटारंभ और मुंजरा • छाड़ी तथा बाँठड़ा • नाटी • कड़माऊ • घूघती • जानूजंघ • सेन ग्ये चम • ठोडा नृत्य • खड्ग नाटी • बुढा नृत्य • **लोकनाट्य :** निर्शु • करयाला • बाँठड़ा • सेचू का सेन ग्ये चम • बूझण • बूढ़ा अथवा सिंह

सहायक पुस्तकें 232—234

tharahkardu.in

प्रथम अध्याय

भौगोलिक स्थिति और परिचय

हिमाचल प्रदेश भारत की उत्तर-पश्चिमी सीमा पर 30°-22'-40" और 33°-12'-40" उत्तरी अक्षांश तथा 75°-45'-45" और 79°-64'-20" पूर्वी देशांतर रेखा पर स्थित है। इस प्रदेश के पूर्वोत्तर में तिब्बत है, पश्चिमोत्तर में कश्मीर के लद्दाख और जम्मू प्रांत। दक्षिण-पश्चिम में पंजाब और दक्षिण में हरियाणा तथा पूर्व में उत्तरांचल है।

हिमाचल प्रदेश का क्षेत्रफल 56019.3 वर्ग किलोमीटर है। यह क्षेत्रफल देश के पंजाब, हरियाणा, केरल और नागालैंड जैसे राज्यों की तुलना में अधिक है।

पर्वत—हिमालय और शिवालिक पर्वतों से आवेष्टित होने के कारण यह सारा प्रदेश पहाड़ी है। इसकी ऊँचाई सागर-तल से 1,600 फुट से लेकर 22,000 फुट तक है। समूचा प्रदेश तीन प्राकृतिक खंडों में विभाजित किया जा सकता है—(1) शिवालिक शृंखला, (2) पीर पंजालिक शृंखला तथा (3) जास्कर पर्वतमाला।

शिवालिक शृंखला मैदान और पहाड़ का मिलन-स्थल है। कहाँ पहाड़ समाप्त हुआ और कब मैदान ने जन्म लिया तथा कैसे वे एक-दूसरे में घुलमिल गए, यहाँ देखा जा सकता है। अपेक्षाकृत कम ऊँचाई की ये पहाड़ियाँ धीरे-धीरे ऊँची उठती हैं। कहीं समानांतर बढ़ती हैं और कहीं एक-दूसरी से जुड़ी-सी लगती हैं। इनसे छोटी-छोटी उपत्यकाएँ बन गई हैं। समुद्र-तल से इस क्षेत्र की ऊँचाई 1,600 फुट से 4,000 फुट तक है।

पीर पंजालिक शृंखला प्रदेश के मध्य में स्थित है। यह शिवालिक से अधिक ऊँची है। हिमाचल में यह शृंखला सतलुज की घाटी से उठकर कुल्लू क्षेत्र को स्पिति क्षेत्र से अलग करती हुई पश्चिम की ओर काँगड़ा की उत्तरी सीमा बनाती है और चंबा क्षेत्र में जा निकलती है। इस श्रेणी में धौलाधार की गिनती भी की जा सकती है। इसकी ऊँचाई सामान्यतः 4,000 से 17,000 फुट तक है। इसके कुछ पर्वत-शिखरों पर सारे वर्ष और कुछ पर वर्ष में तीन-चार महीने बर्फ जमी रहती है। इसी पर्वतमाला से यहाँ की तीन मुख्य नदियाँ निकलती हैं।

जास्कर पर्वतमाला पीर पंजालिक के उत्तर में है। लाहुल स्पिति क्षेत्र इसके अंतर्गत आता है। इसकी सामान्य ऊँचाई 5,000 फुट से लेकर 22,000 फुट तक है।

Digitised by
Tharah Kardu

नदियाँ—किसी समय हिमाचल प्रदेश के पड़ोसी राज्य पंजाब का नाम वहाँ बहने वाली पाँच नदियों के कारण पड़ा था, किंतु वहाँ अब केवल तीन नदियाँ बहती हैं। इसके विपरीत हिमाचल प्रदेश में आज भी चार बड़ी-बड़ी नदियाँ हैं। इनके नाम हैं—सतलुज, व्यास, रावी और चनाव। सतलुज को छोड़ अन्य नदियों के उद्गम-स्रोत यहीं के पर्वत हैं।

यह प्रदेश दो विश्वविख्यात नदियों का संग्रहण क्षेत्र है। यहाँ का जल यदि एक ओर सिंधु संग्रहण क्षेत्र का भाग है, तो दूसरी ओर गांगेय संग्रहण क्षेत्र का भी है। भूगोलवेत्ताओं का कहना है कि राजधानी शिमला की रिज पर पड़ने वाली वर्षा की एक बूँद यदि पश्चिम की दिशा में ढुलके तो सतलुज द्वारा अरब सागर में जा पहुँचती है। अगर वह पूर्व की ओर ढुलकी तो गिरी नदी द्वारा यमुना में मिलकर बंगाल की खाड़ी में चली जाती है।

यह तो रहा प्रकृति का खेल। इधर देश के इंजीनियर भी पीछे नहीं रहना चाहते। अभेद्य पर्वतमालाओं से निर्भीत रहकर वे स्वयं पर्वतों को छेद रावी का जल व्यास में, ये दोनों जल सतलुज में और फिर वही सम्मिलित जल यमुना में मिलाने के कार्य में लगे हैं। उनकी योजना तो यह भी है कि भविष्य में गंगा से नहर निकालकर इस जल को दक्षिण में कावेरी में मिला दिया जाए।

अरब सागर में जा मिलने वाली नदियों का उल्लेख वेदों में भी हुआ है, पर तब सतलुज को शुतुद्री, व्यास को विपाशा, रावी को परुष्णी, चनाव को असिन्की कहा जाता था। चनाव का एक और नाम हैं चंद्रभागा। अपने उद्गम-स्थल में इसकी दोनों सरिताएँ चंद्र और भागा कहलाती हैं। इनका संगम 'चंद्रभगा' के नाम से प्रसिद्ध है।

सरस्वती—एक नदी और है, सरस्वती। वेद उसका बार-बार गायन करते हैं। कहते हैं, उसका प्रवाह यमुना और सतलुज (शुतुद्री) के बीच के क्षेत्र से था। अकेले ऋग्वेद में उसका 68 बार वर्णन हुआ है, उसे अम्बितमे, नदीतमे और देवीतमे कहा गया है, किंतु आज केवल नाम और ये विशेषण ही शेष हैं। उसका अपना अस्तित्व ही मिट गया। एक कारण, लगभग चार हजार वर्ष पूर्व उसके उद्गम और पर्वतीय प्रवाह क्षेत्र में भीषण भूगर्भीय उथल-पुथल हुई, भूचाल आया, जिसने वहाँ का समूचा मानचित्र ही बदल दिया। पर्वत-शिखर धूलि में मिल गए, समतल भूमि पर नए शिखर, धार, धारटियाँ पैदा हुए। नदियों के पुरामार्ग के चिह्न ही मिट गए। अब सिरमौर, शिमला और किन्नौर में बचे रहे तो केवल एकाध प्राचीन गाथाएँ, दो-एक परंपराएँ तथा ऋग्वेद के ये विवरण कि सरस्वती, 'शुची यति गिरिभ्यः आसमुद्रात्', पर्वत से लेकर समुद्र तक जाती थी; प्रखर वेग वाली 'वाजिनीवती' थी, जो अपने वेग से पर्वत-शृंगों को इस तरह तोड़ डालती थी, जैसे कोई कमल-नाल को तोड़े, 'इयं

tharahkardu.in

सुष्मेभिः विषरवा इव अरूजत् सानु गिरिणां तविषभिः ऊर्मिभिः'।

शिमला—सिरमौर ने दोष यमुना के सिर मढ़ा और उस पर लांछन लगाया, वह द्रोहिणी है, जो बहन का जल समेटकर विमुख हो गई। किन्नौर ने क्रुद्ध, तांडवरत शिव को जिम्मेदार ठहराया कि उसने कैलाश को ठोकर मारकर गिराया और पृथ्वी पर भीषण उत्पात मचाया। पृथ्वी काँप उठी, पर्वत टूटे, नदियों के प्रवाह बदले, वे अवरुद्ध हुईं, नष्ट हुईं। मानसरोवर अपना संतुलन खो बैठा। उसके उद्वेलित जलों में मानो गृहयुद्ध छिड़ गया था।

भारतीय लोकमानस मानता रहा कि सरस्वती मरी नहीं, आज भी जीवित है, जो दूसरों को जीवन दे, वह भला स्वयं कैसे मर सकती है, उसने तो केवल अपने प्रवाह की दिशा बदली है, पश्चिम के बजाय पूर्व की ओर गमन कर रही है, भूमि पर नहीं, भूमिगत होकर वह प्रयाग में गंगा से मिल जाती है। इस धारणा में शायद लोकमानस गलत भी नहीं, क्योंकि यमुना सरस्वती के संग्रहण क्षेत्र के जल को लेकर ही तो प्रयाग पहुँचती है, इस तरह वहाँ तीनों नदियों का संगम हो जाता है।

ऋग्वेद की रचना विदेशों में हुई मानने वाले विद्वानों और इतिहासज्ञों ने समस्या को ही जड़ से उखाड़ एक ओर फेंक दिया। कहते हैं, भारत में सरस्वती कभी थी ही नहीं, और जिस सरस्वती का ऋग्वेद में उल्लेख है वह अफगानिस्तान, ईरान, मिस्र, मध्य एशिया या दक्षिणी रूस की नदी है। और, बहुत ज्यादा ढील दी तो कह दिया कि सिंधु नदी का नाम ही सरस्वती था। इस तरह के निष्कर्षों की पुष्टि के लिए उन्होंने आर्य मिथक का सहारा लिया और कहा कि ऋग्वैदिक आर्य भारत में आने से पूर्व या तो वहाँ रहते थे, या उनसे होते हुए भारत पहुँचे थे। एक और तर्क भी दिया कि शिवालिकीय सिरमौर के आदिबद्री स्थान से निकलने वाली बरसाती नदी ऋग्वेद की महान् नदी नहीं हो सकती।

वैसे सरस्वती के आदिबद्री के उद्‌गम ने उन लोगों को भी उलझन में डाल रखा था जो उसे भारत की नदी मानते थे। प्रश्न था कि पहाड़ों को कमल-नाल की तरह तोड़ने वाली जल से भरपूर वेगवती नदी शिवालिक की पहाड़ी से निसृत जल की यह क्षीण धारा कैसे बन सकती है ? और तुरंत मैदानी भाग में प्रविष्ट होकर इस धारा ने किन पर्वतों को तोड़ा है ?

इन सभी संशयों का समाधान और ऊहापोहों का निराकरण बीसवीं शताब्दी के सातवें, आठवें दशकों में उपग्रह से लिए चित्रों ने प्रस्तुत कर दिया है। इन चित्रों ने शिवालिक के नीचे सरस्वती के पुरामार्गों के विश्वसनीय साक्ष्य उपलब्ध कराए हैं। इन चित्रों से यजुर्वेद के उन संकेतों की भी पुष्टि हो जाती है जिनके अनुसार यमुना और सतलुज सरस्वती की सहायक नदियाँ थीं। तब सतलुज पटियाला के निकट सरस्वती

Digitised by
Tharah Kardu

में आ मिलती थी, जिससे नदी का पाट एकदम नौ-दस किलोमीटर हो गया था। तब यह सरस्वती-सतलुज की 1600 किलोमीटर लंबी धारा कच्छ के रन में जा गिरती थी। पुरातत्त्ववेत्ताओं का मानना है कि उपग्रह से लिए गए चित्रों की नदी ऋग्वेद में दिए गए सरस्वती के विवरणों के अनुकूल है। उधर सिरमौर क्षेत्र के स्थल निरीक्षण करने वाले विद्वानों का दावा है कि पुराकाल में यमुना पाउंटा साहिब के पास से होकर बाता-मारकण्डा मार्ग से बहकर आदिबद्री के पास सरस्वती में मिलती थी।

किंतु हिमाचल-हिमालय में सरस्वती का क्या हुआ, प्रश्न बना रहा। इसका उत्तर पाने के लिए हिमालय में सरस्वती के उद्‌गम-स्थल की खोज शुरू हुई, इसमें पुरातत्त्ववेत्ताओं और भूगोलशास्त्रियों ने भी भाग लिया। प्राप्त उपग्रह-चित्रों से गुत्थी को सुलझाने में कोई सहायता नहीं मिली। नदी के पुरामार्गों की जानकारी उपलब्ध न हो पाई।

अब अनुमान के आधार पर सुझाव आने लगे। पहले भी आते रहे। एक सुझाव आया कि हिमालय में सरस्वती के दो स्रोत हैं, एक पर्वत के दक्षिणी भाग में हर-की-दून हिम नदी-बंदर पूँछ शिखर और दूसरा उद्‌गम मानसरोवर के निकट कपल शिखर। तिब्बत में कपल शिखर से निसृत इस नदी का नाम 'मंग नंग सांगपो' है, जिसे कुछ नीचे आकर सर्वे ऑफ इंडिया के नक्शे में सरस्वती कहा गया है। बंदर पूँछ शिखर से अब तमसा, टोंस निकलती है। टोंस रूपण और सूपण नदियों के संयुक्त प्रवाह का नाम है। गढ़वाल में ही माना शिखर से जन्मी एक नदी को भी सरस्वती कहा जाता है।

किंतु इन अनुमानों को पूरी तरह स्वीकार करने में एक बाधा सामने आती है। यदि सरस्वती का उद्‌गम मानसरोवर या उसके निकट का कपल शिखर है और मंग नंग सांगपो अथवा सरस्वती नाम से प्रवाहित होती चली आ रही है, तो भारत में प्रविष्ट होकर उसके मार्ग का क्या हुआ ? यदि वह अपने पुरातन मार्ग से चल रही है तो उसकी धारा में कौन-कौन-सी नदियाँ मिलती हैं और शिवालिक तक वह किस मार्ग से पहुँचती है। शिमला और सिरमौर में इस तरह की जीवित नदी का नाम तक कोई नहीं जानता है। यदि गढ़वाल की बंदर पूँछ से टोंस निकल रही है तो क्या उसने सरस्वती का उद्‌गम-स्रोत छीन लिया ? यदि ऐसा होता तो द्रोहिणी यह टोंस-तमसा कहलाती, न कि यमुना। यदि टोंस में सरस्वती की ही धारा प्रवाहित है तो यमुना को टोंस में मिलना था, न कि टोंस को यमुना में, जैसी स्थिति आज है। यदि कपाल शिखर की मंग नंग सांगपो और बंदर पूँछ की टोंस-तमसा सरस्वती हैं, तो भारतीय मनीषियों और पुरातन वाङ्मय ने उन्हें उसी रूप में क्यों नहीं अपनाया ? वे आज भी वर्तमान हैं, तब सरस्वती के मर जाने या लुप्त होने की परंपरा क्यों ? जिस प्रकार

tharahkardu.in

मानसरोवर या उसके दाएँ-बाएँ से निकलने वाली सतलुज, सिंधु और ब्रह्मपुत्र को भारत ने अपनाया, उसी प्रकार मंग नंग सांगपो सरस्वती को क्यों नहीं ? शतपथ ब्राह्मण सरीखे ग्रंथ फिर सरस्वती के नष्ट होने की बात क्यों करते ?

इसी तरह यदि माना शिखर से निकली सरस्वती ऋग्वैदिक सरस्वती होती तो उसमें यमुना और सतलुज के मिलन का क्या हुआ ? यों भी माना शिखर की यह नदी अलकनंदा की ही एक धारा है। तो क्या अलकनंदा-गंगा ही सरस्वती है ?

यदि उपर्युक्त ये सभी सरस्वतियाँ ऋग्वैदिक नदी नहीं, तो उसका उद्गम कहाँ था ? इसका विश्वसनीय साक्ष्य केवल उपग्रह ही दे पाएगा, जब वह किसी धूमिल पुरामार्ग का संकेत देगा। हाँ, इसमें कोई संदेह नहीं कि उद्गम और पुरामार्ग उसी क्षेत्र में हो सकते हैं, जो यमुना और सतलुज के बीच हैं, या यों कहें कि यमुना की पश्चिमी सहायक नदियों, रूपण, सूपण, टोंस, पब्बर और गिरी का क्षेत्र अर्थात् पश्चिम में जुब्बल के निकट कुपड़ शिखर (गिरी उद्गम), चंद्रमोहन अथवा चुड़ामुना झील, 13,700 फुट ऊँचाई पर पब्बर नदी का स्रोत, जिसके शिखर की दूसरी ओर किन्नौर की बस्पा उपत्यका है तथा गढ़वाल का हर-की-दून, बंदर पूँछ हिम नदी। खोज जारी है।

उपत्यकाएँ—हिमाचल की मुख्य नदी वस्तुतः व्यास है। लगभग 320 किलोमीटर तक इस प्रदेश में बहने वाली इस नदी ने प्राकृतिक सौंदर्य के अपरिमित भंडारयुक्त दो उपत्यकाओं, काँगड़ा और कुल्लू का सृजन किया है। इस प्रदेश में यों छोटी-मोटी तो अनेक घाटियाँ हैं। जितनी भी सरिताएँ हैं जिन्हें स्थानीय भाषा में 'खड' या 'गाड' कहते हैं, उतनी ही घाटियाँ हैं। साधारणतया किन्हीं दो पर्वतमालाओं अथवा धारों के बीच बहने वाली सरिता के नाम से ही घाटी का नाम जाना जाता है। ढलानदार धार को छोड़कर इस प्रकार की घाटी में समतल भूमि बहुधा कुछ सौ मीटर ही चौड़ी होती है। किंतु काँगड़ा और कुल्लू के समान विस्तृत उपत्यकाएँ और भी हैं। यदि हम पूर्व से पश्चिम की ओर चलें तो पांवटा घाटी, पब्बर घाटी, नालागढ़ का पंजाब और हरियाणा से लगने वाला इलाका, बिलासपुर का गोविंद सागर तटीय भाग, मंडी सुकेत की बल्ह घाटी तथा चंबा घाटी उल्लेखनीय हैं।

वन—वनों की दृष्टि से यह प्रदेश अत्यंत समृद्ध है। भारत के कतिपय सर्वोत्तम वन यहीं पर हैं। इसका लगभग एक-तिहाई क्षेत्रफल वनों से ढका रहता था, जिनमें देवदार, कैल, चीड़, राई, तोश, वान, मोहरु, खेरस, नेउजा और बाँस के वृक्ष प्रमुख हैं। वन-विशेषज्ञों के अनुसार कुल मिलाकर 250 से भी ऊपर वृक्षों की जातियाँ यहाँ प्राप्य हैं। सबसे मूल्यवान वन देवदार के हैं। सहस्राब्दियों से इसकी लकड़ी का प्रयोग होता आ रहा है। मोहनजोदड़ो और हड़प्पा में सिंधु घाटी नामक सभ्यता के अवशेष

Digitised by
Tharah Kardu

खोदने पर मकानों में देवदार की लकड़ी के चिह्न पाए गए हैं, जिससे विदित है कि आज से पाँच हजार वर्ष पूर्व भी हिमाचल की यह लकड़ी भारत के प्रधान नगरों में विशेष आग्रह से स्वीकार की जाती रही है। पश्चिम एशिया तक उस समय हिमाचल की यह लकड़ी निर्यात होती थी, ऐसा पुरातत्त्व खोजों से मालूम हुआ है।

इधर कुछ वर्षों से वृक्षों की एक नई जाति—युक्लेप्टस—के वनों का सृजन करने के प्रयत्न हो रहे हैं। इसकी लकड़ी अनेक उद्योग-धंधों में काम आती है और वन अपेक्षाकृत कम समय में तैयार हो जाते हैं।

जलवायु—भौगोलिक स्थिति के अनुरूप ही यहाँ की जलवायु शीतप्रद है। मोटे तौर पर हम इसे तीन भागों में विभक्त कर सकते हैं। जास्कर पर्वतश्रेणी क्षेत्र में शीत और खुश्क। पीर पंजालिक क्षेत्र में शीतोष्ण और शिवालिक क्षेत्र में तुलनात्मक रूप से अधिक उष्णता लिए हुए। प्रदेश में सुंदर पर्यटन-स्थल मुख्यतः पीर पंजालिक क्षेत्र में ही है।

कृषि—हिमाचल की लगभग 85 प्रतिशत भूमि या तो वनों से आच्छादित है, या बीहड़ निर्जन पहाड़ों से घिरी हुई। अनुमानतः केवल 15 प्रतिशत भूमि ही कृषि योग्य है। इसमें से भी अधिकांश भूमि सीढ़ीदार खेतों के रूप में है, जो कहीं तो केवल मीटर-डेढ़ मीटर चौड़े हैं। समुद्र-तल से ज्यों-ज्यों ऊँचाई बढ़ती जाती है, भूमि कृषि के अनुपयुक्त बनती जाती है। फल यह कि जहाँ उपत्यकाओं की समतल भूमि में वर्ष में दो फसलें—रबी और खरीफ—उगाई जाती हैं, वहाँ धारों के पार्श्व में या उनकी चोटी की ओर केवल रबी की फसल ही संभव है। आठ-नौ हजार फुट से ऊपर तो कृषि संभव भी नहीं। रबी में मुख्यतः गेहूँ, जौ और चना तथा खरीफ में धान, मकई, राजमाह और माश की उपज होती है। प्रति एकड़ उपज मैदानी इलाकों की अपेक्षा कम है, किंतु जहाँ कृषि के वैज्ञानिक साधन अपनाए गए हैं, वहाँ अन्न की उपज में काफी वृद्धि हुई है। यह माना जाता है कि यदि प्रदेश की बड़ी-छोटी सभी उपत्यकाओं में आधुनिक ढंग से उत्पादन किया जाए, तो प्रदेश अन्न में आत्मनिर्भर हो सकता है।

सिंचाई—अभी तक कृषि लगभग संपूर्णतया वर्षा पर निर्भर है। कहीं गाडों से छोटी-छोटी कुहलें (नहरें) निकाली गई हैं। ये कुहलें एक-एक दो-दो गाँव की भूमि को सींचती हैं। सिंचाई की सुविधा प्राप्त खेतों को 'क्यार' या 'रोपा' कहा जाता है। कृषि योग्य सारी जमीन के केवल 8-9 प्रतिशत भाग में ही सिंचाई की व्यवस्था है। यह बात विचित्र है कि हिमाचल नदियों और गाडों का घर है, पर सिंचाई की सुविधा वहाँ नहीं के बराबर है। इस विरोध का कारण यह है कि पहाड़ी क्षेत्र होने के कारण नदियाँ-नाले गहरी घाटी बनाकर बहते हैं, जिससे उनके दोनों किनारे काफी ऊँचे रह

tharahkardu.in

जाते हैं। नीची जलधारा से सिंचाई के साधन आसानी से उपलब्ध नहीं हो सकते हैं।

फल—यहाँ प्राकृतिक स्थिति कृषि तथा खाद्यान्न उत्पादन के लिए भले ही उपयुक्त न हो, फलों के लिए वह सर्वथा अनुकूल है। फल भी विविध प्रकार के प्रचुर मात्रा में होते हैं, जिनमें सेब, आम, आड़ू, नासपाती, आलूबुखारा, चेरी, अंगूर तथा चिलगोजा प्रमुख हैं। इधर बादाम का उत्पादन भी हो रहा है। और भी अनेक प्रकार के फलों की बागबानी शुरू हो रही है, जिससे देश की परिवर्तित माँग की पूर्ति की जा सके। जहाँ यातायात की समुचित सुविधा है, वहाँ अब विविध प्रकार की प्रजाति के फूलों को भी उगाया जा रहा है, जिससे वे देश के बड़े नगरों में आसानी से पहुँच सकें। सड़कों के साथ लगे क्षेत्रों में फूलों की काश्त दिनोदिन बढ़ती जा रही है।

उन्नीसवीं शताब्दी तक फलोत्पादन को एक स्वतंत्र व्यवसाय नहीं समझा जाता था। राजाओं के उद्यानों को छोड़ अन्यत्र सामान्यतः जंगली फल ही प्राप्य थे। हाँ, प्रदेश के निचले भागों में आम के उद्यान थे। ऊँचाई पर आड़ू, खुमानी, बेमी, चूली अथवा शाड़ी आदि ही उपलब्ध होते थे।

उन्नीसवीं सदी के अंतिम चरण में ईसाई धर्म-प्रचारकों ने सर्वप्रथम सेब के बाग लगाने का श्रीगणेश किया। ऊँचाई तथा जलवायु इस फल के अनुकूल सिद्ध हुए और प्रयोग सफल हुआ। आज प्रदेश के एक छोर से दूसरे छोर तक 5,000 फुट से 8,000 फुट की ऊँचाई के बीच सेब के उद्यानों की एक अटूट शृंखला दीख पड़ती है।

आलू—सेबोत्पादन के कारण या उससे स्वतंत्र एक नए व्यवसाय ने जन्म लिया है—वह है आलू की खेती। ऊँचाई के खेतों में, जहाँ अन्न की केवल एक फसल ही संभव है, अब आलू की सघन खेती हो रही है। मुख्य उपज बीज के आलू की है। यह व्यवसाय जमींदारों अथवा कृषकों के लिए अर्थकारी सिद्ध हुआ है और उनकी प्रति व्यक्ति आय में महत्त्वपूर्ण वृद्धि लाया है।

सेब और आलू तथा अन्य विविध फलों-फूलों के प्रचार-प्रसार से अनादिकाल से चले आए कृषि विधान में आमूलचूल परिवर्तन हुआ है।

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि इस प्रदेश की भौगोलिक स्थिति ही इसकी आर्थिक समृद्धि की अनेक संभावनाएँ उपस्थित करती है। उपत्यकाओं में अन्नोत्पादन, 4,000 फुट से 8,000 फुट तक फलोद्यान और आलू की खेती, उसके ऊपर आयकारी वनों का विस्तृत साम्राज्य, जिनके ऊपर गगनचुंबी हिम धवल पर्वत-शृंखलाएँ जो शीतल, स्वच्छ, विपुल जल की चिरंतन स्रोत हैं।

आकार—यद्यपि प्रकृति-प्रदत्त ये उपकरण तो अनादिकाल से हैं, पर हिमाचल प्रदेश का वर्तमान स्वरूप तो कुछ दशकों की ही बात है। हिमाचल प्रदेश के वर्तमान भौगोलिक आकार की प्रथम रूपरेखा 15 अप्रैल, 1948 को स्पष्ट उभरी, जब 30

Digitised by
Tharah Kardu

पहाड़ी रियासतों का विलयन कर एक नवीन राज्य का निर्माण हुआ। ये रियासतें थीं–चंबा, मंडी, सुकेत और सिरमौर तथा शिमला के 26 पहाड़ी राज्य। इन राज्यों के नाम इस प्रकार हैं–रामपुर बुशैहर, देलठ, ढाडी, कुम्हारसैन, सांगरी, खनेटी, दरकोटी, जुब्बल, रावींगढ़, थरोच, बलसन, घूँड, रतेश, ठ्योग, मधान, कोटी, क्योंथल, भज्जी, धामी, कुनिहार, अर्की (बाघल), सोलन (बघाट), महलोग, मांगल, कुठार और बेजा। इनमें क्षेत्रफल की दृष्टि से सबसे बड़ी रियासत रामपुर बुशैहर थी, जनसंख्या की दृष्टि से मंडी। रतेश क्षेत्रफल में और जनसंख्या में ढाडी सबसे छोटी रियासत थी। रतेश का क्षेत्रफल केवल दो वर्गमील था और विलय के समय ढाडी की जनसंख्या 282 थी।

छह वर्ष उपरांत एक अन्य रियासत, बिलासपुर को हिमाचल प्रदेश में सम्मिलित किया गया, तब भी यह प्रदेश सुसंगठित इकाई नहीं बन पाया था। चंबा जैसे कुछ भाग अन्य भागों से कटे रह गए थे। यह भौगोलिक विच्छिन्नता 1 नवंबर, 1966 को दूर हुई, जब पंजाब राज्य के पुनर्गठन के परिणामस्वरूप काँगड़ा, कुल्लू, लाहुल-स्पिति तथा शिमला के जिले और ऊना, नालागढ़ आदि अर्धपर्वतीय इलाकों का हिमाचल प्रदेश में विलयन किया गया था।

tharahkardu.in

द्वितीय अध्याय

ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य

प्राचीनता—वस्तुतः हिमाचल प्रदेश बहुत पुराना है। वैज्ञानिकों की भाषा में मध्य उषाकालीन युग के अंतिम दस लाख वर्ष पूर्व हिमालय का जन्म हुआ। मानवशास्त्रियों द्वारा की गई आधुनिक खोज ने यह सिद्ध कर दिया है कि आज से लाखों वर्ष पूर्व यहाँ पर मानव रहता चला आया है।

यही नहीं, भूगर्भशास्त्रियों के अनुसार हिमालय-जन्म की प्रसव-पीड़ा भी इसी के स्पिति-लद्दाख क्षेत्र में शुरू हुई थी, जब छह करोड़ वर्ष पूर्व भारत महाद्वीप पहली बार एशिया महाद्वीप से टकराया था और उसकी पाषाण चद्दर टकराहट की भीषणता से ऊपर को मुड़ गई थी। भारत और एशिया के बीच का समुद्र पीछे हटता गया और स्पिति में पहुँचकर सदा के लिए लुप्त हो गया। स्पिति उसी समुद्र का तल है। प्रमाणस्वरूप लोकसर की चट्टानें अपने वक्ष पर समुद्री लहरों की चोट के निशान आज भी सुरक्षित रखे हैं और स्पिति नदी में चट्टानों में फँसे समुद्री जीव-जंतुओं के पत्थर बने अस्थिपंजर बहुत बड़ी संख्या में उपलब्ध हैं। स्पिति को देखने से ऐसा लगता है, मानो किसी हनुमान ने समुद्र-तल को हाथ के ऊपर उठाकर यहाँ बिठा दिया हो।

उधर रामपुर के आसपास का शैल, इन भूगर्भवेत्ताओं के मत से लगभग एक अरब अस्सी करोड़ वर्ष पुराना है, जो कभी पृथ्वी के गर्भ के भीतर 20 किलोमीटर नीचे था। वे लोग इन चट्टानों को पृथ्वी के गर्भ के भीतर झाँकने की खिड़की मानते हैं, जिससे उसके रहस्यों का ज्ञान हो सके। बेचारा शिवालिक तो मात्र बीस लाख वर्षों पहले गंगा के मैदान जैसा था। यह भारत-एशिया के सेतु का काम देती इंडो-ब्रह्म नदी का तल था।

हिमालय एक साथ इतनी ऊँचाई नहीं पाया। उसमें लाखों-करोड़ों वर्ष लगे। वह कभी बहुत धीरे-धीरे, तो कभी तेज झटकों से ऊपर उठता गया। कहा जाता है कि हिमाचल के बीच से गुजरती पीरपंजाल पर्वतमाला कुछ हजार वर्ष हुए जब एक ही झटके से दो हजार मीटर ऊँची हो गई थी तब इस क्षेत्र की जलवायु शीतोष्ण थी।

इसीलिए कहा जाता है कि हिमालयी आदिमानव ने अपनी आँखों से हिमालय को बढ़ते देखा है। इसके कतिपय प्रमाण हैं, लद्दाख से मिली दरयाई घोड़े की खोपड़ी

Digitised by
Tharah Kardu

और स्पिति से प्राप्त सीपियाँ। दरयाई घोड़ा गर्म दलदल का जीव है, वह लद्दाख की वर्तमान ऊँचाई पर न पैदा हो सकता है, न जी ही सकता है, अतः वह तब का जंतु था जब लद्दाख का यह भाग संभवतः शिवालिकीय क्षेत्र था।

इसके अतिरिक्त भूगर्भशास्त्रियों को लद्दाख में ही पाषाणयुगीन मनुष्य द्वारा जलाई गई लकड़ी के कोयले मिले हैं और पास ही ऐसी गुफा, जहाँ शायद वह रहा करता था।

पंजाब विश्वविद्यालय द्वारा आयोजित एक खोज-दल ने बिलासपुर से तीस मील पश्चिम में हरितल्यानगढ़ के निकट एक पशु जबड़ा प्राप्त किया है। प्रारंभिक अनुमान के अनुसार यह जबड़ा आज से लगभग 80 लाख वर्ष पुराना है। इस जबड़े में दाँत सुरक्षित हैं। इसी विश्वविद्यालय के एक अन्य दल को उपर्युक्त स्थल के समीप कुछ और अस्थिपंजर प्राप्त हुए हैं। पुरातत्त्ववेत्ताओं के अनुसार ये अस्थिपंजर उस काल के हैं जब मानव धीरे-धीरे अपने वर्तमान स्वरूप और आकार की ओर विकसित हो रहा था।

यद्यपि अभी तक कोई अति प्राचीन समूचा मानव अस्थिपंजर प्राप्त नहीं हुआ है, किंतु ऐसे अनेक प्रमाण मिले हैं, जिनसे यह सिद्ध होता है कि आदिमानव ने शिवालिक और हिमालय की इस भूमि में भी जीवन व्यतीत किया था।

काँगड़ा की व्यास उपत्यका में ऐसे स्थलों का पता चला है जहाँ आदिमानव द्वारा प्रयुक्त पाषाण शस्त्र उपलब्ध हैं। इस प्रकार के अवशेष व्यास तटवर्ती देहरा और बाणगंगा के किनारे स्थित गुलेर में मिले हैं। इन दोनों स्थलों पर पत्थर की कुल्हाड़ी, लकड़ी काटने के औजार तथा अन्य पत्थर के शस्त्र मिले हैं। पाषाणयुगीन इन शस्त्रों को 'सोहान' शस्त्रों की कोटि का माना जाता है।

उधर थोड़ा पूर्व में नालागढ़ में सिरसा नदी के किनारे रंगीन पत्थरों के औजार उपलब्ध हुए हैं, जो मुख्यतः नदी तट के मजबूत, कठोर, गोल पत्थरों के बने हैं। पास ही, रोपड़ के स्थान पर नवपाषाणयुगीन अवशेष मिले हैं।

इनके अतिरिक्त उत्तर-पाषाणकालीन लगभग 500 अन्य औजार काँगड़ा क्षेत्र से मिले हैं। इससे विदित होता है कि मानव-विकास के लंबे इतिहास में इस क्षेत्र ने महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है। छह हजार वर्ष पूर्व से छह लाख वर्ष पूर्व के इस दीर्घकाल में मानव किस स्थिति से गुजरा, जीवनयापन के उसने कौन-से साधन अपनाए, विकास की किन-किन मंजिलों को उसने पार किया, आज केवल अनुमान का विषय रह गया है। पर इधर के छह सहस्र वर्षों के हिमाचली मानव का इतिहास अब काफी स्पष्ट हो गया है। 'स्पष्ट' शब्द तुलनात्मक है, अभिप्राय यह है कि इस क्षेत्र के ईसा पूर्व इतिहास को यहाँ की भौगोलिक स्थिति को देखकर जिस प्रकार

tharahkardu.in

एक-दो वाक्यों में ही समाप्त किया जाता रहा है, उससे आगे बहुत प्रगति हो गई है। नई खोजों के परिणाम सामने आए हैं, जिन्होंने अतीत पर छाई गहन धुंध को हटाने के लिए सूर्य की प्रखर किरणों का काम किया है।

हिमालय भारत के कण-कण में व्याप्त है; भारतीय चिंतन हिमालय से ओतप्रोत है; धर्म हिमालय से निःसृत है; किंतु यह विधि-विडंबना है कि स्वयं यह हिमालय भारतीयों के लिए कुछ-कुछ अपरिचित-सा, मूक, निर्लिप्त, पृथक् रहा है। हिमालय ने देश के लिए जो कुछ दिया, उसे हमने स्वीकार किया, किंतु उसके अपने वक्ष में क्या है, इसे जानने का हमने अधिक प्रयत्न नहीं किया। प्रतीत होता है कि हमारी दृष्टि सदैव मैदानी भागों की ओर रही। यहाँ तक कि हिमालय की गिरि-गुफाओं, कंदराओं और वनस्थलों में बैठते हुए भी हमारा ध्यान सिंधु-गांगेय क्षेत्र पर ही केंद्रित रहा। अतः यह स्वाभाविक था कि हिमालय का यह सुविस्तृत भूखंड मनीषियों और इतिहासज्ञों का ध्यान समुचित मात्रा में आकृष्ट नहीं कर पाया है। इसे सीमावर्ती क्षेत्र कहकर नकार दिया गया।

अब जब इस ओर ध्यान जाना आरंभ हुआ है, यह तथ्य साफ उभरकर सामने आ रहा है कि भारतीय इतिहास के लुप्त तंतु यदि कहीं प्राप्त हो सकते हैं तो केवल इसी पहाड़ी क्षेत्र में। इस पर्वत की शृंखलाओं और तद्जनित उपत्यकाओं में भूगर्भशास्त्रियों, मानवशास्त्रियों, संस्कृति के प्रेमियों, इतिहासकारों और धर्म-अन्वेषकों के लिए प्रचुर सामग्री है। यह स्वाभाविक भी है। इसमें कुछ ऐसा है जो अन्यत्र कहीं नहीं।

वास्तव में हिमाचल सब उपकरणों से सुसज्जित एक ऐसी प्रयोगशाला है, जिसे वैज्ञानिकों ने केवल बाहर से झाँककर देखा है। जब हम जिज्ञासुवृत्ति से भीतर प्रविष्ट होंगे, तो हमें सहज ही वह सामग्री उपलब्ध होगी, जिसके आधार पर ही भारत के एक सुनिश्चित, सुगठित तथा तथ्यपूर्ण इतिहास की रचना हो सकेगी। देश के अन्य भागों में उथल-पुथल रही। जाति, सभ्यता और संस्कृति के क्षेत्र में क्रांतियाँ आईं। सिंधु और गांगेय प्रदेश का इतिहास तो संघर्ष की ही एक लंबी कहानी है, जिसमें अनेक पात्र आए, बदले, मिटे और पुनर्जीवित हुए। घटनाओं का क्रम इतना तीव्र रहा कि इनके आयाम को समझ पाना कठिन हो गया। दक्षिणी भारत परिवर्तन के इन थपेड़ों से अपेक्षाकृत सुरक्षित रहा। इसका परिणाम यह हुआ कि देश के उत्तरतम भाग—हिमाचल प्रदेश और दक्षिणतम भाग—तमिलनाडु और केरल में—आज भी जनजीवन में मौलिक रूप से समानता है। लगता है कि उत्तर-दक्षिण का सामान्य व्यक्ति किसी एक ही पूर्वज की संतान है।

देखना यह है कि वह पूर्वज कौन था ? कुछ विद्वान् यह मानते हैं कि भारत

Digitised by
Tharah Kardu

में अपनी भूमि से जन्मा कोई आदिमानव है ही नहीं। यहाँ जो भी लोग हैं, उनके पूर्वज बाहर से ही आए हैं। आने की दिशा पूर्वोत्तर एवं पश्चिमोत्तर दर्शाई गई। प्रवेश-द्वार मुख्यतः पश्चिम की ओर था, विशेषतः हिंदुकुश-पामीर क्षेत्र से। यह भी आभास दिया गया कि भारत से बहिर्गमन नहीं हुआ। किंतु यह कैसा विचित्र द्वार है जो केवल एक ओर ही खुलता है, भीतर के लिए। बाहर के लिए नहीं।

एक मानव-विज्ञानवेत्ता के अनुसार इस प्रकार की छह जातियाँ इस देश में आईं, जिनमें निषाद, द्रविड़, किरात और आर्य प्रमुख थीं। सर्वप्रथम आने वाली जाति निग्रोइड मानी जाती है। कहते हैं, इस निग्रो जाति के पूर्वज अफ्रीका से अरब और ईरान होते हुए यहाँ पहुँचे। आरंभ में यह जाति भारत के दक्षिणी और पश्चिमी भागों में बसी, किंतु धीरे-धीरे उत्तर-पूर्वी भागों तक जा पहुँची। इस जाति का कोई विशिष्ट चिह्न अब प्राप्त नहीं होता है।

निग्रो के पश्चात् निषाद जाति का आगमन माना जाता है। इस जाति के अंतर्गत कोल-भील आदि उपजातियों की गणना होती है। इस जाति के लोग दरम्याना कद के थे, रंग उनका काला और नाक चपटी, सिर लंबोतरा और शरीर पर बाल थे।

हिमालय के दक्षिणी पठार पर उत्तर की ओर से एक और जाति आई, जिसे संस्कृत साहित्य में किरात कहा जाता है। संभवतः इसी बीच पश्चिम से इस देश में एक दूसरी जाति ने प्रवेश किया। यह जाति अनुमानतः ईसा से लगभग 5,500 वर्ष पूर्व आई, इसे द्रविड़ कहते हैं। द्रविड़ों में आदि-भूमध्यसागरीय, अंत-भूमध्यसागरीय, पौर्वात्य तथा आर्मेनोइड समूहों का बाहुल्य था। इनमें भी पूर्वी भूमध्यसागरीय लोगों का आधिक्य था। आज की द्रविड़ भाषाएँ संभवतः इन्हीं लोगों की देन हैं।

कई विद्वानों का कहना है कि भारत में सबसे पूर्व द्रविड़ों ने ही बड़े नगरों का निर्माण किया। इसका उदाहरण वे मोहनजोदड़ो और हड़प्पा के नगरों को मानते हैं। इसके अतिरिक्त सभ्यता का समारंभ करने वाले भी यही लोग कहे जाते हैं। यह भी माना जाता है कि ईसा से 1,500 वर्ष पूर्व जब तथाकथित आर्यों का भारत में आगमन हुआ, तो उन्हें एक समुन्नत संस्कृति मिली थी।

पश्चिमी द्वार से प्रविष्ट होने के कारण ये द्रविड़ पहले तो सिंध और पंजाब में आ बसे, जहाँ उन्होंने बड़े-बड़े नगर बसाए, जिनमें ईंटों के बने इकमंजिला, दो मंजिला मकान थे। इन मकानों के बीच पत्थरों से बनी गलियाँ होती थीं और वर्षा के जल अथवा गंदे पानी की निकासी के लिए भूमि के नीचे नालियाँ बनी होती थीं।

कालांतर में ये द्रविड़ देश के दक्षिणी और पश्चिमी भागों की ओर बढ़े और उत्तर में गांगेय प्रदेश में भी छा गए। प्रतीत होता है कि तब तक उन्होंने निषादों पर राजनीतिक और सांस्कृतिक प्रभुत्व स्थापित कर लिया था।

tharahkardu.in

कहा जाता है कि भारत की प्राचीन संस्कृति का स्वरूप बहुत कुछ द्रविड़ हैं। कई विद्वान् तो यह भी मानते हैं कि बाद में आने वाले आर्यों ने द्रविड़ों की जीवन-पद्धति को ही अपनाया है। समाज का वर्ण-व्यवस्था के आधार पर संगठन इन द्रविड़ों के मस्तिष्क की ही उपज थी। आध्यात्मिक और धार्मिक क्षेत्रों में भी द्रविड़ों का अत्यधिक योगदान है। योग-पद्धति के जन्मदाता द्रविड़ स्वीकार किए जाते हैं। यहाँ तक कि शिव और उमा तथा विष्णु और श्री (लक्ष्मी) की परिकल्पना भी इनकी बुद्धि का फल माना जाता है। कहते हैं कि देव-पूजा के लिए आज जिस जल, पुष्प और पत्र के प्रयोग का विधान है, वह भी इन लोगों के कारण है।

भारत के प्रमुख अन्न, गेहूँ की खेती का प्रचलन भी इसी जाति के लोगों ने किया बताया जाता है। इन्हें विविध कलाओं और शिल्पों का ज्ञान था।

द्रविड़ अपनी शक्ति सुदृढ़ कर ही रहे थे कि एक दूसरी जाति भारत में आ धमकी। नए आने वाले लोग आर्य थे। ये कौन थे और कहाँ से आए, इस पर विद्वानों में बड़ा मतभेद रहा है। मोटे तौर पर इन मतों को चार भागों में बाँटा जा सकता है।

विद्वानों का एक वर्ग यह मानता है कि ये लोग उत्तरी ध्रुव के मूल निवासी थे। दूसरा वर्ग उन्हें ईरान के रहने वाले मानता है। तीसरे वर्ग का कथन है कि आर्य वस्तुतः भारत के अपने लोग थे और इनका जन्म सप्तसिंधु प्रदेश में हुआ था। इनसे भिन्न चौथा मत यह है कि आर्यों की आरंभिक जन्मभूमि मध्य एशिया अथवा दक्षिण रूस थी। इन सब मतों के पक्ष में विविध तथ्य प्रस्तुत किए गए। सच्चाई क्या है, यह हम आगे देखेंगे। जो भी हो, भारत में वैदिक संस्कृति और सभ्यता के निर्माता इन्हीं आर्यों को माना जाता है।

पूर्ण विश्वास के साथ यह भी कहा जाता रहा कि हिमाचल प्रदेश में भी विभिन्न जातियों के आने-जाने का क्रम कुछ इसी प्रकार रहा है। और आज का हिमाचली मानव अनेक जातियों का मिश्रण है। ये जातियाँ हैं—नाग, कोल, किन्नर, किरात, खश, आर्य, शक, हूण तथा गुर्जर। इनमें से नाग, कोल, किन्नर और किरात अपने पृथक् रूप में प्रायः लुप्त हो गई हैं। खश और आर्य विशुद्ध जातीय तत्त्वों के साथ आज भी वर्तमान हैं। शक, हूण तथा गुर्जर आर्यों और खशों में अंतर्भुक्त हो गए हैं।

सामान्यतः इन जातियों को दो भागों में बाँटा गया है—प्रागैतिहासिक जातियाँ तथा ऐतिहासिक जातियाँ। प्रश्न उठा कि ऐतिहासिक काल की सीमा कौन-सी मानी जाए, जिससे यह भेद सुगमता से हो सके। सुविधा के लिए भारत में आर्यों के आगमन से ही ऐतिहासिक रेखा खींची गई। इस आधार पर हिमाचल की नाग, कोल, किन्नर और किरात तथा खश जातियाँ प्रागैतिहासिक या प्रागार्य ठहराई गईं।

प्राचीनतम जातियाँ—पूर्व इतिहासकाल में सबसे पहले इस प्रदेश में कौन-सी

Digitised by Tharah Kardu

जाति रहती थी, इस संबंध में इन विद्वानों ने कोई सुनिश्चित प्रमाण उपलब्ध नहीं कराए। क्या वे कोल, किन्नर अथवा किरात थे या नाग ? क्या शिवालिक के आसपास ही कहीं आदिमानव विकसित हुआ और यदि हुआ तो उसके वंशज कौन थे ? क्या निषादों की उपजाति कोल बाहर से आई थी या यहीं उत्पन्न हुई आदिम जातियों की संतान थी ? यदि कोल बाहर से आए, तो किरात तो थे ही विदेशी। उनका मूल स्थान मंगोलिया था। किन्नरों का किरातों के साथ क्या संबंध था ? क्या वे भी स्वदेशी थे या विदेशी ? क्या वे किरातों के ही सजातीय बंधु थे ? क्या किन्नर, किरात और यक्ष एक ही जाति की उपजातियाँ थीं ? नागों से वे किस बात में भिन्न थे ? क्या नाग भी उनमें से एक थे ? इस प्रकार के कुछ प्रश्न हैं, जिनका हल ढूँढ़ना था। यह हल हमें किसी पुस्तक से प्राप्त नहीं होगा, क्योंकि इस प्रकार की पुस्तकें हैं ही नहीं। न ही पुरातन अवशेष इसमें हमारी अधिक सहायता कर सकते हैं। इन प्रश्नों का उत्तर हमें मुख्यतः हिमाचल के अपने जीवन से ही प्राप्त हो सकता है। यहाँ की संस्कृति, परंपरा और लोकवाणी इसमें हम री विशेष सहायक सिद्ध हो सकती हैं। अतः इन जातियों के इतिहास की रूपरेखा निर्धारित करने के लिए हमें ऐसी ही सामग्री का उपयोग करना होगा। इस दिशा में पिछले दो-तीन दशकों में हुए गंभीर व मौलिक अनुसंधानों के परिणाम हम आगे देखेंगे। फिलहाल विवेचन की पृष्ठभूमि बनाए रखने के लिए पुरानी चली आई परिपाटी की बात जारी रखेंगे।

कोल (कोली)—अधिकतर इतिहासकार कोलों को निषादों अथवा प्रोटो-आस्ट्रेलायड की एक उपजाति कहते हैं। यह लोग आज से छह-साढ़े छह हजार वर्ष पूर्व सारे पश्चिमी हिमालय में फैले बताए जाते हैं। कृषि और पशुपालन इनका मुख्य व्यवसाय था। ये झुंड बनाकर रहते थे। शिल्प से भी इनका परिचय था।

हिमाचल प्रदेश की जनसंख्या का एक विशेष वर्ग कोली कहलाता है। अनुमान लगाया गया कि ये कोली इन्हीं प्रागैतिहासिक कोलों की संतति हैं। कहा गया कि इस प्रदेश के कोली, हाली, डागी और डोम इन प्राचीन जातियों से किसी न किसी रूप में संबंधित हैं। कुछ विद्वानों का मानना है कि शम्बर कोली ही था, और ऋग्वेद में उसे कौलितर कहा गया है। उक्त वेद के अनुसार भरतों के राजा दिवोदास के लिए इंद्र ने उसकी हत्या कर दी थी। 'ऐंटिक्वीटीज ऑफ इंडियन तिब्बत' में ए०एन० फ्रेंक का कहना है कि निरमंड के कोली वहाँ के प्राचीनतम निवासी हैं, जिनका सीधा संबंध आस्ट्रेलायड कोल आबादी से है।

किंतु ये दोनों दावे निर्मूल हैं। कौलितर शम्बर किसी आस्ट्रेलायड कोली का पुत्र नहीं था। वह वृत्र की तरह दास-दानव था। दानव दनु की संतान थे। तब संतति माता के नाम से जानी-पहचानी जाती थी, जैसे अदिति का पुत्र आदित्य (इंद्र और

tharahkardu.in

सूर्य)। दूसरे निरमंड के कोली वहाँ के प्राचीन निवासी हैं, इसमें संदेह नहीं, किंतु वे भी आस्ट्रेलायड नहीं है, अपितु उस वर्ग से हैं, जो ऋग्वैदिक वृत्र के समर्थक थे और नागों की पंक्ति में बैठने वाले लोग थे। बहुत समय तक वे संभवतः 'अंदर' के लोग थे। क्योंकि तब अंदर-बाहर का भेद शुरू नहीं हुआ था।

सिरमौर में भी कोलियों के दो वर्ग हैं, अंदर के कोली और बाहर के कोली। अंदर के कोली सवर्णों की श्रेणी के निकट हैं। इसी प्रकार पालमपुर तहसील के कोली अपने आपको प्रदेश के अन्य कोलियों से ऊँचा मानते हैं। उनकी गिनती सामान्यतः सवर्ण हिंदुओं के साथ होती है। यों भी हिमालय के कोलियों तथा अन्य जातियों के नाक-नक्श में कोई अंतर नहीं है, अतः रूप-रंग के आधार पर इन्हें बाँटना गलत होगा। आज से 2500 वर्ष पूर्व इन्हें क्षत्रियों के साथ गिना जाता था, और इस नाते इन्होंने भगवान् बुद्ध की भस्मी पर अपना हक जताया था, कि "भगवान् हमारे भी नाती हैं।"

किरात—यह मंगोल आकृति की जाति है, इसे तिब्बत के मार्ग से भारत में आया हुआ माना जाता है। भारतीय तथा पाश्चात्य विद्वान् किरातों को तिब्बती-बर्मी (तिब्बत-बर्मन) शब्द का पर्याय मानते हैं। इनके अनुसार किरात द्रविड़ों और आर्यों के पश्चात् भारत में आए थे। मुख्य रूप से ये पूर्वी तथा मध्य हिमालय में रहे। सिक्किम से पूर्व का समस्त हिमालय-खंड इन किरात जातियों से भरा हुआ है, यहाँ तक कि बंगाल, आसाम, नागालैंड, मणिपुर और त्रिपुरा की वर्तमान सभी जातियों में काफी किरात रक्त है।

हिमाचल प्रदेश में इस जाति के अवशेष नहीं के बराबर हैं। बहुत बारीकी से खींचातानी कर देखने पर केवल सिरमौर के पूर्वी छोर, शिमला के उत्तरकाशी के साथ लगने वाले इलाके तथा किन्नौर के पूर्वी-दक्षिणी किनारों में किरातों का कुछ प्रभाव लक्षित होता है।

यों भारतीय साहित्य में इस जाति का उल्लेख वेदों से चला आया है। यजुर्वेद और अथर्ववेद में इन्हें पर्वत की कंदराओं, गुफाओं में रहने वाला कहा गया है। महाभारत और पुराणों में इन्हें हिमालय का निवासी माना गया है। मनुस्मृति और राजतरंगिणी तक आते-आते ये लोग चांडालों की पंक्ति में बिठा दिए गए थे।

किरात मुख्यतः पूर्वी हिमालय के पठार में रहे, अतः कुछ विद्वानों का यह मत भ्रांतिपूर्ण है कि वैदिक आर्यों का संघर्ष पश्चिमी हिमालय के जिस पर्वतीय नेता शम्बर से हुआ था, वह किरात था। आगे चलकर हम देखेंगे कि यह संघर्ष पश्चिमी हिमालय और शिवालिक के उस क्षेत्र में हुआ, जहाँ किरातों का अभाव था।

यक्ष—किरातों के साथ-साथ प्रायः दो नाम और आते हैं। ये हैं यक्ष और

Digitised by Tharah Kardu

किन्नर। ये सब जातियाँ हिमालय-निवासिनी थीं। यक्षों की आदिम बस्ती भारत के उत्तर में 'अलकापुरी' मानी जाती है। यह अलकापुरी संभवतः गढ़वाल-कुमाऊँ क्षेत्र में थी। वैदिक साहित्य में यक्षों के लिए 'ब्रह्म' शब्द का प्रयोग हुआ है और परवर्ती साहित्य में उन्हें 'वीर' कहा गया है। कुछ लोगों का मत है कि जैन धर्म के अंतिम तीर्थंकर संभवतः यक्ष ही थे। यमुना उपत्यका के डोडरा क्वार का क्वार झख देवता संभवतः यक्ष ही थे।

यक्षों को उत्तर-पश्चिम में पामीर क्षेत्र का निवासी भी माना जाता है और पामीर से निकलने वाली बड़ी नदी, यक्षु, का नामकरण इन्हीं यक्षों पर हुआ कहा जाता है। वैदिक तथा संस्कृत साहित्य में गंधर्वों, नागों, किन्नरों के साथ इनका नाम प्रायः आता रहता है। कुछ विद्वानों का कहना है कि ऋग्वेद की रचना इसी यक्षु नदी के किनारे हुई थी।

किन्नर—जहाँ तक हिमाचल का संबंध है, वहाँ इन जातित्रय में से केवल किन्नर ही विवेचनीय है। देश में केवल हिमाचल ही ऐसा भाग है, जिसका एक क्षेत्र आज भी इस जाति के नाम से जाना जाता है। यह है किन्नर प्रदेश अथवा किन्नौर। किन्नौर नें किन्नरों का वास था और है। इसके अतिरिक्त लद्दाख, स्पिति-लाहूल और गढ़वाल के कुछ क्षेत्र भी किन्नर प्रदेश के अंतर्गत लिए जा सकते हैं। इस प्रकार हिमाचल का संपूर्ण उत्तरी भाग किन्नरों का देश है।

अब प्रश्न यह है कि ये किन्नर थे कौन ? क्या वे यहाँ की आदिम जाति से थे अथवा यक्ष-किरातों के सजातीय बंधु थे ? क्या वे निषादों के अवशिष्ट तत्त्व थे या आर्यों के समान ही बाहर से आए लोग ? नागों के साथ इनका क्या संबंध था ? विद्वानों ने इन प्रश्नों के भिन्न-भिन्न उत्तर दिए हैं। किन्नरों की वर्तमान आकृति को देखकर अनेक मानव-विज्ञानशास्त्रियों ने यह परिणाम निकाला है कि किन्नर वस्तुतः किरातवंशीय हैं। पर वे यह भूल गए कि सातवीं से दसवीं शताब्दी ईसवी के बीच यह क्षेत्र तिब्बत के अधिकार में रहा, जब सोची-बूझी योजना के अंतर्गत यहाँ की जनता की नसल बदलकर उसका भोटीकरण किया गया था। इस प्रकार आज के किन्नर प्रदेशवासी में आदिम किन्नरों के रक्त का कितना अंश शेष बचा है, यह विचारणीय विषय है। यदि किन्नरों की वर्तमान आकृति बाद के सम्मिश्रण का परिणाम है, तो उस आधार पर स्वयं किन्नरों का जाति-निर्धारण उचित नहीं होगा। प्राचीन परंपरा में जब भी किन्हीं पहाड़ी क्षेत्रों का विवरण आया है, उसमें वहाँ के निवासियों के रूप में नागों, किन्नरों, गंधर्वों, यक्षों, विद्याधरों और यदा-कदा दानवों को ही गिनाया गया है।

किन्नर चाहे जो भी रहे हों, यह निश्चित है कि उनका स्वभाव एकदम साधुवृत्ति

mardhkardu.in

का था। वे शांतिप्रिय थे। किरातों की अपेक्षा अधिक सुसंस्कृत और सभ्य भी। किन्नर कलाप्रेमी और शिल्पी थे। कहा जा सकता है कि अपने कंठ के अनुरूप उनका स्वभाव भी मधुर था। संभवतः यही कारण है कि जहाँ कालिदास इनके कंठ की प्रशंसा करते नहीं थकता, वहाँ कुछ अन्य ग्रंथों में इन्हें 'किम्पुरुष' भी कहा गया है। युद्धाक्रांत उस युग में शांतिप्रेम संभवतः कायरता, नपुंसकता ही लगा हो।

नाग—नाग प्राचीन साहित्य की बहुचर्चित जाति है। वेदों से लेकर पुराणों तक, गाथाओं-परंपराओं से लेकर समुद्रगुप्त की प्रशस्ति तथा अभिलेखों तक, बौद्ध, ब्राह्मण तथा जैन साहित्य से लेकर लोक-साहित्य तक इस जाति का उल्लेख है। यह जाति लोक नाट्य में अभिनीत होती है, लोक कला में चित्रित होती है। संभवतः यह विश्व की उन अकेली-दुकेली जातियों में से है जो अपने भौतिक स्वरूप के साथ-साथ दैवी रूप भी धारण कर गई है। नाग जाति साकार भी रही, निराकार भी बनी। मनुष्य भी रही और देवत्व भी पा गई।

किसी समय नाग सारे भारतवर्ष में बसते थे। कश्मीर से लेकर कन्याकुमारी तथा पंजाब से लेकर आसाम तक समूचा प्रायद्वीप उनके अधिकार-क्षेत्र में था। उत्तर में किन्नौर के कोठी ग्राम में उनके स्मृति-चिह्न हैं। उधर दक्षिण भारत के पूर्वी तट पर नेगपटम् और पश्चिमी तट पर नगरकोइल आज भी अपने प्राचीन निवासी नागों का नाम लिए हुए हैं। नर्मदा क्षेत्र में भी नागों के होने का उल्लेख है। इतना ही नहीं, लंका के महावंश में भी उनका उल्लेख मिलता है। श्री एस०वी० वेंकटेश्वर दक्षिण भारत के मडावार लोगों को नाग मानते हैं।

ऋक्, यजु और अथर्व, तीनों वेद नागों का विवरण देते हैं। ऋग्वेद में नागों के एक नेता अदृणक का उल्लेख है। अदृणक को कृष्ण के समान ही इंद्र का विरोधी बताया गया है। इंद्र-विरोधी एक अन्य नाग का भी जिकर है, जिसके संबंध में आगे बताएँगे। अथर्ववेद नागों को 'देवजन' कहता है और उनकी गणना गंधर्व, अप्सरा, देव, यक्ष और पितरों के साथ करता है।

महाभारत और बौद्ध-साहित्य तो नागों के वर्णन से भरे पड़े हैं। महाभारत में खांडवदाह, जनमेजय का नाग यज्ञ, कर्ण-अर्जुन युद्ध आदि अनेक आख्यान हैं, जिनमें नागों का वर्णन है।

'विनय-पिटक' की एक कथा के अनुसार महात्मा बुद्ध ने नागों को संघ के अनुशासन और भिक्षु जीवन के अनुपयुक्त ठहराया था। एक अन्य बौद्ध कथा के अनुसार मुनलिन्द नामक नाग ने नवजात गौतम बुद्ध पर छाया कर धूप और वर्षा से उनकी रक्षा की थी। इससे पूर्व नंद और उपनंद नामक दो नागों ने गौतम के प्रसव में सहायता की थी।

Digitised by
Tharah Kardu

जैन-सूत्रों के अनुसार सुपार्श्व और पार्श्वनाथ तीर्थंकर नाग-चिह्न धारण करते थे। संभव है, वे स्वयं नाग रहे हों।

पुराण और जैन तथा बौद्ध साहित्य इस बात को सिद्ध करते हैं कि महात्मा बुद्ध और महावीर के समकालीन बिंबसार और अजातशत्रु दोनों शिशुनाग वंश के थे। अल्तेकर, परिजितर, प्रधान और पुसालकर सरीखे विद्वानों ने इन वंशों की एक सूची दी है, जिससे पता चलता है कि इनमें से प्रथम वंश ईसा से लगभग तीन हजार वर्ष पहले से था।

विष्णुपुराण में 12 प्रधान नागों का उल्लेख है। इनके नाम हैं—शेष, वासुकि, तक्षक, शंख, श्वेत, महापद्म, कँवल, अश्वतर, एलापत्र, नाग, कर्कोटक और धनंजय। पद्मपुराण में अनंत, वासुकि, तक्षक, महाबल, कर्कोटक, नागेन्द्र, पद्म, महापद्म, शंख, कुलिक, अपराजित आदि प्रमुख नाम हैं। साधारणतया अष्ट नाग प्रसिद्ध हैं। उनके नाम हैं—अनंत, जो शेष का ही दूसरा नाम है, पद्म, शंकु, शुकँवल, वासुकि, कर्कोटक, एलापत्र और तक्षक। इन तीनों उद्धरणों से मालूम होता है कि शेष, वासुकि, कर्कोटक और तक्षक सर्वाधिक शक्तिशाली नाग नेता रहे होंगे। राजतरंगिणी के अनुसार कर्कोटक तो कश्मीर राजवंश का संस्थापक था।

विनय-पिटक तथा अन्य बौद्ध साहित्य में नागों की चार जातियों का उल्लेख है। ये जातियाँ हैं—विरुपख, एरापल, छव्यापुत्त और कणागोत्तमक। विरुपख और एरापल को पश्चिमी और पूर्वी क्षेत्र का लोकपाल भी कहा गया है, जिससे यह संकेत मिलता है कि विरुपख का अधिकार-क्षेत्र देश का पश्चिमी भाग रहा होगा और एरापल का प्रभुत्व पूर्वी भाग में रहा होगा।

इन नाग नेताओं अथवा शासकों के अतिरिक्त अनेक ऐसे विवरण हैं जिनसे ज्ञात होता है कि आरंभ से ही नाग और क्षत्रिय राजा आपस में विवाह-संबंधों में बँधते रहे हैं। यह अब प्रायः स्वीकार किया गया है कि रावण के पुत्र मेघनाद की पत्नी सती सुलोचना नाग कन्या थी। स्वयं राम के पुत्र कुश का विवाह नाग रमणी से हुआ था। शूरसेन के अधिपति शूर की माता और उग्रसेन की रानी नाग महिलाएँ थीं। अर्जुन की दो पत्नियाँ, उलूपी और चित्रांगदा, नाग वंशजा थीं। भीम की पत्नी और घटोत्कच्छ की माता हिडिंबा भी संभवतः कुल्लू की ही कोई नाग-पुत्री थी।

ऐतिहासिक काल में सुप्रसिद्ध मगध सम्राट् चंद्रगुप्त विक्रमादित्य की राजमहिषी कुवेरा नाग वंश की थी। दक्षिण के वाकाटक वंश के गौतमी पुत्र का विवाह पद्मावती के शासक भवनाग की राजपुत्री से हुआ था। इससे विदित होता है कि भारत के अनेक शक्तिशाली राजवंश नागों के साथ संबंध स्थापित करने में गौरव अनुभव करते थे।

समूचा हिमालय प्रदेश नागों की क्रीड़ास्थली रहा है। परंपरा के अनुसार चंबा

tharahkardu.in

में मधोड़, कुल्लू में तांडी और जमलू, सतलुज की उपत्यका में नातड़ी, मंडी करसोग में माहू, सिरमौर में नोना नाग अत्यंत बलवान नाग हुए हैं। ये सभी नाग शासक थे, पर क्या वे सभी समकालीन भी थे, यह कहना कठिन है। आज केवल यह कहा जा सकता है कि ये शक्तिशाली शासक थे। यही कारण है कि माहू और विशेर नाग जैसे नाग नेताओं की पूजा आज भी होती है। उनके प्रभाव का क्षेत्र काफी विस्तृत है। किसी समय कुल्लू 18 नागों के शासन-क्षेत्र में बँटा हुआ था, इस प्रकार की अनेक अनुश्रुतियाँ प्रचलित हैं। हिंदुकुश का कपिशा, हुनजा, स्वात, चितराल, कश्मीर सभी नाग-क्षेत्र थे।

हम देख चुके हैं कि नागों की ऐतिहासिक रूपरेखा सहस्रों वर्षों तक उभर-उभरकर सामने आती है। प्रागैतिहासिक काल से ईसा की सातवीं शताब्दी तक एक अटूट शृंखला नागों की हम देखते हैं। परंतु प्रश्न यह है कि यह अत्यंत प्राचीन जाति कौन थी, क्या यह सभ्य थी या असभ्य, इसका स्वभाव कैसा था, प्रकृति कैसी थी ? जहाँ तक हिमाचल का संबंध है, हम बिना संकोच कह सकते हैं कि चार नदियों के इस हिमालयी भूभाग के नाग प्राचीनतम लोगों में से हैं। यहाँ की भाषा पर उनकी प्राचीन भाषा का स्पष्ट प्रभाव देखा जा सकता है।

नाग वीर और स्वाभिमानी जाति थी। अपने देश के लिए तथा अपने मान के लिए इनमें सर्वस्व होम कर देने की प्रवृत्ति थी। एक बार नागों के प्रतिद्वंद्वी नरैणों ने नाग स्त्री जाति से दुर्व्यवहार किया था। परिणाम यह हुआ कि नाग पीढ़ी दर पीढ़ी अनेक वर्षों तक अपने अपमान का बदला चुकाने लगे और तभी दम लिया जब नरैणों को खदेड़कर प्रदेश से बाहर फेंक दिया। कुल्लू के अठारह नागों और अठारह नरैणों का संघर्ष इसका उदाहरण है।

नागों का देशप्रेम अतुलनीय था। एक-एक चप्पा भूमि के लिए इन्होंने शत्रुओं का मुकाबला किया। नागों का समूचा तीन-चार हजार वर्षों का इतिहास, वास्तव में, देश-रक्षा के प्रयत्नों का ही ब्योरा है। भूमि से उन्हें अत्यधिक प्रेम था। वह न केवल उनका ही निर्वाह करती थी, अपितु उनके पशुधन का भी आधार थी। नाग बड़े कुशल पशुपालक थे। वे पशुओं द्वारा खेती करते थे या नहीं, इस संबंध में कुछ नहीं कहा जा सकता, पर इतना स्पष्ट है कि पशुपालन वे घी, दूध के लिए करते थे। यह इससे भी विदित है कि प्रायः समूचे हिमाचल प्रदेश में आज भी गाय के दुधारू होने पर दूध और घी सर्वप्रथम केवल नाग देवता को अर्पित किया जाता है। नाग-अर्पण से पूर्व उसका उपभोग वर्जित है। यों यह प्रथा कर्नाटक में भी है।

पशुपालन के लिए वे एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाते रहे होंगे, अथवा पशुओं को ही किसी दूसरे स्थान पर ले जाते होंगे। उनकी यह रीति आज भी प्रचलित

Digitised by
Tharah Kardu

है, जबकि वर्षाकाल में बैलों और घोड़ों को ग्राम से बाहर खुली चरागाह में महीने-दो महीने के लिए छोड़ दिया जाता है। अपने इस पशुपालन के लिए भ्रमण के कारण वे समस्त भूगोल से सुपरिचित हुए होंगे। उन्हें न केवल पृथ्वी के ऊपर की प्रकृति अथवा पदार्थों का ज्ञान रहा, अपितु किसी न किसी रूप में उन्हें खनिज पदार्थों की भी जानकारी रही होगी। अतः वे एक प्रकार से प्रथम भूगर्भशास्त्री रहे होंगे। संभव है, उनके इसी भूगर्भ-ज्ञान के कारण उन्हें पातालवासी माना गया हो और उनका साम्य बिल में रहने वाले सर्पों से किया गया हो, जिनके विषय में मान्यता यह है कि वे भूमि के भीतर के रहस्य जानते हैं। यह विश्वास है कि नाग धन के रक्षक हैं और सोना-चाँदी, हीरे-जवाहरात के पहरेदार हैं। संभवतः यह नागों द्वारा इन खनिजों की जानकारी का ही फल है।

हमने देखा कि नाग कृषक और पशुपालक थे। प्रदेश में प्राचीन काल से चली आई सिंचाई की व्यवस्था से अनुमान लगाया जा सकता है कि नागों को शायद सिंचाई का भी ज्ञान रहा हो। कुहलों का प्रचलन, संभवतः, नागों द्वारा ही हुआ होगा। इसकी पुष्टि जन-मानस में नागों की जल देवता के रूप में स्वीकृति से होती है। कृषि के लिए जब वर्षा की आवश्यकता होती है तो नाग देवता की ही शरण ग्रहण की जाती है। इसका अभिप्राय अनुमानतः नागों की उस कुशलता से है, जिससे उन्होंने कृषि के लिए वर्षा पर निर्भरता को कम कर दिया था। हिमाचल प्रदेश तथा इसके बाहर ऐसी अनेक किंवदंतियाँ, अनुश्रुतियाँ और गाथाएँ हैं जिनमें नागों को जलाशयों और नदियों का स्वामी अथवा निवासी बताया गया है।

कुछ ऐसी कथाएँ हैं जिनसे नागों के स्वभाव पर प्रकाश पड़ता है। इस प्रकार की एक कथा का उल्लेख राजतरंगिणी में हुआ है। उसके अनुसार जेहलम (वितस्ता) नदी के किनारे राजा नर की राजधानी के निकट ही एक स्वच्छ जलाशय में रहने वाले सुश्रव नाग और उसकी दो कन्याओं ने भूखों मरना मंजूर किया, किंतु पेट भरने के लिए अनधिकार रूप से प्राप्त अन्न ग्रहण नहीं किया। नागों का यह नियम था कि जब तक खेती का रक्षक स्वयं उस खेत में उत्पन्न अन्न को ग्रहण नहीं कर लेता, वे उसे छूते तक नहीं थे। इससे विदित है कि नागों में मर्यादा का स्तर बहुत ऊँचा था और चोरी जैसे दुष्कर्म से वे दूर ही रहते थे। इस कथा से एक अन्य रोचक रीति का भी पता चलता है। आज भी हिमाचल के प्रायः सभी भागों में नव-अन्न 'तया' जैसे किसी पूर्व पुरुष या कृषि-रक्षक को देने का प्रचलन है। संभव है कि यह परिपाटी नाग-युग से ही चली आ रही हो और नागों की ही देन हो।

नाग संभवतः छोटी-छोटी टुकड़ियों में, पृथक्-पृथक्, दूर-दूर बस्तियाँ बसाकर रहते थे। ये बस्तियाँ गढ़ कहलाती थीं। नागों के छोटे-छोटे कुटुंब-समूह होते थे।

tharahkardu.in

इनका मुखिया सबसे बुजुर्ग पुरुष होता था। यह अनुमान नाग देवता के प्रति साधारण जनता तथा नाग देवता के पूजकों के दृष्टिकोण से लगाया जा सकता है। नाग के 'गूर' अथवा 'ग्रोगच' के सामने नाग देवता का स्वरूप एक 'बूढ़े बाबा' का होता है। कहा जाता है कि जब कभी वह अपने इष्ट को संबोधित करता अथवा उसका ध्यान करता है, तो उसके सम्मुख आकृति एक 'वृद्ध जटाधारी व्यक्ति' की ही होती है।

स्त्रियों का नाग समाज में विशेष आदर नहीं रहा होगा। लगता है, मुख्यतः कृषि-कार्य में ही महिलाएँ पुरुषों की सहायक रही होंगी। संभव है, इस प्रदेश में नागों के पराभव के पीछे भी स्त्रियों का ही हाथ रहा हो और नाग पुरुषों की दृष्टि में वे अविश्वसनीय रही होंगी। यही कारण है कि आज भी नाग देवता के मंदिर में नाग 'पिंडी' के समक्ष नारी की उपस्थिति वर्जित है। किंतु इसका एक दूसरा कारण भी हो सकता है, पिंडी लिंग का प्रतीक है, यद्यपि पुरुष के लिए लिंग अपूज्य नहीं, वह उसकी प्रजनन-क्षमता, उसके पुरुषत्व का प्रतीक है, वह तो एकांत में बैठ उसकी अर्चना, आराधना कर सकता है, परंतु नारी को काम के इस साकार प्रतीक की खुलेआम पूजा उसे सुहाई न हो। इस तर्क में एक दुविधा रह जाती है। लिंग-पूजन कहें या ऋग्वेद की भाषा में शिश्न देवाः, उस वेद की दृष्टि में त्याज्य था, किंतु शिश्न-पूजकों का समाज खुलेआम इस परंपरा का पालन करता था, तब भी जब वेद रचे नहीं गए थे, तब भी जब उनकी रचना हो रही थी, और आज भी हिमाचल के झीरू आदि बीसियों अन्य मेले, उत्सवों में शिश्न का यह खेल उत्साह से खेला जाता है। इन खेलों में खशों की भागीदारी व्यापक है।

नाग, अहि, इन लोगों का जातीय चिह्न था। इस कारण इन्हें 'नाग' नाम से ही जाना जाता है। यही चिह्न दानवों का भी रहा होगा।

नागों के संबंध में एक बात स्पष्ट है, उनकी वृत्ति सात्त्विक की अपेक्षा राजसिक अधिक थी। वे किन्नरों की भाँति सहिष्णु नहीं थे। अपनी भूमि के लिए, अपने अधिकारों के लिए उन्होंने सदा अपने प्रतिद्वंद्वियों से युद्ध किया।

अपने लंबे जीवनकाल में नागों को एक नहीं अनेक शत्रुओं से बहुधा लोहा लेना पड़ा होगा। स्थानीय परंपराएँ इस संघर्ष की कहानी ऋग्वेद से भी पहले ले जाती हैं। आज तक जीवित तथा अभिनीत परंपराओं के अनुसार नागों को एक अन्य समकालीन समुदाय, जाति से जबरदस्त टक्कर लेनी पड़ी थी। यह जाति थी खश। खशों की चर्चा आगे होगी।

नाग-खश संघर्ष का मुँह बोलता चित्र आज भी हमें प्रतिवर्ष देखने को मिलता है। यह संघर्ष अत्यंत भयंकर रहा होगा, इसीलिए हजारों वर्ष बीत जाने पर भी

Digitised by
Tharah Kardu

लोक-चेतना पर अभी तक उसकी अमिट छाप बनी हुई है। वेदों में इस संघर्ष ने एक मिथक का स्वरूप ले लिया। यही अंततः सृष्टि उत्पत्ति का विश्वव्यापी मिथक बन गया। 'बुढ़ी दियाउड़ी', 'दियाउड़ी', 'बिरतासुर मेला' और 'मशराड़ी' मेले इस संदर्भ में अत्यंत महत्त्वपूर्ण हैं।

'बुढ़ी दियाउड़ी'—इंद्र-वृत्र संघर्षगाथा—'दियाउड़ी', 'बुढ़ी दियाउड़ी' या 'मशराड़ी' मेला व्यास, सतलुज, पब्बर तथा गिरी-यमुना उपत्यकाओं में अनेक स्थानों पर मनाया जाता है। इसका समारंभ मार्गशीष मास में दीपावली के बाद की पहली अमावस्या से होता है। कहीं-कहीं यह मेला केवल एक दिन में समाप्त हो जाता है पर अन्यत्र दो दिन तक चलता है। इस 'बुढ़ी दियाउड़ी' की प्रमुख विशेषता यह है कि यह ऐतिहासिक पर्व, लोकनाट्य, लोकगाथा और सामूहिक मनोरंजन का अद्वितीय सम्मिश्रण है। इस मेले का रात्रि में मनाया जाने वाला स्वरूप मूल रूप में विशुद्ध ऐतिहासिक है तथा दिन का इतिहास-मिश्रित मिथकीय मनोरंजनकारी है।

सतलुज उपत्यका में स्थित निरमंड की 'बुढ़ी दियाउड़ी' इस संबंध में सर्वोत्कृष्ट उदाहरण है, क्योंकि यह अभी भी बहुत बड़ी सीमा तक पुरातन रूप को बनाए रखे हुए है। वहाँ मग्घर मास की अमावस्या को दशनामी अखाड़े में प्रचंड प्रज्वलित अग्नि के गिर्द खश (जिन्हें गढ़िया कहा जाता है) और दानव युद्ध का अभिनय होता है। गढ़ियों और दानवों में शक्ति-परीक्षण होता है और दोनों एक-दूसरे को नीचा दिखाने में पूरा जोर लगाते हैं। गढ़िए अग्नि की सुरक्षा करते हैं, जबकि 'दानवे' (दानव) तीव्र आक्रमण कर उसे अपने अधिकार में लाना चाहते हैं। गढ़ियों का यह प्रयत्न होता है कि दानवे किसी भी हालत में अग्नि की प्रदक्षिणा (अधिकार) न कर सकें, जबकि उनके प्रतिद्वंद्वियों का मात्र यही लक्ष्य होता है। वाद्य-यंत्रों पर एक अत्यंत उत्तेजक धुन बजाई जाती है जिसका नाम ही 'दियाउड़ी' है।

दूसरे और तीसरे दिन प्रातः, रात के दानवे, सर्पाकार नाग लेकर नाचते हैं। इस नाग को, जिसे स्थानीय भाषा में 'बांड' कहते हैं, खश-गढ़िया छल द्वारा काट देते हैं। 'नाग-गढ़िया' युद्ध के संबंध में यह लोक-परंपरा है कि प्राचीन काल में इस प्रदेश में दो बलवान नाग घुस आए थे। वे प्रायः सर्पों का रूप धारण करते थे। उन्होंने लोगों को डराना, तंग करना आरंभ कर दिया। जानोमाल की क्षति पहुँचाई, लोगों में त्राहि-त्राहि मच गई। उन्हें मारने या अन्यत्र भगाने के सारे प्रयत्न असफल रहे। इस पर लोगों ने उन्हें इस बात पर राजी किया कि निरमंड में उन्हें पूरी मान्यता दी जाएगी। नाग चाहते भी यही थे। निरमंड पर अधिकार हो जाने से सारे प्रदेश में उनका प्रभाव बड़ी सुगमता से फैल सकता था। नाग अपनी इस जीत से बड़े प्रसन्न थे। इसके उपलक्ष्य में उन्होंने एक मेले का आयोजन किया और स्वयं 'नाटी' के

tharahkardu.in

मुखिया बने। जीत की खुशी और नृत्य के आनंद से विभोर नागों ने 'नाटी' के अभी अढ़ाई फेरे (चक्कर) ही लगाए थे कि खश-गढ़िए आक्रमण कर उन्हें तलवार के घाट उतार देते हैं।

इस परंपरा के मूल बीज का यदि विश्लेषण किया जाए तो जाहिर हो जाएगा कि इस प्रदेश में पहले बलवान नाग रहते थे। आमने-सामने के संघर्ष में तो खश उन पर विजय नहीं पा सके, अतः उन्होंने धोखे का सहारा लिया। प्रकटतः उन्होंने नागों की अधीनता स्वीकार कर ली। जब नागों का विश्वास जीत लिया, तो धोखे से उनके मुखिया को मारकर स्वयं मुखिया बन बैठे।

रात के खश-गढ़िया-दानव संघर्ष से यह तथ्य ज्ञात होता है कि नागों ने धोखा खा जाने के बाद एकदम पराजय स्वीकार नहीं की, अपितु चोट खाए सर्प की तरह अत्यंत क्रुद्ध होकर उन्होंने खशों पर जबरदस्त प्रत्याक्रमण किया। परंतु लगता है कि वे खशों से अपने अधिकारों को वापस लेने में असमर्थ रहे। यह भी संभव है कि रात के संघर्ष में नागों द्वारा खशों के गढ़ों पर अधिकार करने के लिए किया गया आक्रमण अभिनीत हो और दिन के अभिनय में खशों की अंतिम विजय।

यहाँ विचारणीय बात यह है कि निरमंड की दियाउड़ी स्पष्टतया दानवों का नामांकन करती है और खशों का गढ़ियों के रूप में। दूसरी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि ब्राह्मणों के इस गाँव में भी दियाउड़ी के घटनाक्रम में उनकी अपनी भागीदारी नगण्य है। दानव निस्संदेह नाग ही हैं, यह ऋग्वेद से स्पष्ट है, जहाँ शम्बर को अहि और दानव कहा गया है—

'यः शम्बर पर्वतेषु क्षियन्तं चत्वारिंश्यां शरधन्वविन्दते,
ओजायमानं यों अहिं जघान दानुं शयानं सजसान इंद्रः।'

(2.12.11)

परंतु 'बुढ़ी दियाउड़ी' का संघर्ष शम्बर और इंद्र-दिवोदास का नहीं है, यह उससे भी प्राचीन अत्यंत निर्णायक घटनाओं का प्रस्तुतीकरण है, जिसके मुख्य पात्र इंद्र और वृत्र थे। यह वृत्तांत उन दिनों का है जब हिमालयी मानव अपने कंद-मूल के आरंभिक दिनों से आगे बढ़ता हुआ कृषि की ओर आ रहा था। जब उसे अग्नि की महत्ता का आभास हुआ और जल के जीवनाधार तत्त्व होने की समझ आई। यह बहुत लंबा संघर्ष था, दो चरणों या कहें दो कालखंड में हुआ था। ऋग्वेद में बताया गया है कि अग्नि इंद्र के साथ थी और जल वृत्र के पास। दोनों की नजर एक-दूसरे के माल की ओर थी। इंद्र जल भी चाहता था और वृत्र अग्नि को अपने अधिकार में लेना चाहता था।

यहाँ एक और महत्त्वपूर्ण स्थिति सामने आती है। अग्नि के लिए 'करो या मरो'

Digitised by
Tharah Kardu

का संघर्ष 'बुढ़ी दियाउड़ी' की विशेषता है। ऋग्वेद में इसकी ओर केवल इशारा किया गया है, जिससे प्रतीत होता है कि ऋग्वेद के रचनाकाल तक हिमालय की यह बहुत बड़ी घटना पुरानी बात हो गई थी, जो लोगों को तो याद रही, लेकिन तब तक मंत्रकारों की दृष्टि में इंद्र का जल पर अधिकार ही प्रमुख विषय बन गया। इंद्र ने एक लंबे संघर्ष के बाद वृत्र को हराया, क्योंकि वह भी उतना ही शक्तिशाली था जितना स्वयं इंद्र, बल्कि सच्चाई यह है कि अपने बूते पर इंद्र वृत्र को नहीं हरा सकता था, उसे अन्य देवताओं, विशेषकर मरुतगणों की सहायता लेनी पड़ी थी।

जब विष्णु आदि देवताओं और मरुतों की सहायता से उसने वृत्र को मारा, वह भी धोखे से, तो वह महानतम व्यक्ति, अजय, देवताओं में अग्रणी तथा सृष्टिकर्ता बन गया। वृत्र-हनन उसकी महानतम उपलब्धि मानी गई। वृत्रहंता उसका विशेषण ही हो गया, क्योंकि वृत्र के हनन के बाद ही वह सप्तसिंधु के जलों को मुक्त कर पाया। रोचक बात यह कि इस संदर्भ में नदियों को सामान्यतः सप्तसिंधु ही कहा गया है, किंतु वृत्र-हनन के संबंध में केवल दो नदियों का विशेष रूप से नाम लिया गया है। ये नदियाँ हैं : विपाशा (व्यास) और शुतुद्री (सतलुज)। इनके अपने शब्दों में ही—

'इंद्रो अस्मां अरदद् वज्रवाहुरपाहन्
वृत्रं परिधिं नदीनम्।
देवोऽनयत् सविता सुपाणिः
तस्य वयं प्रसवे याम उर्वीः।।'

(ऋग्वेद 3.33.6)

"नदियों को रोकने वाले वृत्र का संहार कर वज्रधारी इंद्र ने हम दोनों नदियों का मार्ग खोल दिया।" मुक्त होने पर ये दोनों नदियाँ समुद्र की ओर इस तरह तेज भागीं, जिस तरह कोई घोड़ा अपना बंधन तोड़कर भागता है—

'प्रपर्वतानामुशती उपस्थादश्वे
इव विषिते हासमाने।
गावेव शुभ्रे मातरा रिहाणे
विपाट् छुतुद्री पयसा जवेते।।'

(ऋग्वेद 3.33.1)

और मुख्यतः इन्हीं दो नदियों के जल-संग्रहण क्षेत्र में 'बुढ़ी दियाउड़ी' व्यापक स्तर पर अभिनीत होती है।

ऋग्वेद में वृत्र दो और नामों से सामने आता है, दानव और अहि। चकित करने वाला संयोग यह कि हिमाचल में भी उसके ये तीनों नाम व्यवहृत होते हैं। मंडी के

tharahkardu.in

करसोग क्षेत्र में इस प्रदर्शन का नाम ही बिरतासुर (वृत्रासुर) मेला है और वह इसी नाम से भाग लेता है। बुढ़ी दियाउड़ी में दानव और अहि बनकर। अमावस्या-रात्रि के घटनाक्रम में वह डेरच, दैन्त-दैत्य-दानव के रूप में, आग उगलता विशाल आकार के अजगर जैसा और अगले प्रातः बांड, अहि, सर्प के रूप में। तब इसे नाग देवता भी कहा जाता है।

इंद्र अपने नाम से न वृत्रासुर मेले में और न ही दियाउड़ी में आता है। किंतु गढ़ियों के अगुआ, जो डेरच पर चढ़कर लात-मुक्कों से डेरच पर प्रहार करता है और उसकी लकड़ियों को खींचकर तोड़ देता है, वह अक्षरशः इंद्र का कार्य है। ऋग्वेद में इंद्र ने वृत्र की वही दशा की थी। गढ़िया नेता का हृष्ट-पुष्ट कद-काठ, चुस्ती-फुर्ती, बल-बुद्धि, आचार-व्यवहार इंद्र के अनुरूप ही होता है। प्रातःकाल जब गढ़िया-मुखिया को वृत्र-हनन के लिए आहूत किया जाता है, तो उसके द्वार पर ब्याहुल बजाई जाती है। जैसा विदित है, ब्याहुल सामान्यतः देवता या राजा के सम्मान में बजाई जाती है।

ऋग्वेद में इंद्र जब वृत्र की हत्या करने निकलता है तो डटकर सोम पीता है, तभी उसे वृत्र का सामना करने की हिम्मत होती है। किन्नौर में सांगला के दीवाल में बांड काटने वाले 'सिंहा' को शहद की बनी सुरा शुडुग पिलाई जाती है। तब इस 'सिंहा' का परिधान राजसी होता है। इंद्र भी तो देवराज था। सांगला में बांड मेला स्थल पर आने से पूर्व बस्पा नदी में कुछ समय बिताता है, तो व्यास उपत्यका में गूण (अहि) व्यास नदी में। निरमंड जैसे स्थान जो नदियों से दूर हैं, वहाँ उसे बावली या बहते नाले में रखा जाता है। ऋग्वेद का अहि वृत्र जल का स्वामी था, जल में रहता था।

इंद्र ने वृत्र को मारा और शायद डर के मारे 99 नदियों पार भाग गया। दियाउड़ी में भी बांड को काटने वाला गढ़िया दर्शकों में खो जाता है। इंद्र 'ब्रह्म हत्या' का दोषी बना और उसके पाप को मुक्त नदियों का जल आज भी अपने फेन रूप में ढो रहा है। इधर हिमाचल में बांड हन्ता गढ़िया के सहायक लोगों को 'साजा', भोज, देकर पाप का प्रायश्चित्त करना होता है। उन्हें भी 'ब्रह्म हत्या' का पातकी समझा जाता है।

इंद्र ने वृत्र की माँ दनु की भी हत्या की थी, जब वह अपने पुत्र को बचाने का प्रयत्न कर रही थी। निरमंड में उसके बांड की हत्या होती है, वृत्र की मृत्यु के पहले दिन, उसी तरह के आयोजन में जैसा वृत्र-हत्या के लिए किया जाता है।

अब प्रश्न पैदा होता है कि ऋग्वेद में तृत्सु, भरत, पुरु, यदु, द्रुह्यु, पक्थ, भलान, शिव जातियों का उल्लेख है, नागों, गढ़ियों का क्यों नहीं ? इसका एक कारण यह हो सकता है कि उक्त वेद में उस काल, युग की सभी भारतीय जातियों के नामों का जिकर नहीं है। दूसरे जब बुढ़ी दियाउड़ी, वृत्रासुर मेला तथा इंद्र-वृत्र गाथा के मूल

Digitised by
Tharah Kardu

विषय संबंधी घटना घटी थी, तब जाति के आधार पर लोगों के नाम ही नहीं रहे होंगे, सभी मात्र जन थे। हाँ, वृत्ररूपी बांड को नाग देवता कहना दानुओं-दानवों के स्वयं नाग होने में किसी संदेह की गुंजाइश नहीं रखता है। ये नाग हिमाचल के आदि मानवों में से थे। यद्यपि आज इस प्रदेश में इस नाम से कोई बड़ा वर्ग नहीं जाना जाता, फिर भी ऋग्वेद की असिन्की और आधुनिक चनाव उपत्यका में अनेक गाँव अपने आप को नाग घोषित करते हैं। जम्मू के जिला उधमपुर के अंतर्गत विभ्हाग क्षेत्र में रहने वाले ठक्कर राजपूत अपने नाम के साथ नाग शब्द का प्रयोग करते हैं। ये 'खस' भाषा का प्रयोग करते हैं, किंतु दूसरी बस्ती के लोगों के साथ डोगरी भी बोल लेते हैं। अंजी घाटी में इनके लगभग इक्कीस गाँव हैं, दूसरे नागवंशीय लोग 'मेग' हैं, जो हरिजन हैं और डुग्गर के मूल निवासी माने जाते हैं। ये मेग डोडा जनपद के अंतर्गत भद्रवाह में रहते हैं। व्यास उपत्यका में अठारह और पब्बर नदी के रोहडू सरपारा क्षेत्र में नौ नाग-बस्तियाँ होने की परंपरा है।

सिंधु सभ्यता के जन्मदाता—विद्वानों में इस बात पर बड़ा मतभेद है कि सिंधु सभ्यता के जन्मदाता कौन थे। यह मतभेद इसलिए भी गंभीर हो गया है कि निर्णय करने के लिए कहा जाता रहा कि केवल दो ही मुख्य सूत्र उपलब्ध हैं। ये सूत्र हैं—(1) अस्थिपंजर, और (2) मुद्राओं पर अंकित चित्र। कुछ मानवशास्त्रियों को इनमें प्राटो आस्ट्रेलियाई, भूमध्यसागर तटवर्तीय, मंगोलियाई और आल्पस इन चार जातियों का पता लगा है। किंतु मार्शल के अनुसार मोहनजोदड़ो के मानव-अवशेष हमारी कोई सहायता नहीं कर सकते, कि वे गौरवर्ण नार्डक थे या श्यामवर्ण भूमध्य सागरीय या दीर्घशीष अल्पाइन या इन तीनों का सम्मिश्रण। लेकिन अनुमान लगते रहे।

कुछ विद्वान् मानते हैं कि सिंधु सभ्यता के जन्मदाता और उपभोक्ता सुमेरियाई, पणी, असुर, ब्राहुई, वाह्लीक और दास थे। कुछ अन्य कहते हैं कि वे लोग कोल, भील और द्रविड़ थे, जबकि कुछ अन्य इतिहासकारों का विचार है कि वे तथाकथित आर्य ही थे। पर इन सब मतों के विपरीत विद्वानों की एक बड़ी संख्या यह मानती है कि इस सभ्यता के जन्मदाता केवल द्रविड़ थे। अपने इस मत की पुष्टि ये विद्वान् मानव विज्ञान शास्त्र, धर्म और सभ्यता के विविध उपकरणों की साक्षी देकर करते हैं। इनका कहना है कि मोहनजोदड़ो, हड़प्पा और चन्हूदड़ो में प्राप्त अस्थिपंजरों से ज्ञात होता है कि वे अधिकांशतः द्रविड़ों के हैं। सिंधु सभ्यता का मुख्य देवता पशुपति तो अनार्य द्रविड़ ही है, जिसकी पूजा आज भी समूचे दक्षिण भारत में होती है। भारत आने तक आर्य नागरिक सभ्यता से एकदम अपरिचित थे। इसलिए मोहनजोदड़ो और हड़प्पा जैसे बड़े नगरों के निर्माता द्रविड़ ही हो सकते हैं।

tharahkardu.in

उनके अनुसार अनेक प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष प्रमाण उपलब्ध हैं जिनसे ज्ञात होता है कि किसी समय द्रविड़ भाषा मध्य, उत्तरी तथा पश्चिमी भारत में और संभवतः पूर्वी भारत अर्थात् सारे देश में व्यवहार में लाई जाती थी। बलूचिस्तान में ब्रुही के आसपास आज भी द्रविड़ से मिलती-जुलती भाषा बोली जाती है। इससे प्रतीत होता है कि ब्रुही उस विशाल द्रविड़ प्रदेश का एक छोटा-सा अवशेष रहा हो जो कभी दक्षिण भारत, महाराष्ट्र, मालवा, गांगेय प्रदेश, राजपूताना, पंजाब और सिंध होता हुआ बलूचिस्तान तथा अफगानिस्तान तक फैला था।

कतिपय विद्वान् आज भी यह मानते हैं कि उत्तर भारत में अनेक ऐसे स्थान हैं जिनके नाम का स्वरूप द्रविड़ है। इसके अतिरिक्त हिंदू रीति-रिवाज, विधि-विधान, विचार, मिथक, पुराण एवं इतिहास पर द्रविड़ प्रभाव तथा ऊपरी गांगेय प्रदेश के लोगों में भूमध्यसागरीय तत्त्वों का होना, सब यह संकेत करते हैं कि किसी समय द्रविड़ पंजाब और ऊपरी गांगेय उपत्यका में भी बसते रहे हों। इसके आधार पर इन विद्वानों का अनुमान है कि एक काल तक उत्तरी भारत के लोग द्रविड़ और आस्ट्रिक रहे हों, पर चूँकि उनका पृथक्-पृथक् क्षेत्र नहीं था, अतः आर्यों को उन पर अपना सर्वव्यापी प्रभाव डालने में अधिक कठिनाई नहीं आई, और परिणामतः आर्यों को द्रविड़ों और आस्ट्रिकों का नामोनिशान मिटाने में सफलता मिली। एक विद्वान् आर०एस० शर्मा का तो यहाँ तक दावा है कि ऋग्वेद के वर्तमान पाठ में लगभग 25 शब्द द्रविड़ भाषा से उधार लिए गए हैं। और कि ऋग्वेद का रचयिता द्रविड़ भाषा का जानकार संस्कृतज्ञ रहा होगा।

लेकिन वेद किसी एक रचयिता ने एक ही बार रचा और संकलित किया हो, ऐसी बात नहीं है। वह भिन्न-भिन्न समय में, अलग-अलग स्थान पर, विभिन्न ऋषियों द्वारा देखे, अनुभव किए सत्य हैं। एक ही ऋषि ने एक ही मंत्र के सत्य को देखा, स्थिति यह भी नहीं है। हम देखते हैं एक ही देवता इंद्र की तीन कालों में वैदिक ऋषियों ने आराधना की और उस आराधना के क्रम में विविध मंत्रों की रचना की और उन ऋचाओं में विभिन्न आख्यानों का उल्लेख किया। वेद ने इंद्र से जब यह कहा कि—

'इदाहि ते वेविषतः पुराजः प्रत्नास आसुः परुकृत सखायः।
ये मध्यमास उतनूतनास उतावमस्य पुरुहूत बोधि।।'

(6.21.5)

"इंद्र, तू भी विस्मय से पूर्ण है। जो ऋषि आदिकाल में रहते थे, वे तुम्हारे लिए यज्ञ करके तुम्हारे मित्र बन गए। बीच के काल वालों ने भी वैसा ही किया और फिर आज के ऋषियों ने भी तुम्हारी मित्रता प्राप्त की। इसलिए तुम उस मंत्र को सुनो, जो

Digitised by
Tharah Kardu

तुम्हारी पूजा करने वाले तुम्हारे सामने प्रस्तुत कर रहे हैं," तो इशारा इसी तथ्य की ओर था।

परंतु तब भी जन्मदाता की समस्या ज्यों की त्यों उलझी ही रहती है। प्रश्न यह है कि सिंधु सभ्यता के जन्मदाता यदि द्रविड़ होते तो क्या कारण है कि उस सभ्यता के अवशेष जहाँ उत्तरी और पश्चिमी भारत में जहाँ-तहाँ उपलब्ध हो रहे हैं, वहाँ नर्मदा से दक्षिण में एक स्थान पर भी इस प्रकार का कोई अवशेष अभी तक नहीं मिला ? यदि वे इस सभ्यता के निर्माता होते तो क्या यह संभव है कि नागरिक सभ्यता का वे पश्चिमोत्तर में तो उपभोग करते रहे, पर दक्षिण में जाकर उसे एकदम भूल गए ? दक्षिण भारत में राजनीतिक उथल-पुथल और बाह्य आक्रमणों से विध्वंस भी बहुत कम हुए हैं। अतः वहाँ पर सिंधु परंपरा जीवित मिल सकती थी।

दूसरे केवल मात्र अस्थिपंजरों के आधार पर भी हम उन्हें द्रविड़ नहीं मान सकते। इस क्षेत्र में अनेक जातियों का सम्मिश्रण हुआ है। आर्यों का जन्म चाहे भारत में हुआ मानें, या उन्हें बाहर से आया हुआ स्वीकार करें, उन्हें दोनों स्थितियों में संघर्ष करना पड़ा होगा। इस संघर्ष के प्रतिद्वंद्वियों को उन्होंने नाम दिए—दास एवं दस्यु। यह दास एवं दस्यु कौन थे ? क्या द्रविड़ों को ही दास कहा गया है ? यदि द्रविड़ ही दास थे तो दक्षिण भारत को छोड़, अन्यत्र वे क्यों अप्राप्य हैं ? तथा आर्यों ने दासों को विजित तो किया, किंतु निर्मूल नहीं किया। इसके विपरीत उनके साथ अंतर्जातीय विवाह कर उन्हें समाज में अंतर्भुक्त कर दिया। यदि द्रविड़ इस प्रकार अंतर्भुक्त हुए तो संपूर्ण देश में, विशेषतः उत्तरी, पूर्वी और पश्चिमी जनसंख्या में अब भी द्रविड़ रक्त की बहुलता होनी चाहिए। यदि यह बहुलता है तो क्या कारण है कि वे दक्षिण भारत में तो आर्यों के गहन संपर्क में आने पर भी अपने द्रविड़ स्वरूप को अक्षुण्ण रख सके, जबकि अन्यत्र द्रविड़ों का मानव विज्ञान क्षेत्र में प्रायः लोप ही हो गया ?

इसके अतिरिक्त यदि हम यह मान लें कि सिंधु सभ्यता द्रविड़ों की थी और आर्यों ने आक्रमण कर उसे तहस-नहस कर लिया, तो क्या इन नगरों की एवं सारे क्षेत्र की जनसंख्या को उन्होंने मौत के घाट उतार दिया या उन्हें इस क्षेत्र से भगा दिया ? अनेक विद्वान् अब यह मानने लगे हैं कि सिंधु सभ्यता के विनाश का कारण भूगर्भीय परिवर्तन है। इससे समुद्र-तल ऊपर उठ गया और फलस्वरूप सिंधु नदी का बहाव रुक गया। नदी के किनारे बड़े-बड़े शहर बाढ़ की लपेट में आ गए। इस क्षेत्र में पहले भी बाढ़ आया करती थी, जिससे बचने के लिए नगरवासियों ने पुश्ते बना रखे थे। खैर, विध्वंस का जो भी कारण रहा हो, लोग वहाँ से चले गए। सिंधु घाटी के ये लोग जब जान बचाने के लिए भागे तो क्या वे गांगेय तथा अन्य प्रदेश में अपने सजातीय लोगों की ओर नहीं गए ? क्या यह संभव है कि वे लोग भागते-भागते

tharahkardu.in

विंध्याचल के दक्षिण में ही गए ? यदि शत्रु ही उनका पीछा कर रहा था तो सप्त-सिंधु क्षेत्र में पहली झड़प के साथ क्या वे लोग अपने प्राण बचाने के लिए, जहाँ भी उन्हें सुरक्षा मिली, वहाँ नहीं गए ? यदि गए तो उनके लिए इस प्रदेश में बहने वाली नदियों के प्रवाह-मार्ग से बढ़कर और कौन-सा सुरक्षित और निकटतम प्रदेश हो सकता था ? अतः क्या यह संभव नहीं कि वे लोग इन नदियों के किनारे-किनारे होते हुए पहाड़ों में आकर जान बचा पाए हों। हड़प्पा तो रावी के किनारे पर ही बसा था। वहाँ के निवासियों में से कुछ तो अवश्य उस नदी तथा अन्य सिंधु नदी की पूर्वी सहायक नदियों के किनारे हिमाचल के क्षेत्र में आए होंगे, यदि आए तो इस प्रदेश की जनसंख्या में आज भी ऐसे तत्त्व होंगे, जो सिंधु सभ्यता के युग के हों। यह सभ्यता ईसा पूर्व 3000 से 2500 वर्षों तक व्याप्त रही कही जाती है।

अतः इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि हिमाचल प्रदेश और सप्तसिंधु क्षेत्र का परस्पर अति निकट का संबंध रहा है। एक प्रकार से सतलुज का क्षेत्र इस सभ्यता का केंद्रबिंदु रहा है। इस क्षेत्र में बहने वाली प्रायः सभी नदियाँ या तो हिमाचल से निकली हैं या उसके निकट उत्तर में से। अनुमान लगाया जा सकता है कि इन नदियों की उपत्यकाओं में बसने वाले लोग एक ही जाति के रहे हों, कबीले भले ही भिन्न हों, पर पार्वत्य प्रदेश और मैदानी प्रदेश होने के कारण उनका संपर्क सदा एक जैसा न रह पाया हो। फिर मैदानी भाग में नित्य नई जातियों, कबीलों के सम्मिश्रण से स्थिति बराबर बदलती रही, परंतु उपत्यकाओं के ऊपरी भाग के पहाड़ी होने के कारण यह उथल-पुथल अधिक न हुई होगी।

मोहनजोदड़ो, हड़प्पा, कालीबंगो, बनवाली, राखी गढ़ी, धौलावीरा, लोथल तथा रोपड़ से प्राप्त अवशेषों की तुलना यदि हिमाचल प्रदेश की स्थिति से की जाए, तो दोनों में आश्चर्यजनक समानता मिलेगी। यह समानता गृह-निर्माण, वेशभूषा, आभूषण, केश-विन्यास आदि में तो है ही, धर्म के क्षेत्र में सर्वाधिक है। प्रायः सभी विद्वान् सहमत हैं कि सरस्वती-सिंधु सभ्यता के उपभोक्ताओं की मुख्य देवी मातृदेवी थी और प्रमुख देवता शिव। इन दोनों देवताओं की अनेक चित्र-अंकित-मुद्राएँ खुदाई से प्राप्त हुई हैं। एक ऐसी मुद्रा भी मिली है, जिसमें एक देवता, उसके दोनों ओर भक्त तथा देवता के ऊपर नाग-फन दिखाया गया है, जिससे प्रकट होता है कि वे लोग नाग-पूजक भी थे। निस्संदेह शिव, देवी और नाग उन लोगों के बड़े देवता थे, जिस तरह से हिमाचल में।

हिमाचल का महानतम धर्म भी शैव-शाक्त-नाग मत है। यहाँ यह ध्यान देने वाली बात है कि हिमाचल के इस शैव-शाक्त धर्म का स्वरूप तथा इसकी आध्यात्मिक परिकल्पना उस प्रकार की नहीं है जिस प्रकार की वैदिक वाङ्मय में।

Digitised by
Tharah Kardu

कर्नाटक देश में वीर शिव की तथा तमिल प्रदेश में प्रचलित 'शैव-सिद्धांत', 'पाषाणवाद शैव', 'भेदवाद शैव', 'शिव संवाद', 'शिव संक्रांतवाद', 'ईश्वर अविकारवाद' तथा 'शिवाद्वैत' जैसी भी नहीं है। इसका संबंध कश्मीर के 'स्वातंत्र्यवाद', 'आभासवाद', 'त्रिक' अथवा 'कश्मीर शैवमत' से भी नहीं है। जहाँ देश के अन्य भागों में प्रचलित शैव धर्म के शिव को वेदांत का ब्रह्म माना गया है, वहाँ हिमाचल के शैव धर्म में अध्यात्म की इस ऊँची कल्पना का कोई स्थान नहीं। यहाँ शिव के दर्शन प्रायः 'पिंडी' में, 'लिंग' में होते हैं, जिसे नाग भी कहा जाता है। अन्य देवता प्रायः इस शिव नाग के भाई हैं, देवियाँ बहनें।

हम कह सकते हैं कि हिमाचल में आज भी लोक-धर्म की वही रूपरेखा है, जो आज से लगभग पाँच-छह हजार वर्ष पूर्व सरस्वती-सिंधु सभ्यता के दिनों में थी। दोनों शैव-मत को मानते हैं और शिव शक्ति के साथ प्राकृतिक तत्त्वों और लिंग की भी पूजा करते हैं। अंतर केवल इतना है कि जहाँ उन दिनों सप्तसिंधु तथा अन्य क्षेत्रों में नाग और शिव संभवतः पृथक् देवता थे, वहाँ वे हिमाचल में लगभग एकाकार हो गए और नाग ने लिंग का रूप धारण करके शिवत्व प्राप्त कर लिया है। इससे भी बढ़कर दैनिक जीवन में समानताएँ हैं। सिंधु घाटी के मैदानी भागों में ईंटों के मकान बनते थे, पहाड़ी भागों में पत्थर के। बलूचिस्तान के पहाड़ी क्षेत्रों की खुदाई करने पर इस प्रकार के मकान मिले हैं, जिनकी दीवारें नींव से दो-तीन फुट की ऊँचाई तक पत्थरों की बनी होती थीं, ऊपर लकड़ी के शहतीर डालकर पुनः पत्थर से चिनाई की जाती थी। हिमाचल प्रदेश में आज भी भवन-निर्माण की यही रीति है। विशेष ध्यान देने वाली बात यह है कि प्रत्येक मकान बनाने वाले का प्रयत्न यह रहता है कि अधिक से अधिक मात्रा में सुघड़ और छिला हुआ ईंटों के समान किंतु आकार में बहुत बड़ा चौकोर पत्थर लग सके। कहीं-कहीं इस प्रकार के पत्थरों को 'मणी' या 'ठेली' कहते हैं। इन मणियों में इतनी रुचि अनुमानतः ईंटों के कारण ही है, जिनके स्थान पर इस पहाड़ी प्रदेश में इन्हें प्रयुक्त किया जाता है।

एक मंजिल से दूसरी मंजिल तक जाने के लिए जो सीढ़ियाँ हिमाचल में प्रयुक्त होती रही हैं, वे मोहनजोदड़ो और हड़प्पा की सीढ़ियों जैसी हैं, अंतर केवल यह है कि सिंधु घाटी के इन नगरों की सीढ़ियाँ ईंट-पत्थर की होती थीं, पर हिमाचल में लकड़ी की। वृक्षों के समूचे तने को छीलकर उसमें पाँव रखने के लिए 'फैडू' अथवा डंडे उसी तरह के छोटे, सँकरे और ऊँचे होते हैं जिस प्रकार के इन नगरों की सीढ़ियों के होते थे।

हड़प्पा में कई भवनों की दीवारों पर लैंप या दीपक रखने के लिए आधार बने हैं। यह दीवार पर चुनी हुई ईंटों के, जो कि सतह के आगे बढ़ा दी जाती थीं, बने

tharahkardu.in

हैं। यह ईंटें बीच से गहरी कर दी जाती थीं ताकि दीपक उनमें दृढ़ता से टिक सकें। इसी प्रकार की योजना प्रायः सभी पुराने हिमाचली घरों में है, जहाँ ईंटों के स्थान पर पत्थरों का प्रयोग किया गया है।

हिमाचल के लगभग सभी मकानों में एक ऐसा कमरा हुआ करता है, जिसमें प्रवेश के लिए कोई द्वार नहीं तथा जिसमें वायु व सूर्य-प्रकाश के प्रवेश की भी कोई व्यवस्था नहीं। कमरे के फर्श से ही लकड़ी का एक तख्तां हटाकर उसमें प्रवेश के लिए मार्ग बना लिया जाता है। इस तख्ते को उठाने के लिए इसमें गोल कुंडी लगी रहती है। यह कमरा, जिसे कई स्थानों पर 'खुडी' कहा जाता है, सामान्यतः अन्न-धन-भंडार होता है। इसी प्रकार के कमरे मोहनजोदड़ो और हड़प्पा के मकानों में भी मिले हैं।

सिंधु घाटी के मकानों में खिड़कियाँ नहीं होती थीं, दीवारों में ही चौड़े-से चौकोर छिद्र रख दिए जाते थे, जिनसे कमरों में न केवल वायु और प्रकाश आता था, अपितु भीतर से बाहर देखा भी जा सकता था। हिमाचल में भी उसी प्रकार दीवार में 'तीरे' या बड़े छिद्र रखे देखे जा सकते हैं, जो कहीं केवल आधा फुट चौड़े तो कहीं एक-एक फुट तक चौड़े होते हैं।

यही नहीं, मोहनजोदड़ो के जिस महान् स्नानघर की विद्वान् इतनी चर्चा करते हैं और जिस पर आश्चर्य व्यक्त करते हैं, उस प्रकार के जलाशय तो हिमाचल में सर्वत्र हैं। हिमाचली इन्हें 'बावलियाँ' या 'बा' कहते हैं। ये बावलियाँ एक-दो फुट लंबाई, चौड़ाई और गहराई से लेकर 25-30 फुट लंबी, 10-15 फुट चौड़ी और 8-10 फुट गहरी होती हैं। इनमें चारों ओर पत्थर की सुंदर पौड़ियाँ होती हैं और गंदे पानी के निकास के लिए भूमिगत मोरियाँ बनी रहती हैं। निरमंड गाँव में इसी प्रकार का एक बृहत् जलाशय था—'चंडी बावली'। यह बावली 25 फुट लंबी, 12 फुट चौड़ी और 8 फुट गहरी थी। इसकी मुँडेर पर बड़े-बड़े चौड़े पत्थर बिछाए गए थे, जो स्नान के काम आते थे। बावली तीन ओर से दीवारों से घिरी थी, जिसके ऊपर छत थी। कुछ वर्ष पहले जब नलकूप में बदलने के लिए इसे तोड़ा गया, तब इसके तल में जल-निकास के लिए एक भूमिगत मोरी मिली, जो मिट्टी के अधपके गिलासों से बनी थी। यह मोरी लगभग 50 फुट दूर तक जाती थी। इन गिलासों को एक-दूसरे से इस प्रकार मिलाया गया था कि पानी की एक बूँद भी बाहर नहीं जाती थी। यह बावली तो नष्ट हो गई, परंतु सौभाग्यवश इस प्रकार की छोटी-बड़ी कई महत्त्वपूर्ण बावलियाँ अन्यत्र बची हुई हैं। इनमें प्रमुख भ्रमौर की 'अर्धगया बावली' है।

हम जब यह ध्यान दें कि मोहनजोदड़ो के महान् स्नानघर के जलाशय की लंबाई 39 फुट, चौड़ाई 23 फुट और गहराई 8 फुट थी, तो पर्वतीय क्षेत्र की चंडी

Digitised by
Tharah Kardu

बावली का महत्त्व स्पष्ट हो जाता है और इससे दोनों प्रकार के जलाशयों का पारस्परिक संबंध भी प्रमाणित हो जाता है। वसिष्ठ जैसे प्राचीन ऐतिहासिक तीर्थस्थलों में इन बावलियों के तीन ओर जिस प्रकार के बरामदे और कमरे हैं, लगभग उसी प्रकार के कमरे और बरामदे मोहनजोदड़ो के महान् स्नानगृह की खुदाई से मिले हैं। एक रोचक किंतु साधारण दीखने वाला साम्य गुजरात के कच्छ क्षेत्र में सरस्वती-सिंधु सभ्यता के दिनों के लगभग 5,000 वर्ष पूर्व फलते-फूलते नगर धौलावीरा की खुदाई से सामने आया है। नगर के बीचोबीच एक विशाल मैदान था, जिसके डोर पर बैठने के लिए स्थान बनाया गया था। खुदाई करने वाले पुरातत्त्ववेत्ताओं का कहना है, यह सार्वजनिक मनोरंजन-स्थल था। आश्चर्य यह कि हिमाचल में बड़े-बड़े प्राचीन गाँवों के बीच में भी इस प्रकार के स्थल होते हैं, जिन्हें सतलुज उपत्यका में 'शना' तथा अन्यत्र 'सौह' कहा जाता है। यहीं मेले होते हैं, नृत्य होते हैं, मनोरंजन के दूसरे आयोजन होते हैं।

वेशभूषा में भी अनेक समानताएँ दिखाई देती हैं। मोहनजोदड़ो तथा अन्य स्थानों से अभी तक इस प्रकार का कोई नमूना नहीं मिला, जिससे ज्ञात हो कि तब किस प्रकार के वस्त्र पहने जाते थे। किंतु मूर्तियों से मालूम होता है कि प्रायः एक ही वस्त्र सारे शरीर को ढाँकता था। ऊपर के भाग पर एक शॉल-सी ओढ़ी जाती थी और निचले भाग के गिर्द एक वस्त्र धोती की तरह लपेटा जाता था, ऐसा एक मूर्ति के वस्त्रों से संकेत मिलता है। शरीर के ऊपर के भाग का वस्त्र बाएँ कंधे के ऊपर से डालकर दाएँ कंधे के नीचे से ओढ़ा जाता था, जिससे दायाँ बाजू खुला रहे, पर छाती तथा शरीर के अन्य भाग ढक जाएँ। ठीक इसी प्रकार का पहनावा आज भी हिमाचल के अनेक भागों में मुख्यतः निम्न वर्ग की स्त्रियाँ पहने हुए मिलेंगी। एक ही पट्टु (चादर) सारे शरीर को ढाँप लेता है। कमर के पास जिस प्रकार मोहनजोदड़ो की एक मूर्ति एक रस्सी-सी लपेटे दीखती है, उसी प्रकार के 'रेजटा' से हिमाचल की ये नारियाँ भी पट्टु या दोहड़ू को कसकर रखती हैं। 'गाची' जैसा चौड़ा वस्त्र भी उस युग में पहना जाता था, ऐसे संकेत मिलते हैं। इससे भी विचित्र स्थिति स्त्रियों के सिर के पहनावे की है। मोहनजोदड़ो एवं हड़प्पा में शिरोभूषा बहुत भारी तथा अलंकृत होती थी। यह शिरोभूषा किस वर्ग के लोगों में प्रचलित थी, कहना कठिन है। पंखे की आकृति का शिरोवस्त्र विशेष प्रिय जान पड़ता है। यह पीछे से शायद किसी पक्के नाड़े से थामा जाता था। इस प्रकार की शिरोभूषा संसार के किसी अन्य प्रदेश में देखने को नहीं मिलती। मोहनजोदड़ो और हड़प्पा में भी यह शिरोभूषा उन्हीं मूर्तियों तक सीमित है, जिन्हें पुरातत्त्वज्ञ मातृदेवी की मूर्तियाँ मानते हैं। आंतरिक हिमाचल में पर्वों, त्योहारों और उत्सवों में इस प्रकार की शिरोभूषा देखने को मिलती है। इसे

tharahkardu.in

'गूजर' कहते हैं। बालों को सिर के पीछे इकट्ठा कर लिया जाता है, उन्हें काले ऊनी धागों 'बोनणी' से लपेटा जाता है, और ऊपर से पीला वस्त्र उन्हें ढाँपे रखता है। इस पीले वस्त्र को 'जगातरा' कहते हैं। इसके ऊपर लाल वस्त्र लगाया जाता है, जो 'पणेशणी घाटू' कहलाता है। इस प्रकार यह शिरोवस्त्र पंखे के समान नीचे की ओर खुलता है। यह हू-ब-हू मातृदेवी के शिरोवस्त्र की प्रतिलिपि ही प्रतीत होता है। 'गूजर' से मिलता-जुलता एक दूसरा शिरोवस्त्र है जिसे 'टाली' या 'चूँडा' कहते हैं। पब्बर उपत्यका में ब्राह्मण स्त्रियाँ तथा अन्यत्र खश, राहू, कनैत तथा हरिजन विवाहित नारियाँ इन्हें धारण करती रही हैं। टाली या चूँडे में ब्राह्मण स्त्रियाँ तो बालों को सिर के ऊपर इकट्ठा करके उसके ऊपर लाल या केसरी रंग की पगड़ी-सी लगाती थीं, पर खश तथा हरिजन स्त्रियाँ इन बालों को पहले तो काली ऊन की लंबोतरी-सी टोपी में बाँधती और उसके ऊपर सफेद कपड़ा चार तह करके लपेटा करती थीं। राहू स्त्रियाँ चूँडे पर काला घाटू लपेटती थीं। घाटू से पहले सिर के बाल लगभग उसी प्रकार के गूँथे जाते हैं, जिस प्रकार प्राचीन काल में ऋषि बालक या बालिकाएँ गूँथा करते थे।

मोहनजोदड़ो से प्राप्त कतिपय मुद्राओं से लगता है कि उस युग में पुरुष लंबे बाल रखा करते थे, जो कभी-कभी सिर के बीच से कटे रहते थे। उसी प्रकार के बालों का प्रचलन हिमाचल के कई भागों में था और कहीं-कहीं तो आज भी उसी प्रकार के बाल, जिन्हें 'ओझरे' या 'झुलपें' कहते हैं, इक्के-दुक्के वृद्ध के सिर पर दीख पड़ते हैं। 'ओझरे' में माँगपट्टी उस्तरे से साफ की हुई होती है।

हिमाचल में आभूषण तो वही हैं जो सिंधु घाटी में थे। कभी-कभी तो यह धोखा हो जाता है कि संग्रहालय में रखे गए मोहनजोदड़ो के आभूषण किसी हिमाचली नारी के पुराने आभूषणों की पिटारी से निकालकर ही रखे गए हों। सिर से लेकर पैरों तक के वही जेवर। कान के झुमके, ढेढू, गले की कंठियाँ, दाड़माड़ा, कठमाड़ा, जौमाड़ा। चमकली में अब भी अंगूर की गुठलियों की आकृति की फलियाँ लगती हैं। हाथ के कंगन, जिन्हें ढागलू भी कहा जा सकता है और पाँव की नेउरियाँ ठीक उसी तरह की हैं जैसी आज से पाँच-छह हजार वर्ष पूर्व उस युग में हुआ करती थीं। हाटकोटी की वज्रेश्वरी देवी के गले में मूँगों, मुंडों के हार उन हारों के समान हैं, जो संग्रहालयों में देखने को मिलते हैं। चाँदी के प्रति वही लगाव, जो सरस्वती-सिंधु क्षेत्र में रहा कहा जाता है।

खुदाई में पत्थर की ओखलियाँ और पीसने की पट्टियाँ भी मिली हैं। हिमाचल प्रदेश में तो घर-घर में, प्रत्येक खलिहान में धान कूटने की पत्थर की 'कानी' या ओखली होती है या कहें, हुआ करती थी।

अन्न रखने के लिए मोहनजोदड़ो में मिट्टी के बड़े-बड़े घड़े हुआ करते थे,

Digitised by
Tharah Kardu

जिनकी ऊँचाई चौड़ाई से कम होती थी, उनके मुँह चौड़े किंतु जो घड़े लंबे हुआ करते थे, उनके मुँह अपेक्षाकृत कम चौड़े होते थे, इस प्रदेश के आंतरिक भागों में भी लगभग यही व्यवस्था अन्न रखने की रही है। भ्रमौर के इलाके में 'कुल्ह' ठीक उसी प्रकार के मिट्टी के घड़े हैं। अन्यत्र मिट्टी के घड़ों के स्थान पर बेंत के घड़ों से काम लिया जाता है जिन्हें 'दूँढकू' और 'दूँढकी' कहा जाता है। 'दूँढकू' चौड़ी आकृति का और 'दूँढकी' लंबी शक्ल की होती है। यह मोहनजोदड़ो के घड़ों का ही प्रतिरूप है।

इसी प्रकार भोजन के लिए पत्थर की थाली का प्रयोग किया जाता था। हिमाचल प्रदेश में भी खाने के लिए लकड़ी की थाली बरती जाती रही है जिसे 'कोशा' कहते थे। विद्वानों का कहना है कि मोहनजोदड़ो और हड़प्पा के लोग मांसाहारी थे। हिमाचल तो मांस खाने वालों का ही प्रदेश है, जहाँ प्रत्येक उत्सव पर 'खाडू बकरे', मेढ़े और बकरे काटे जाते हैं।

सिंधु-सरस्वती सभ्यता के लोगों को ताँबा और काँसा धातुओं का ज्ञान था, अतः इनके अधिकांश बर्तन ताँबे और काँसे के थे। हिमाचल प्रदेश में भी ये दोनों धातुएँ बड़ी लोकप्रिय रही हैं। लोटा, थाली, प्याला और गिलास प्रायः काँसे के ही होते थे। खाने, पकाने और पानी रखने के बड़े-बड़े बर्तन, जो मंदिरों जैसे सार्वजनिक स्थानों के पास हैं, आज भी केवल ताँबे के हैं।

सिंधु सभ्यता तथा हिमाचली संस्कृति की ये समानताएँ महत्त्वपूर्ण हैं। ये सिद्ध करती हैं कि सिंधु सभ्यता केवल नगरों तक सीमित नहीं थी, उसका विस्तार-प्रसार व्यापक था, जिसमें ग्रामीण क्षेत्र भी शामिल था। यों भी उद्योग और व्यापार पर आधारित नगर को अपने आहार, कृषि उत्पाद और श्रम की पूर्ति ग्रामीण पार्श्व क्षेत्र से ही करनी होती है। इसके बिना उसका अस्तित्व अधिक देर तक बना नहीं रह सकता।

स्वतंत्रता-प्राप्ति के उपरांत भारत में हुए पुरातात्त्विक अनुसंधानों से कच्छ में धौलावीरा, सौराष्ट्र में लोथल, राजस्थान में कालीबंगा व बनवाली, हरियाणा में राखी गढ़ी तथा पंजाब के रोपड़ में मिले नगर-अवशेष सरस्वती-सतलुज के इस क्षेत्र को सिंधु सभ्यता के अभिन्न अंग के रूप में सामने लाते हैं, इसीलिए इस सभ्यता का नाम अब सरस्वती-सिंधु सभ्यता पड़ गया है। इस दृष्टि से सिंधु और सरस्वती के समूचे जल-संग्रहण क्षेत्र की गिनती इसमें होती है, जिससे हिमाचल के संग पश्चिमोत्तर में गांधार, कपिशा, कम्बोज तथा वाह्लीक अर्थात् हिंदुकुश-पामीर तक का हिमालयी भूभाग भी इस सभ्यता की परिधि में आता है। यह स्वाभाविक है कि जो क्षेत्र नगरों से जितना दूर होगा, उतना क्षीण उस पर नगर-सभ्यता का प्रभाव होता जाएगा। उदाहरण के लिए इस सभ्यता के नगरों की खुदाई से जो पशु-चित्रों और लिपि-अक्षरों वाली मुद्राएँ, मोहरें मिली हैं, वह इन ग्रामीण इलाकों में नहीं मिलेंगी, क्योंकि उनकी

tharahkardu.in

यहाँ कोई उपयोगिता नहीं थी। दूसरे सरस्वती-सिंधु मैदानी भाग में अवशेष भूमि में दबे मिले, जबकि हमारे विवेच्य क्षेत्र में ये भूमि के ऊपर जीते-जागते मौजूद हैं। वैसे पाकिस्तान के चोलिस्तान मरु क्षेत्र में पुरातत्त्ववेत्ताओं को लगभग छह सौ ऐसी बस्तियों का पता चला है, जिनमें एक सौ से लेकर पाँच सौ तक घर हुआ करते थे। हिमाचल में सतलुज के किनारे मंडी, शिमला और कुल्लू में पाँच ऐसी पुरातन हड़प्पाकालीन बस्तियाँ हैं जो 'पांजशौए नौगरी', 'चौनशौए नौगरी' तथा 'दोआ शौए नौगरी', अर्थात् पाँच सौ की नगरी, तीन सौ की नगरी, दो सौ की नगरी कहलाती हैं। डी०डी० कौसंबी का कहना है कि प्राचीन भारत में इस तरह के एक सौ से लेकर पाँच सौ घरों की बस्तियों का प्रचलन था।

ये पाँचों 'नगरिया', जिन्हें 'स्थान' का नाम दिया गया है, हड़प्पा बस्तियाँ हैं। स्थल पुराण 'पुरोहड़' के अनुसार शिवालिक के उत्तर में परशुराम ने इस तरह की पंद्रह बस्तियाँ बसाई थीं। बाकी दस का पता नहीं चल रहा है, जीवित हैं तो मंडी में ममेल और काव, शिमला में निरत एवं नगर तथा कुल्लू में निरमंड। ये सभी सतलुज नदी के किनारे स्थित हैं। परंपरा कहती है कि हड़प्पा से आए लोगों के लिए स्थानीय नाग-दैत्य जनों ने भूमि दी थी। नाग देवता के गूर हमेशा इस बात पर जोर देते हैं कि आरंभ में इन स्थानों की जगह उनकी थी। उन्होंने ही इसे परशुराम के साथ आए ब्राह्मणों के लिए दिया है। यह घटना तब की है जब सरस्वती के लुप्त हो जाने पर हड़प्पा वालों को पलायन करना पड़ा था।

उपर्युक्त विवेचन से हम यह कह सकते हैं कि हिमाचल प्रदेश के लोगों की एक बहुत बड़ी संख्या सरस्वती-सिंधु-युगीन लोगों की वंशज ही है; और यदि वे एक ही जाति के लोग थे, तो केवल नाग और उनके सजातीय बंधु खश हो सकते हैं। किंतु जैसा कि हम पहले कह चुके हैं, बहुत-से भारतीय और पाश्चात्य विद्वान् यह मनवाते दीखते कि उस शहरी सभ्यता के निर्माता द्रविड़ थे। इन्हें द्रविड़ मानने के समर्थन में ये विद्वान् सिंधु घाटी सभ्यता तथा द्रविड़ सभ्यता के बीच अनेक समानताओं का उल्लेख करते हैं। उनका कथन है कि वर्तमान हिंदू धर्म और दर्शन के वे तत्त्व, जिनका उद्भव वैदिक धर्म से नहीं हुआ अथवा जिनका बीज वैदिक साहित्य में नहीं मिलता, द्रविड़ अथवा सिंधु घाटी सभ्यता से उद्भूत हैं।

इस प्रकार के तत्त्वों में वे सर्वप्रमुख स्थान हिंदू धर्म में देवी (ईश्वर का नारी स्वरूप) की पूजा तथा उसके महत्त्व को देते हैं। वेदों तथा इतर-वैदिक साहित्य में ईश्वर के पुरुष रूप के पूजन का ही उल्लेख है। वस्तुतः वेदों में नारियों का वर्णन ही अत्यंत संक्षिप्त हुआ है। देवियों में केवल वाक् व अदिति की चर्चा की गई है और उनकी पूजा भी अन्य देवताओं की भाँति नहीं होती थी। आधुनिक हिंदू धर्म में देवी

Digitised by
Tharah Kardu

दुर्गा विश्व की सबसे बड़ी शक्ति मानी जाती हैं।

दूसरी विशेषता शैव देवताओं का बाहुल्य है। हिंदू धर्म में जो भी शैव देवता हैं, वे सब अवैदिक हैं। काली अथवा दुर्गा और दक्षिण भारत का अय्यप्पन देवता इस प्रकार के शैव देवताओं में अधिक प्रसिद्ध हैं। अय्यप्पन शिव का पुत्र माना जाता है जिसने समुद्र-मंथन के उपरांत देवताओं में अमृत बाँटा था।

धर्म में वनों का महत्त्व एक तीसरा तत्त्व है जिसे द्रविड़ सभ्यता की देन माना जाता है। वैदिक देवता सब नागरिक हैं, वे वनों में नहीं रहते, वे रथों में आते हैं, जिनमें घोड़े जुते रहते हैं। किंतु शैव देवता प्रायः सभी वन-देवता हैं। अय्यप्पन और दुर्गा के मंदिरों को ही दक्षिण भारत में 'काबू' कहा जाता है, जिसका अर्थ है—वन या कुंज।

पशु, पक्षी, वृक्ष आदि का महत्त्वपूर्ण स्थान हिंदू धर्म को द्रविड़ सभ्यता की एक अन्य देन कहा जाता है। गो-पूजा इसी प्रभाव का फल है। यह द्रविड़ अथवा सिंधु घाटी सभ्यता का ही प्रताप है कि अनंत को विष्णु की शय्या माना गया, शिव के गले में वासुकि का हार पहनाया गया एवं ब्रह्मा, विष्णु, महेश, गणेश, सरस्वती आदि के वाहन पशु-पक्षी माने गए और पीपल और बड़ जैसे वृक्षों की पूजा होने लगी। ईश्वर का किसी राष्ट्रीय नेता के रूप में अवतरित होना एवं स्वयं किसी मनुष्य का देवत्व प्राप्त कर लेना एक और ऐसा तत्त्व है जिसे सिंधु घाटी सभ्यता या द्रविड़ सभ्यता से लिया गया माना जाता है।

जिन द्रविड़ और सिंधु घाटी समानताओं का उल्लेख हमने ऊपर किया है, ठीक उसी प्रकार की समानताएँ हिमाचल के लोक धर्म और द्रविड़ धर्म में भी मिलती हैं। हिमाचल प्रदेश के लोग भी शैव हैं जिनके लिए शिवरात्रि का त्योहार ही सर्वप्रमुख पर्व है। यदि तमिलनाडु में वह 'सेम्बू' कहलाता है तो हिमाचल में वह 'शंभु' और 'साँई' बन जाता है। शाक्त मत यदि द्रविड़ प्रदेश में प्रचलित है, तो हिमाचल के लोग भी शक्ति, देवी, दुर्गा या किसी अन्य ग्राम-देवी को ही ईश्वर का स्थान दे देते हैं। दोनों लिंग की पूजा करते हैं, दोनों 'पिंडी' की आराधना करते हैं और उसमें देवत्व को आरोपित करते हैं। पशु, पक्षी, वृक्ष आदि की पूजा जैसी सिंधु घाटी सभ्यता क्षेत्र में हुआ करती थी, या जैसी द्रविड़ सभ्यता के अंतर्गत होती है, उसी प्रकार हिमाचल प्रदेश में भी। यहाँ बड़ और पीपल तो पूजनीय हैं ही, साथ में देवदारु का कोई प्राचीन मोटा वृक्ष भी उतना ही पूज्य है। ग्राम-देवता और अन्य देवता भी द्रविड़ के समान वनों में रहना अधिक पसंद करते हैं। सामान्यतः उन्हें मंदिरों की चारदीवारी की कैद अरुचिकर है। यदि उन्हें मंदिर के भीतर रहना भी पड़ा, तो प्रयत्न यही रहा कि भवन छोटा-सा ही हो। अपनी इच्छा को यह देवता बड़ी सीमा तक पूरा कर पाए हैं। यदि कहीं देवता का 'देउरा' किसी भवन में है तो कहीं केवल तीन ओर की चार-छह फुट

tharahkardu.in

ऊँची दीवारें और उन पर 25-30 स्लेटें ही 'देउरे' या 'देहरे' का काम दे देती हैं, चौथी ओर का खुला भाग प्रवेश-द्वार का काम देता है। हिमाचल के अनेक ग्राम-देवी-देवता ऐतिहासिक मानव हैं, जिन्हें देवत्व प्रदान कर पूजा का पात्र बनाया गया है।

यदि स्थिति यह है तो कतिपय रोचक प्रश्न उत्पन्न होते हैं—

(1) क्या हिमाचल का लोक-धर्म द्रविड़ है ?

(2) क्या यहाँ के आदिवासी द्रविड़ हैं ?

(3) क्या वे भारतीय और पाश्चात्य विद्वान्, जो सिंधु सभ्यता को द्रविड़-मूलक मानते हैं, ठीक हैं ?

(4) क्या हिमाचल की संस्कृति आदिम संस्कृति है ?

जहाँ तक हिमाचल का संबंध है, यह अधिकारपूर्वक कहा जा सकता है कि यहाँ द्रविड़ प्रजाति नहीं आई। इस तथ्य का एक सुदृढ़ प्रमाण यह है कि हिमाचली लोग प्रजाति तत्त्वों की दृष्टि से द्रविड़ नहीं हैं। दूसरे हिमाचली भाषा को द्रविड़-प्रभाव छू तक नहीं गया है।

यह तो सिद्ध है कि इस प्रदेश में द्रविड़ नहीं बसते थे, पर तर्क के लिए यह मान लिया जाए कि प्रागैतिहासिक काल में यहाँ कोई लोग बसते ही नहीं थे और समूचा प्रदेश निर्जन था, तो क्या यह संभव नहीं कि जब देश के मैदानी भागों से अथवा देश के बाहर से आकर लोग यहाँ बसे, तो वे चाहे स्वयं अद्रविड़ हों या नहीं, पर द्रविड़ संस्कृति से अवश्य प्रभावित रहे होंगे ? तो क्यों यहाँ उस तरह का प्रभाव नहीं है ? वैसे इस प्रदेश का निर्जन होना हास्यास्पद सुझाव से अधिक कुछ नहीं है।

यह निर्विवाद तथ्य है कि न तो हिमाचल के आदिवासी द्रविड़ थे और न ही हिमाचली लोक-धर्म द्रविड़ है। इस संदर्भ में एक शंका उत्पन्न होती है—यदि हिमाचल पर कोई द्रविड़-प्रभाव नहीं तो दोनों संस्कृतियों में मूलभूत समानता क्यों है ? उत्तर स्पष्ट है, दोनों संस्कृतियों का स्रोत एक ही है, वैदिक सरस्वती-सिंधु सभ्यता, जिसके निर्माण में अनेक जनों के संग ये दो—द्रविड़ और हिमाचली नाग-खश—भी शामिल थे। वैदिक समाज एकपिंडीय नहीं था। इसमें अनेक गण सम्मिलित थे। ऋग्वेद में यदु, तुर्वश, द्रुह्यु, पक्थ, भलान, अलि, शिव, पुरु, कुरु, शिग्रु आदि गणों के नाम आते हैं। इतना ही नहीं, उपर्युक्त गण अपने समय की पूरी वास्तविकता के सूचक नहीं हैं। इनके अतिरिक्त अन्य अनेक गण रहे होंगे, कौशिक, अलिन, मत्स्य, अज, अहि, नाग आदि टोटम-आधारित गण।

वैदिक समाज को हड़प्पा से भिन्न सिद्ध कर उसे द्रविड़ घोषित करने के लिए जो प्रमुख तर्क दिए जा रहे हैं, वे हैं भाषा, लिपि तथा धर्म और विश्वास की भिन्नता। एक बात बार-बार दुहराई जाती है कि वैदिक समाज पितृ-प्रधान था और हड़प्पा

Digitised by
Tharah Kardu

सभ्यता मातृ-प्रधान। रोमिला थापर इसे इंद्र और वृत्र संघर्ष (हिमाचली बुढ़ी दियाउड़ी-बिरतासुर मेला में अभिनीत) से जोड़ते हुए कहती हैं कि ऋग्वेद की कथाएँ जिनमें इंद्र वृत्र की हत्या करता बताया गया है इस तथ्य की प्रमाण हैं कि यह महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक संघर्ष पितृ-प्रधान गड़रिये-चरवाहे जनों और मातृ-प्रधान शिष्ट नागर जनों के बीच था। इस बात पर भी जोर दिया जाता है कि हड़प्पावासी लिंगपूजक थे, जबकि ऋग्वेद में इसकी भर्त्सना की गई है। हड़प्पा सभ्यता का एक प्रधान देवता रुद्र था, जबकि वैदिक परंपरा में इसके प्रति भय और उपेक्षा का भाव दिखाई देता है। हड़प्पा वाले साँपों, पशुओं तथा वृक्षों की पूजा करते थे, जबकि वैदिक परंपरा में इनको बाद में अपनाया गया। वैदिक देवताओं की तुष्टि के लिए यज्ञों का अनुष्ठान करते थे, जबकि हड़प्पा में मूर्ति-पूजा का प्रचलन था।

अत्यंत रोचक स्थिति यह है कि हड़प्पा सभ्यता की जिन प्रमुख विशेषताओं की गिनती की गई है, वे सभी हिमाचली समाज की भी विशेषताएँ हैं। वे लिंग-पूजक हैं, उनके झीरू शैली के अनेक मेले इसी तथ्य को दर्शाते हैं, किंतु इसका नाम ऋग्वेद ने शिश्न देवाः दिया है। हिमाचली समाज नाग-पूजक है। अधिकांश ग्राम और खूँद देवता मूलतः नाग ही हैं। वे वृक्षों की पूजा करते हैं, पशुओं को दूर की चरागाहों पर हार पहनाकर भेजते हैं, और रुद्र बूढ़ा महादेव बन समाज के जीवन में रचा-बसा है। वह पशुपति-पशशी भी है, वनस्पतियाँ उसका परिधान हैं, शिवरात्रि में वह यही रूप धारण करता है। मूर्ति-पूजा यहाँ की प्राचीन परंपरा है और कलात्मक मूर्तियाँ, मीहरें, मोहरे, महत्त्वपूर्ण उद्योग। प्रत्येक देवता रथारूढ़ होकर मंदिर से बाहर निकलता है। बीसियों मीहरों को धारण करके, लगता है, विश्वदेवों को लेकर चल रहा है। इन मूर्तियों की विशेष शैली है, सत्व, रजस और तमस गुणों की प्रतिनिधि। मुख (मुख्य) मीहरा प्रायः सत्त्व का प्रतीक होता है। समाज में घर के, कुटुंब के मुखिया, स्याणा, को देखें तो वह पुरुष-प्रधान दीखता है, यदि प्रायः लुप्त हुई जाती बहुपति प्रथा पर ध्यान दें, तो वही समाज स्त्री-प्रधान भी माना जा सकता है। बहुपति परंपरा लगभग सभी वर्गों में रही है, अतः किसी वर्ग, समुदाय विशेष को अलग करना कठिन है।

यह भी दावा किया गया है कि 'भले ही सिंधु घाटी की मुद्राओं की लिपि अभी तक पढ़ी न गई हो, फिर भी इस पर आम सहमति है कि यह भाषा द्रविड़ है।' भारत में आर्यों के प्रवेश के समय आद्य-द्रविड़ भाषाओं का उत्तर भारत में महत्त्वपूर्ण स्थान था। इन विद्वानों के एक वर्ग का मानना है कि 'संस्कृत भाषा का द्रविड़ भाषा को प्रभावित करने के एक हजार वर्ष पूर्व द्रविड़ भाषाएँ संस्कृत को प्रभावित कर चुकी थीं।' हाँ, यह दूसरी बात है कि इस विचारधारा के विद्वानों को यह खेद जरूर है कि 'प्रगतिशील विद्वान् भी द्रविड़ भाषाओं की महत्ता को स्वीकारने से झिझकते हैं।'

tharahkardu.in

हड़प्पा सभ्यता को द्रविड़ सभ्यता घोषित करने वालों में मुख्य रूप से हेरास, स्कैंडिनेवियाई पार्पोला दल, (रूसी) क्रोरोजोव दल, इरावदम् महादेवन, टी०के०बी० सुब्रामेनियन और आर०एस० शर्मा का उल्लेख किया जा सकता है। इनकी मान्यता का सीधा सरल आधार यह रहा कि हड़प्पा भारत में आर्यों के प्रवेश से पहले की अनार्य सभ्यता है, अतः संभावना है कि यह द्रविड़ सभ्यता ही रही होगी। जो विद्वान् हड़प्पा सभ्यता को वैदिक सभ्यता मानते हैं, वे इनकी दृष्टि में 'सनकी' हैं।

हड़प्पा सभ्यता के निर्माताओं में अनेक नृजातीय तत्त्व विद्यमान थे, जो आज भी उस क्षेत्र में विद्यमान हैं। डी०के० सेन के अनुसार पंजाब, बलूचिस्तान, सिंध और गुजरात में उस काल में बसे हुए लोग, इन क्षेत्रों में आज बसे लोगों से किसी अर्थ में भिन्न नहीं थे। नेस्फील्ड ने बहुत पहले सुझाया था कि भारत के सवर्णों और असवर्णों को नृतात्त्विक आधार पर अलग किया ही नहीं जा सकता है। कीथ इस बात की पूरी संभावना मानते हैं कि भारत की वर्तमान जनसंख्या का विकास यहाँ के ही मूल निवासियों से हुआ है। अब यह माना जाने लगा है कि हड़प्पा सभ्यता के निर्माताओं के विषय में जो उपलब्ध जानकारी है, वह इस मान्यता का निषेध करती है कि नए सांस्कृतिक तत्त्वों को लेकर भारत में किसी भी अन्य क्षेत्र से किन्हीं जनों का प्रवेश हुआ था।

हिमाचल के संदर्भ में लगता है कि हड़प्पा सभ्यता और वैदिक सभ्यता में भेद करने वाले लोग बुढ़ी दियाउड़ी-बिरतासुर मेले के गढ़िया-दानवों को ही दो विरोधी वर्गों में बाँटकर देखते हैं और इसमें आर्य-अनार्य भेद और विग्रह का प्रतिबिंब पाते हैं। गढ़िए ग्रामीण इंद्र के वैदिक आर्य तथा दानवे-वृत्र को सिंधु की नागर सभ्यता के जन। अर्थात् गढ़िए याज्ञिक और दानवे शिश्न देवाः। किंतु यथार्थ यह है कि दोनों नृतात्त्विक आधार पर एक ही जन थे, कबीले भले ही अलग-अलग रहे हों। यों वैदिक समाज में भी दैत्य, असुर केवल दानवों को ही नहीं कहा गया है, पुरुओं को भी शतपथ ब्राह्मण के अनुसार असुर कहा जाता था। इसमें कोई संदेह नहीं कि हिमाचल के दानवे-नाग और गढ़िए-खश इस क्षेत्र के मूल जन हैं और आज भी समाज में इनकी प्रधानता बनी हुई है।

हमने खशों और नागों को एक ही नृजाति के अंग अथवा कबीले के रूप में देखा है। कारण नसली मूल और सांस्कृतिक धरातल पर इनमें कोई अंतर नहीं है। परंपरा से दोनों आदि पुरुष कश्यप के वंशज माने जाते हैं। दोनों नाग देवता की पूजा करते हैं। महादेऊ, शिव, पशशी-पशुपति दोनों के साँझे हैं। यदि खश विजटदेऊ, इंद्र को मान्यता देते हैं तो नाग भी उनके नाम की सौगंध खाते हैं। यों भी खान-पान, रहन-सहन प्रायः एक-सा है। दोनों पशुपालक, कृषक और भूस्वामी हैं। दोनों

Digitised by
Tharah Kardu

समुदायों में कुटुंब का मुखिया सामान्यतः 'सयाणा' ही होता है। दोनों में बहुपति, ढेरी, रीत प्रथाओं का प्रचलन रहा है। हिमालय में इनका विस्तार-प्रसार क्षेत्र एक ही रहा है, नेपाल से हिंदूकुश तक। यहाँ यह बताना उचित होगा कि इस विवेचन में हम नाग उन लोगों को ले रहे हैं जो 'बुढ़ी दियाउड़ी', वृत्र-इंद्र संघर्ष, में वृत्र समर्थक दानव बना करते रहे हैं, और जिन्हें हड़प्पा सभ्यता को अनार्य कहने वाले विद्वान् उसका जन्मदाता ठहराते हैं।

इस संदर्भ में कुछ-एक प्रश्न स्वाभाविक हैं : यदि ये एक ही जाति या कबीलों के थे, तो इंद्र-वृत्र संघर्ष में एक-दूसरे के शत्रु क्यों बने ? क्यों वह शत्रुता चलती रही और इन तथाकथित इंद्र विरोधियों को अकर्मण, अदेब्यू, अन्य-व्रत, अपव्रत, शिशन देव, अव्रत, अनृझ्क् आदि कहा गया ? क्या तब से ही ये लोग अवैदिक जन समझ लिए गए थे ?

इन प्रश्नों के संबंध में यह ध्यान में रखना होगा कि इंद्र-वृत्र संघर्ष उस काल का है जब समाज नाम का कोई संगठन नहीं था। हिमालयी मानव तब शायद गुफा-निवासी, कंद-मूल-आखेट पर निर्भर था। समय के साथ दूर-पास रहते कबीलों का एक-दूसरे से संपर्क हुआ। वह न तो सदैव मित्रता का था, न ही शत्रुता का। उसमें जिज्ञासा का अंश भी था, ये कौन हैं का भाव। तब इनका न कोई नाम था और न जाति। नाग-खश नाम बाद के हैं। धीरे-धीरे जीने के साधनों की महत्ता का एहसास होने लगा, उन पर अपना अधिकार बनाए रखने या दूसरे के साधनों को हथियाने का। यही कारण बना साधन, सत्ता और वर्चस्व के संघर्ष का, जो बहुत लंबा चला। कभी एक पक्ष जीतता, कभी दूसरा। इंद्र-वृत्र संघर्ष से मिथकीय आवरण हटा दिया जाए, तो यही सत्य सामने आएगा। साधन-सत्ता में निर्णायक जीत पाने वालों ने नए समाज, नई आचारसंहिता बनाई। इसे सभी कबीलों, यहाँ तक कि विजयी कबीलों के लोगों ने भी, पूरी तरह स्वीकार नहीं किया। संख्या में अस्वीकार करने वाले ज्यादा थे, उन्हें परंपरित कबीलाई आचार-व्यवहार में परिवर्तन अमान्य रहा। इसी प्रवृत्ति से उन्हें ऋत, व्रत, यज्ञ का आग्रह करने वालों का कोपभाजन बनना पड़ा और शिशन देवाः, अदेव, अयज्ञ आदि विशेषण अर्जित किए। किंतु इन विशेषणों से हिमालय के लोगों का लेना-देना नहीं रहा। उदाहरण के लिए तथाकथित शिशन देवों को लें। देश के मैदानी भागों से आए जनों को छोड़ समूचा हिमालयी समाज इन शिशन देवों का है, क्योंकि वह जानता है कि उसके झीरू सरीखे मेलों-उत्सवों के प्रदर्शन उत्पादन और सृजन, सृष्टि के कारणभूत तत्त्वों के लाक्षणिक अभिव्यक्ति हैं। इसी स्तर पर खश और नाग एक तरह से एकाकार हो जाते हैं। यही उनकी पारस्परिक समानताओं का रहस्य है।

tharahkardu.in

तृतीय अध्याय

खश और ऋग्वैदिक मरुत

खशों और नागों को सजातीय सिद्ध करने पर भी एक प्रश्न बना ही रहता है। आखिर ये खश कौन हैं ? नागों का उल्लेख, जैसा हमने देखा, वैदिक वाङ्मय, संस्कृत साहित्य, इतिहास ग्रंथों और वंशावलियों में प्राचीन काल से होता आया है, किंतु खश नाम सर्वप्रथम महाभारत में मिलता है। उससे पूर्व यदि खश थे, तो क्या थे और कहाँ थे तथा वैदिक और उत्तर-वैदिक साहित्य में उनका उल्लेख क्यों नहीं ?

पुराणों में खशों से संबंधित कतिपय परंपराएँ हैं, जो कहती हैं कि उनका आदिपुरुष कोई ऋषि था। विष्णुपुराण में उनका जनक कश्यप ऋषि बताया गया है। अन्यत्र कहा गया है कि ऋषि वसिष्ठ की गाय, नंदिनी ने गाधिसुत विश्वामित्र से अपनी रक्षा के लिए, खश आदि अनेक जातियों को उत्पन्न किया था। वसिष्ठ का खशों के साथ संबंध का संकेत वायुपुराण में भी है। कहा गया है कि ऋषि वसिष्ठ ने ही राजा सगर के हाथों खशों के समूल नाश को रोका था।

स्कंदपुराण खश जनों के भौगोलिक विस्तार की चर्चा करते कहता है :

'खंडाः पंच हिमालयस्य कथिताः नैपाल कूर्मांचलौ।
केदारोऽच जालन्धरोऽच रुचिरः काश्मीर संज्ञोऽतिमः।'

"कि हिमालय के पाँचों खंड, नेपाल, कूर्मांचल (कुमाऊँ), केदार (गढ़वाल), जालंधर (त्रिगर्त-हिमाचल) और कश्मीर सभी खश क्षेत्र हैं।"

महाभारत भी एक तरह से इस उक्ति, या कहें वास्तविकता की, पुष्टि करता है। उसके अनुसार खश जन चारों दिशाओं से आकर महाभारत-युद्ध में सम्मिलित हुए थे। वे दोनों पक्षों की ओर से लड़े थे, जिसका प्रमाण यमुना क्षेत्र के खशों की पाँशी और शाठी खूँद हैं। पाँशी खश अपने आपको पाँच पांडवों का पक्षधर घोषित करते हैं और शाठी एवं साठी, साठ कौरवों का। ध्यान रहे, हिमालय में कौरव बंधुओं की गिनती प्रायः साठ मानी जाती है। बीसवीं शताब्दी के अंतिम दशकों तक ये पाँशी और शाठी अपना महाभारतयुगीन वैर निभाते आए थे और प्रतिवर्ष विशु मेले के अवसर पर प्रदर्शित ठोडा के खेल में परस्पर शत्रुता का निर्वाह करते हुए हत्या

Digitised by
Tharah Kardu

तक कर दिया करते थे।

खशों ने युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ में भी भाग लिया था। इसकी सूचना दुर्योधन ने पिता धृतराष्ट्र को दी थी। तब इनकी गणना श्रेष्ठ उच्चकुलीन क्षत्रियों में होती थी, जो हस्तिनापुर के युवराज के संग एक आसन पर बैठने के अधिकारी थे। उनका स्थान मेरु और मंदार के बीच शैलोदा नदी का क्षेत्र कहा गया था :

'मेरु मन्दारयों मध्ये शैलोदामभितो नदीम्
येते कीचक वेणुनाम् छांयां रम्यमुपास्ते।
खशाः एकासनाद्यर्हा प्रदरा दीर्घवेणवा
पारदाश्च कुलिन्दाश्च तंगणाः परतंगणाः।।'

(सभापर्व 52, 2-4)

ग्रियर्सन के अनुसार प्राचीन भारतीयों की दृष्टि में खश आर्य वंशज उच्च क्षत्रिय थे। किंतु मनुस्मृति काल तक आते-आते इन प्रतिष्ठित क्षत्रियों को क्रियाहीन वृषल (जातिच्युत) घोषित कर दिया गया था, क्योंकि इनका वेदों तथा वैदिक आचारों से संबंध टूट गया था :

'शनकैस्तु क्रियालोपाद् याहि क्षत्रिय जातयः,
वृषलत्वं गता लोके ब्राह्मणार्दशनेन च।
पौंड्रकाश्चौड्गविडा कम्बोजा यवनाः शका,
पारदाः पल्हवाः चीनाः किराताः दरदाः खशाः।।'

(म०स० 10, 43-44)

इस वृषलत्वं की स्थिति से उबरने का उपाय भागवत पुराण ने सुझा दिया था। विष्णु (कृष्ण) की शरण जाओ, शुद्ध हो जाओगे :

'किरात हुणान्ध्र पुलिन्द पुल्कसा, आमीर कंका,
यवना खशादयः।
येऽन्यच पापा यदुपश्रया शुध्यन्ति तस्मै
प्रभविष्णवे नमः।।'

(भाग 2.4.18)

हम देखते हैं कि धीरे-धीरे इन खशों के साथ अनेक नए जनों की भी गिनती की जाने लगी थी यथा किरात, हूण, पुलिन्द, पुल्कस, कंक, आमीर, कम्बोज, अंकविड, पौंड्रक, पल्हव, चीनी, दरद, पारद, कुलिंद, तंगण, परतंगण आदि। इन सबों

tharahkardu.in

को म्लेच्छ और पिशाच भी कहा जाने लगा।

इतिहास बताता है कि ईसा पूर्व तीसरी शताब्दी से हिमालय के उत्तर-पश्चिमी क्षेत्र—वाह्लीक, कम्बोज, गांधार और कपिशा, अर्थात् हिंदुकुश—पामीर क्षेत्र—में यवन, ग्रीक, शक, कुषाण आदि यूरोप, पश्चिमी एशिया, और मध्य एशिया से लोग आकर कुछ समय के लिए शासन की बागडोर हथिया गए थे। उन्होंने वहाँ बसना भी आरंभ कर दिया था। किंतु ये बहुत बड़ी संख्या में नहीं आए थे, अतः जातीय रूप में इनका नगण्य प्रभाव रहा और जो तत्त्व यहाँ बस भी गए थे, वे बृहत् समाज में क्षत्रियों की श्रेणी में पानी में नमक की तरह घुलमिल गए। उनका पृथक् अस्तित्व नहीं रहा। किंतु पुराना समाज—गंधर्व, यक्ष, किन्नर, नाग, किम्पुरुष, विद्याधर आदि देवयोनि जातियाँ और खश—एकदम अछूता नहीं रहा। नए आचार-विचार-संस्कार के संसर्ग से भाषा तथा सामाजिक व्यवस्था में थोड़ा बहुत परिवर्तन स्वाभाविक है, पहली-सी शुद्धता संभव नहीं थी। यही कारण है कि हम नई उपजातियों, कबीलों और उनके जनपदों और खूँदों के नामों की बाढ़-सी देखते हैं। दूसरे देश का राजनीतिक केंद्र मध्य देश से हटकर पूर्व में मगध-विहार चला गया था। हिंदुकुश पामीर आदि उत्तर-पश्चिम के क्षेत्र सीमावर्ती बनते जा रहे थे और देश के बाकी भागों से संपर्क की गहनता क्षीण होती जा रही थी। फिर भी यह माना जाता है कि इस क्षेत्र के इस्लामीकरण तक इनके धर्म और संस्कृति तथा जातीय शुद्धता बहुत बड़ी सीमा तक अक्षुण्ण रहे हैं, जिसका उदाहरण हमें उन वर्गों में मिलता है जिन्होंने धर्म-परिवर्तन या तो स्वीकार नहीं किया, या यदि किया भी, तब भी अपनी परंपरा से किसी न किसी रूप से जुड़े रहे हैं। इनकी चर्चा हम आगे करेंगे।

उन्नीसवीं-बीसवीं शताब्दियों में खशों पर काफी कुछ लिखा गया। इस अध्ययन में भाषाशास्त्र के अतिरिक्त तुलनात्मक भाषा-विज्ञान, देवशास्त्र, श्रुत परंपरा, साहित्य, नृतत्त्वविज्ञान आदि की सहायता लेने का प्रयत्न किया गया, किंतु तथाकथित आर्य आक्रमण और आर्य आगमन के सिद्धांत की व्यापकता से अभिभूत लगभग सभी देशी और विदेशी विद्वानों ने खशों को भी आर्य सिद्धांत की कसौटी पर परखा और इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि खश आर्यों के समान बाहर से भारत में आए हैं। बताया गया कि विदेशी मूल के ये लोग समय-समय पर आगे-पीछे शताब्दियों के अंतराल में आक्रमणकारी, अपने देश से भगाए गए शरणार्थी अथवा अपने पशुओं सहित सपरिवार अच्छे, सुखमय जीवन की खोज में आते रहे। इनके आने का ताँता ईसा पूर्व सातवीं शताब्दी से छठी-सातवीं ईसवी तक चलता रहा। इन्हें उत्तरी यूरोप, भूमध्यसागर क्षेत्र, मध्य एशिया और ईरान से आया सुझाया गया। कहा गया कि इनका रंग गोरा था, गेहुँआ, भूरा था, सिर लंबा था, गोल था, नाक लंबी थी, मोटी

Digitised by
Tharah Kardu

थी, माथे चौड़े थे और नाक-नक्श से मंगोल भी थे। इन परस्पर विरोधी निष्कर्षों से खशों के मूल का प्रश्न गहरे कोहरे में अदृश्य-सा हो गया। कहा गया कि खश भारत में वैदिकों से पहले, वैदिकों के बाद; अवैदिक, हड़प्पा के बाद की आक्रमणकारी; या आर्यों से पहले की आई जाति है।

किन्हीं इतिहासकारों, भाषाविदों, संस्कृत साहित्य के अध्येताओं के अनुसार खश ऐतिहासिक युग में भारत में आए हमलावर यवन, शक, कुषाण, हूण और गूजरों के वंशज हैं। इन्हें देशज न मानकर विदेशी घोषित किए जाने में संस्कृत साहित्य ने बड़ा काम किया। उसे प्रमाण माना गया। जैसा हमने देखा, महाभारत तथा पुराणों में खशों की गणना प्रायः सर्वत्र विदेशी या सीमावर्ती जातियों के साथ हुई है। भागवतपुराण इनकी गिनती किरात, हूण, पुलिन्द, पुल्कस, कंक, आमीर और यवनों के साथ करता है। महाभारत में खश, अर्ह, प्रदर, पारद, दीर्घवेणु, कुलिन्द, तंगण, परतंगण एक साथ गिनाए गए हैं। कल्कि और वायुपुराण में खशों का कम्बोज, चीनी, शबर, वर्वर जातियों के साथ उल्लेख हुआ है। विष्णुपुराण यक्षों और पिशाचों को खशों का सजातीय बंधु मानता है। मनुस्मृतिकार खशों को क्षत्रिय तो मानता है, किंतु क्रिया भ्रष्ट हो जाने के कारण उन्हें वृषलों और म्लेच्छों के संग धकेल देता है।

खशों को पिशाच, म्लेच्छ, वृषल अथवा शूद्र यह दिखाने के लिए कहा गया है कि यह जाति "आर्य होते हुए भी आर्यों से बाहर थी।" कुछ मानव-विज्ञान-शास्त्रियों और इतिहासकारों की यह राय है कि भारत में आज के ब्राह्मण, क्षत्रियों और राजपूतों की एक काफी बड़ी संख्या इन 'अनार्य' खशों की है। उनका अनुमान है कि असम और बंगाल के समाज का उच्च वर्ग खश ही है। वहाँ का ब्राह्मण और कायस्थ, आंध्र, उड़िया और कन्नड़ के ब्राह्मण और चितराल के खोश भी संभवतः मूलतः खश जाति के ही हैं। एक परंपरा यह भी है कि शिवोपासक नागर ब्राह्मण मानसरोवर क्षेत्र में रहते थे, वहाँ से वे काँगड़ा-नगरकोट में आए। नगरकोट के पश्चिम में कश्मीर होते हुए वे भारत के अन्य भागों में गए। हिमाचल के अनेक ब्राह्मण संभवतः खश हैं, या कहें, कई खश परिवार मूलतः ब्राह्मण हैं।

खशों के मूल से संबंधित कतिपय अन्य कल्पनाधारित प्रस्ताव हैं कि ये विश्व-विजय का स्वप्न देखने वाले सिकंदर के यवन सैनिकों की संतान हैं। हिंदुकुश-पामीर क्षेत्र में चितराल के मुस्लिम धर्म को न मानने के कारण काफिर कहाने वाले खशों को पैगंबर मुहम्मद के कबीले के उन लोगों को कहा जाता है जिन्होंने इस्लाम धर्म को अस्वीकार कर अपना वतन छोड़ दिया था। सुनीतिकुमार चटर्जी का कहना है कि खश-किरात वे जन हैं, जिनके साथ-साथ मध्य हिमालय में प्रविष्ट होने वाले आर्यों का पहला संपर्क हुआ था। यह भी कहा गया है कि खश हैं तो 'आर्य', किंतु उन

tharahkardu.in

बाह्य आगंतुकों के वंशज हैं जो भारत में वैदिक आर्यों से पहले आ चुके थे।

एटकिन्सन खशों को कश्मीर, हिंदुकुश और सिंधु नदी के मध्य भाग तक सीमित करते हुए कहता है कि यह क्षेत्र उनकी स्मृति से संबद्ध है, अर्थात् अब वहाँ वे केवल स्मृति मात्र बनकर रह गए हैं, जिनके नाम से चितराल, गिलगित, स्वात तथा अफगानिस्तान के काफिरिस्तान के नदी और पहाड़ जाने जाते हैं। उनका ब्योरा देते वह कहता है कि हिंदुकुश पर्वत और सिंधु नदी के बीच का क्षेत्र खोस (खश) डिविजन कहलाता था। यहाँ की नदियों के नाम खोस, खोसपिन, खसपिन आदि हैं। उसके अनुसार हिंदुकुश और कश्मीर नाम इसी प्रकार बने प्रतीत होते हैं। कुणार उपत्यका के ऊपरी भाग को कक्षार (खशकार) कहते हैं। इसके उत्तरी भाग को 'लूरीखो', मध्य भाग को 'मुलखो' और निचले भाग को 'लुडखो' कहते हैं। वह मानता है कि खो शब्द का संबंध खश से है। अतः कभी यह समूचा क्षेत्र खश जाति के प्रभुत्व का क्षेत्र रहा होगा।

सम्राट् हर्षवर्धन ने भी स्वरचित महाश्री चैतन्य स्तोत्र में काशगर को खषतट कहा है और उसका उल्लेख कश्मीर, चीन देश तथा यमुना के साथ किया है।

खशों के प्रश्न पर कतिपय विद्वान्, जिनमें ग्रियर्सन, पर्पोला तथा राहुल सांकृत्यायन प्रमुख हैं, आग्रहपूर्वक स्थापित करना चाहते हैं कि हिमालय के ये पुरातन जन मध्य एशिया से भारत आए हैं। ग्रियर्सन एक प्राचीन मध्य एशियाई जाति के साथ छठी शताब्दी ईसवी में भारत आए गूजरों को भी खशों के पूर्वज होने का श्रेय देता है। उधर राहुल सांकृत्यायन और पर्पोला पूर्ण रूप से आश्वस्त हैं कि खश वस्तुतः शक जाति के लोग हैं।

महाभारत, पुराण, मनुस्मृति, भरत मुनि का नाट्यशास्त्र आदि ग्रंथों को आधार मानकर ग्रियर्सन कहता है कि भारत के सुदूर पश्चिमोत्तर में हिंदुकुश तथा नीचे के पहाड़ी क्षेत्रों में कतिपय जातियाँ रहती हैं, जिनमें से एक जाति खश है। इनकी भाषा संस्कृत के निकट है, किंतु शब्दावली कुछ-कुछ ईरानी ग्रंथ अवेस्ता से मिलती है। ये खश जुझारू व युद्धप्रिय हैं। संभव है, इनका कभी मध्य एशिया में महत्त्वपूर्ण स्थान रहा हो, जो वहाँ के कई देशों, नदियों और स्थानों के नामों से प्रमाणित होता है।

आर्य भाषा-भाषी मध्य और पश्चिमी हिमालय के पहाड़ी लोगों की चर्चा करते हुए ग्रियर्सन मानता है कि हिमालय में सबसे पहले आगमन करने वाले जन, जिनके संबंध में ऐतिहासिक सूचनाएँ उपलब्ध हैं, खश ही हैं, जो एक ऐसी नसल के हैं, जिसका मूल स्थान मध्य एशिया था। आरंभ में ये आर्य भाषा-भाषी थे जो भारतीय आर्यों की भाषा जैसी नहीं थी। इन मध्य एशिया के आगंतुकों के पश्चात् छठी

Digitised by
Tharah Kardu

शताब्दी ईसवी में इसी क्षेत्र में गूजर आए जो बाद में खशों में समा गए।

ग्रियर्सन का यह अध्ययन नितांत एकांगी है, मात्र तुलनात्मक भाषाविज्ञान और चौथी-पाँचवीं शती ईसा पूर्व से छठी-सातवीं शती ईसवी के बीच के तथाकथित ऐतिहासिक काल में रचित संस्कृत साहित्य पर आधारित। उसे खशों के सामाजिक, सांस्कृतिक जीवन, उनकी परंपराएँ, मान्यताएँ, लोक साहित्य आदि अर्थात् खश जाति के समग्र जीवन से विशेष परिचय रहा हो, उसके इस अध्ययन में नहीं झलकता। किसी जाति के मूल, जन्म और विकास के तथ्यपरक इतिहास के लिए यह अनिवार्य हैं। किंतु ग्रियर्सन से यह अपेक्षा करना उससे ज्यादती होगी, क्योंकि वह भारत की भाषाओं के सर्वेक्षण की रिपोर्ट लिख रहा था, न कि भारत की जातियों का इतिहास।

उपर्युक्त विविध मत-मतांतरों को बारीकी से देखने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि अधिकांश विवेचक किसी न किसी रूप में यह तो स्वीकार करते हैं कि खश हिमालय के अत्यंत प्राचीन लोगों में से हैं, जो आर्य, वैदिक आर्य और वैदिकों से भी पहले के जन हो सकते हैं।

राहुल सांकृत्यायन शकों-खशों की प्राचीनता को काँस्य युग तक ले जाते हैं। उनके अनुसार शकों के दर्जनों कबीले थे, जो कैस्पियन सागर से लोपनोर तक ई०पू० छठी-सातवीं में फैले थे। इनका एक कबीला सीक्यांग की तैरिम उपत्यका में बसा था। पूर्व से मंगोलों के दबाव के कारण ये कबीले पश्चिम और दक्षिण की ओर जाने के लिए विवश हुए। इनमें से एक कबीले का नाम खश था। शकों के अन्य मुख्य कबीले थे मसागित, सकरौक, बसून, यूची आदि। अपनी 'कुमाऊँ' नामक पुस्तक में राहुल ने खशों को शक सिद्ध करने के लिए शब्द विपर्य का सहारा लेते हुए कहा है कि "शक मूलतः खशों के ही वंशज हैं। खस > खश शब्द ही उलटकर शख > शक हो जाता है।"

खशों के भारत-प्रवेश और प्रसार-मार्ग का खाका पेश करते हुए राहुल दर्शाते हैं कि ईसा पूर्व सातवीं शताब्दी से पहले तैरिम उपत्यका का खश नाम का कबीला पामीर गिरि-माला को पार कर गिलगित, कश्मीर और संभवतः लद्दाख में प्रविष्ट हुआ। यह अत्यंत विकट मार्ग था। पामीर के इस पार फैलने में उसे कई वर्ष लगे होंगे। यहाँ से खशों का प्रसार पूर्व-दक्षिण और पश्चिम दिशाओं की ओर हुआ। दक्षिण में वे कश्मीर और पूर्वी पर्वतीय क्षेत्रों की ओर बढ़े। इस प्रसार में उन्हें कई सदियाँ लगीं। कालांतर में ये कश्मीर से नेपाल तक के समस्त पहाड़ी क्षेत्र में फैल गए। ये लोग चीं-पिन मार्ग से कश्मीर में आए थे।

राहुल शकों-खशों का भारत-प्रवेश दो कालखंडों में मानते हैं, एक का आरंभ छठी-सातवीं शताब्दी ई०पू० में होता है और दूसरे का शताब्दियों पश्चात् पहली

tharahkardu.in

शताब्दी ईसवी में। यह दूसरा ही शकों का मुख्य अभियान था। सीथियन, बैक्ट्रियन और कुषाण कबीलों के रूप में ये शक अफगानिस्तान के मार्ग से ईरान, सिंध, गुजरात और उत्तर-पश्चिमी प्रदेश गांधार में फैले। लेकिन पारवर्ती काल के शक कबीलों का खश कबीलों से कोई संबंध नहीं था।

भारत में खशों का अस्तित्व ईसा सन् की पहली सदी के बहुत पहले से होने की समस्या राहुल ने यह कहकर सुलझाने का प्रयत्न किया कि संभव है, भारतवासी खश नाम के शकों से परिचित थे। खश लोग पाणिनी से पूर्ववर्ती समय में कश्मीर, स्वात घाटी और सिंध और हिंदुकुश के बीच के क्षेत्र में फैल चुके थे और यह भी संभव है कि इनका प्रसार पूर्व दिशा की ओर जालंधर खंड और गढ़वाल की ओर हो चुका हो। एक अन्य स्थान पर उनका कहना है कि खश लोग सदियों पहले छह-सात सौ वर्ष ई०पू० पामीर पर्वतमाला को लाँघकर हिमालय क्षेत्र में फैल चुके थे। साथ में वह यह भी मानते हैं कि बाद में आने वाले शकों को पार्थिया, बैक्ट्रिया और बद्कूशाँ में फैलने में ही सदियाँ लगी थीं।

यहाँ राहुल की मान्यताओं में विरोध साफ दीखता है। नए आने वाले कबीलों को अपने घर के निकटवर्ती पार्थिया, बद्कूशाँ, बैक्ट्रिया में पहुँचने में तो सदियाँ लगीं, लेकिन छह-सात सदी पूर्व अपने बाल-बच्चों और पशुओं को लेकर पामीर की विकट गिरिमालाओं को लाँघकर आने वाले खश तुरंत नेपाल तक फैल गए थे। संभवतः राहुल को सातवीं सदी ई०पू० में इन खशों को नेपाल पहुँचाने की मजबूरी यह थी कि उस काल के थोड़ा आगे-पीछे हिमालय और शिवालकीय क्षेत्र तथा नेपाल से लगते तराई के इलाकों में खश-खशिया-क्षत्रियों के जनपद और राज्य स्थापित हुए मिलते हैं। इनमें लिच्छवी, शाक्य, मल्ल, कोली, मौर्य, मद्र, कम्बोज और गांधार शामिल थे। अजातशत्रु ने भगवान् बुद्ध के परिनिर्वाण के उपरांत उनके शरीर की भस्म का कुछ हिस्सा यह कहकर माँगा था कि "भगवा पी खत्तियो, अहम् पी खत्तियो, अहम् पी भागवतो शरीराणाम् भागथ अरहामी।" इस तरह का दावा बुल्ली, कोली, मल्ल और मौर्यों ने भी किया था।

स्कैंडिनेवियन एस्को पर्पोला जोर देकर कहता है कि घुमंतु शक एन्ड्रोनोव संस्कृति के लोग थे, जिन्हें पारसियों के धर्मग्रंथ अवेस्ता में होमवर्ग अर्थात् सोमभक्त कहा गया है। इन होमवर्ग शकों का उल्लेख फारस के विख्यात शासक दारायबुस ने छठी सदी ईसा पूर्व अपने एक अभिलेख में किया है। पर्पोला का कहना है कि अवेस्ता के ये होमवर्ग शक भारतीय आर्यों के पूर्वज थे।

इस तरह हम शकों को एक बार पुनः 'आर्यों' से भी पूर्व के जन और 'भारतीय आर्यों' के पूर्वज स्थापित किए जाने के प्रयत्न देखते हैं। किंतु हिमालय का यह खश

Digitised by
Tharah Kardu

स्वयं क्या कहता है, इस पर किसी ने ध्यान नहीं दिया। वह बार-बार डंके की चोट कहता आया है कि वह हिमालय पुत्र है, उसके पूर्वज यहीं जन्मे थे, बड़े हुए थे और यहीं मरे थे। पूर्व में गंगा-यमुना-सरस्वती क्षेत्र से लेकर पश्चिम में सिंधु के जल-संग्रहण क्षेत्र और पामीर की उपत्यकाओं में बचे-खुचे खश अपना सीधा संबंध ऋग्वेद के इंद्र से जोड़ते हैं और उनका यह इंद्र भी उसी तरह सृष्टिकर्ता है।

बीसवीं शताब्दी के अंतिम ग्रीष्म में विश्व के मानचित्र पर दो नाम उभरकर सामने आए थे—कारगिल और बटालिक। पाकिस्तान ने इस क्षेत्र पर अधिकार करने की कुचेष्टा की, समूचा भारत एक जान होकर उठ खड़ा हुआ। सैकड़ों रणबाँकुरों ने प्राणों की आहुति दे निर्णायक विजय प्राप्त की। अपरिमित शौर्य और अदम्य साहस की गाथाओं में एक नया अध्याय जुड़ गया।

कारगिल और बटालिक के संग कुछ और नामों से पर्दा उठा। ये नाम हैं—बटालिक-जुब्बड़ क्षेत्र में सिंधु नदी के किनारे बसे गाँव, जिन्होंने भारतीय अतीत और उसकी संस्कृति की निरंतरता और इतिहास की प्राचीनता का जीता-जागता प्रमाण प्रस्तुत किया है। ये गाँव हैं—दाह, हनु, दुरचिक, दीमा और चोरबट। इनके लगभग दो हजार निवासी ऋग्वैदिक जनों की संतान हैं। इनका प्राचीन नाम क्या था, नहीं जानते, केवल यह जानते हैं कि ये विशिष्ट हैं, रंग-रूप में, संस्कृति में। क्षेत्र के दूसरे जनों से धार्मिक दृष्टि से अलग। चितराल-गिलगित की रुम्बर, ब्रुम्बेट तथा बीरीर घाटियों के चार-साढ़े चार हजार निवासियों की तरह। इनका गोरा रंग, लंबी-पतली नाक, हलके रंग के बाल, नीली-काली आँखें, दरम्याना से लंबा कद इनकी निजी पहचान है। थोड़ी-बहुत खेती-बाड़ी, भेड़-बकरी पालन इनका व्यवसाय है। अपनी भूमि से असीमित प्यार। अपने जन्मस्थान को स्वर्ग का पर्याय मानना। पश्चिमोत्तर की ओर 'काफिर' कहलाए जाने वाले इनके भाईबंद इसे स्वर्गलोक तथा अपने आपको यहाँ के पुरातनतम निवासी घोषित करने के लिए सृष्टि-आरंभ का एक घटना-आधारित आख्यान सुनाते हैं।

इम्र (इंद्र का स्थानीय नाम) ने सृष्टि नई-नई रची थी। उसके सामने मानव समूह पंक्तिबद्ध खड़ा था। भगवान् ने पृथ्वी को इन लोगों में बाँटा। मरुभूमि अरबी जनों को दी, जंगली इलाका नीग्रो के हवाले किया। इसी तरह मैदानी, पहाड़ी, उपजाऊ, ऊजाड़ क्षेत्र अन्य जनों में विभक्त किए। धरातल पर जो सुंदरतम भाग था वह काफिरिस्तान था। उसे ईश्वर ने अपने पास रख लिया था। लेकिन मालूम हुआ कि बँटवारे में काफिर जन वंचित रह गए। उनके हिस्से कोई भूमि नहीं आई। ईश्वर ने भूल स्वीकार की। कहा, तुम लोग मेरे संग इसी काफिरिस्तान में बस जाओ। तब से ये इंद्रजन हिंदुकुश, पामीर, चितराल, बटालिक भूखंड में रहते आ रहे हैं।

tharahkardu.in

काफिरिस्तान नामकरण नवागंतुक मुस्लिम विजेताओं द्वारा किया गया है, क्योंकि यह काफिरों का देश है। स्वयं उन्हें नाम से कोई फर्क नहीं पड़ता। चाहे उन्हें काफिर कहें, 'खोश' अथवा खश-खशिया कहें। हाँ, दाह, बीमा, दुरचिक आदि के निवासियों को काफिर कहाना कतई मंजूर नहीं। इन दिनों यदि किसी नाम को यह प्यार करते हैं, तो वह है 'आर्य'।

इन सभी काफिर-खश-खोशों का सर्वोच्च देवता है इंद्र, इम्र। अफगानिस्तान की सरहद के भीतर पड़ने वाले नूरीस्तान बने काफिरिस्तान में इंद्र तथा उसके प्रिय पेय सोम से संबंधित अनेक गाथाएँ हैं। उनकी रीतियाँ व विश्वास वैदिक थे।

इस नूरीस्तान के वामा जन आज भी ईश्वर को इंद्र कहते हैं। इनके एक गाँव का नाम ही इंद्रकुन अर्थात् इंद्र का उद्यान है, जहाँ पत्थर का एक बड़ा पात्र पड़ा है। इसमें परंपरा अनुसार इंद्र के लिए सोम तैयार किया जाता था। गाँव से लगता ही 200 एकड़ जमीन का एक टुकड़ा है, जिस पर अंगूर की खेती के चिह्न अभी तक दीखते हैं। लोगों का विश्वास है कि इसी विशाल कुन के अंगूरों से इंद्र के लिए 'सोम' बनाई जाती थी। देवताओं के लिए सुरा-सोम बनाने का काम आज भी जारी है। ग्रीक विवरणों से मालूम होता है कि विश्व-विजय पर निकले ग्रीक सिकंदर ने इसी क्षेत्र में कहीं कई दिन सुरापान में व्यतीत किए थे।

इंद्र के ये काफिर अपने देवताओं को सुरा पिलाते हैं, उनकी प्रशंसा में स्तुति गान करते हैं। गायन के साथ बजते वाद्य को वाज (वीणा), सारनी (सारंगी) और और्वा कहा जाता है। पशशी (पशुपति) देवता की स्तुति का नाम ही 'पशशी नट' है। नृत्य इस गायन का अभिन्न अंग है। नृत्य में स्त्रियाँ भी भाग लेती हैं, हिमालय के पूर्वी भागों की तरह। ये तथाकथित काफिर अपने देवताओं और पितरों की मूर्तियाँ बनाते हैं, देवालयों में स्थापित करते हैं और इनके पर्व मनाते हैं। इस तरह की मूर्तियाँ प्रत्येक 'काफिर' गाँव में देखी जा सकती हैं।

चितराल के 'काफिरों' की भाँति अनीसी समुदाय ने भी अपने देवता की एक प्रतिमा बना रखी है जो घड़े के आकार की है। ये प्रतिवर्ष उसे पशु-बलि चढ़ाते हैं। पशुओं का वध करने से पूर्व उनका पूजन किया जाता है तथा उन पर पानी का छिड़काव किया जाता है। जल-छिड़काव की यह प्रथा सारे हिमाचल प्रदेश में प्रचलित है।

इम्र, इंद्र सर्वशक्तिमान, सर्वव्यापी, सृष्टिकर्ता है। ऋग्वेद का इंद्र भी सृष्टिकर्ता (6.30.5), अद्वितीय देव एकः (1.32.12), ज्येष्ट देव (8.16.3) है और है देवेषु प्रथमः (1.102.9)। शत्रुओं के विरुद्ध युद्ध में देवताओं ने इंद्र को अपना नेता चुना था (6.17.8)। इधर वामा, दुरचिक, दाह, बीमा और अनीसियों का इम्र अपने लिए

Digitised by
Tharah Kardu

देवराज का पद स्वयं सुनिश्चित करता है। कहा जाता है कि एक दिन सभी देवता पर्वत के ऊँचे शिखर पर एकत्रित हुए। वहाँ एक स्वर्ण-सिंहासन रखा पड़ा था। सिंहासन देख सभी देवता कहने लगे, "यह सिंहासन हम सबका है।" तभी इम्र कड़ककर बोला, "नहीं, यह सिंहासन केवल मेरा है।" और तुरंत उस पर जा बैठा। देवता हक्के-बक्के देखते ही रह गए। इम्र देवराज और सृष्टिकर्ता बन गया।

ऋग्वैदिक इंद्र का अपना देवमंडल है। उसमें रुद्र, अग्नि, वरुण, सूर्य आदि प्रमुख हैं। इम्र का भी निजी देवमंडल है, जिसमें महादेऊ (रुद्र), शिष, बालुमेन और लुआंग हैं। वे सहयोगी देवता अपने शमनों (गुरों) द्वारा अपनी मानवी प्रजा के सुख-दुःख का ध्यान रखते हैं। कष्टों का निवारण करते हैं। भेड़-बकरी खो जाने पर उनका अता-पता बताते हैं। फसल कैसी होगी, उसकी पूर्व सूचना दे देते हैं। यात्रा को निष्कंटक बनाने में सहायक होते हैं। इनका परस्पर वही रिश्ता है जो हिमाचल के देवी-देवताओं और मानवों का, तथा इंद्र आदि देवताओं का ऋग्वैदिक समाज से था। ऋग्वैदिक और हिमाचली देवगण अपने पूजकों की खुशी-गमी में सम्मिलित हुआ करते हैं। उनके संग बैठकर सोम-सुरा का पान करते हैं। किन्नौर क्षेत्र में देवता को छप्पासुर नामक सुरा उसी रीति से पिलाई जाती है जैसा विधान वेदों में सोम पिलाने का बताया गया है। इम्र के देवगण भी अपने शमनों द्वारा प्रजा की संपन्नता का वचन देते हैं।

पूर्व की ओर बिशु मेला के अवसर पर धनुर्विद्या में निपुणता का खेल, ठोडा, में भाग लेते हुए खश युवक अपना जो परिचय देते हैं, सूत्र रूप में वह उनके वर्तमान और अतीत का महत्त्वपूर्ण दस्तावेज है। एक ऐसा दस्तावेज जिसकी तसदीक केवल ऋग्वेद कर सकता है, और इस तरह वे केवल सरस्वती-सिंधु सभ्यता, अपितु उस काल के जनसिद्ध होते हैं, जब स्वयं वेदों की रचना तक नहीं हुई थी। वर्ण-व्यवस्था के आधार पर समाज का संगठन बड़े बाद की बात है।

चौपाल क्षेत्र में मेला स्थल जुब्बड़ में प्रविष्ट होते ठोडा खिलाड़ी ठठौरिये पूरे जोशो-खरोश से दर्शकों को सूचित करते हैं :

'चौबशी खूँदाओरो गुरुरे माणछो होर क्या,
पौरी गढा रा टिकला रे माणछो, होर क्या,
ठोडा का भूखा, विजट देउओ रा हाजरी, हो-हो, हो।'

"हम चौबीस खूँदों के गुरु, पौरी गढ़ के राजकुमार, ठोडा में अपनी निपुणता, वीरता के जौहर दिखाने के लिए उतावले हैं। हम विजट देवता, वज्रिन इंद्र के हाजरी, निजी सेवक, सहयोगी, सखा हैं।

tharahkardu.in

खूँद खशों की प्राचीन समाज व्यवस्था की एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण इकाई है, यह प्रायः कई खश बरीन्दों, कुलों की बस्तियों का समूह है। इस तरह के चौबीस खूँदों के शूरवीरों, शस्त्रधारियों के गुरु होने की महत्ता का उल्लेख अपने व्यापक प्रभाव की जानकारी देना अभिप्रेत है। साथ में पौरी जैसे विख्यात गढ़ के नायक, वहाँ के टीका, राजकुमार होने का दावा उनकी शक्ति, सामर्थ्य और शौर्य का प्रतीक है। वे धनुर्विद्या के विशारद हैं। उनका निशाना अचूक है। वह अपनी महत्ता सिद्ध करने के लिए सदा तत्पर रहते हैं। यही नहीं, वे इंद्र के सखा हैं। हाजरी शब्द का प्रयोग महत्त्वपूर्ण है। हाजरी, सदा साथ, हाजिर रहने वाला सखा, सहयोगी, सहायक के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, जिसमें उनके योद्धाओं, शूरवीरों के गुरु, गढ़ों के स्वामी होने से उनके सैनिक और सेनापति होने का भाव भी निहित है, अर्थात् वे इंद्र के सखा हैं और उसके योद्धा भी।

इन खश ठठौरियों का यह बीजट-इंद्र पुराणों का अप्सरा-नर्तकियों से घिरा स्वर्गलोक के भोग-विलास में लिप्त, अपने सिंहासन को स्थायी बनाए रखने में छल-कपट तक का सहारा लेने वाला देवराज इंद्र नहीं है। वह ऋग्वेद के देवताओं का ज्येष्ठ, अजेय, सर्वजित, अपराजित, अप्रतिम, सृष्टिकर्ता, वृत्रहन्ता इंद्र है। तब प्रश्न उठता है कि उसकी इन महती सफलताओं में उसके सैनिक, सेनानायक, सहयोगी, मित्र, सहायक कौन थे ? ऋग्वेद जब इंद्र का उल्लेख करता है तब वह देवताओं में प्रथम, महान् विजेता, सर्वनियंता, सृष्टिकर्ता, देवताओं में प्रथम देवता बन चुका था। अतः उसके सखा-सहयोगियों को हमें उसके देवमंडल में खोजना होगा।

विद्वानों का मानना है कि वैदिक देवमंडल में मरुत सर्वाधिक क्रियाशील देवता हैं। अपने नेता इंद्र के साथ वे समाज के तीन प्रमुख वर्गों—कृषक, व्यापारी और शासक वर्ग का प्रतिनिधित्व करते हैं। इससे भी परे, यदि हम उनके पिता रुद्र और माता पृश्नि को लें, तो मरुत समाज की प्राचीनतम आखेट और पशुचारण अवस्था के प्रतिनिधि बनकर उभरते हैं।

सुखद आश्चर्य यह कि खश वह सभी कुछ हैं जो मरुत हैं। यदि कहा जाए कि मरुतों की कल्पना खशों के आधार पर ही की गई है, तो अत्युक्ति नहीं होगी। खश, स्पष्टतः वास्तविकता हैं और मरुत मिथक। खशों और मरुतों की जन्म और कर्मभूमि एकसमान है—पर्वतीय क्षेत्र, हिमालय। दोनों की बस्तियाँ समान हैं। सामाजिक व्यवस्था एकरूपा है। दोनों के शस्त्र साँझे हैं, धनुष, बाण, कुल्हाड़ा, फरशु और दोनों का नेता एक है, इंद्र। दोनों सैनिक हैं, सुरक्षाकर्मी हैं। मरुतों ने इंद्र को विजय दिलाई। इधर खश परंपरा से हिमालय के छोटे-बड़े राज्यों, जनपदों, ठकुराइयों और राहणुओं के रक्षक का कार्य निभाते रहे। बहुत दिन नहीं बीते, जब वे हिमालय के

Digitised by
Tharah Kardu

राजा-रजवाड़ों, ठाकुरों, राणाओं के निजी रक्षक और सेनानी नहीं रहे। सेनावृत्ति इनकी आजीविका का एक साधन था। सैनिक और सुरक्षाकर्मी के रूप में वे देश के भीतर और बाहर दोनों ओर सक्रिय रहे हैं। आज भी इनके गोरखा और डोगरा बंधु भारतीय सेना के जुझारूतम सेनानियों में गिने जाते हैं। देश की रक्षा के लिए वे कोई भी मूल्य चुकाने से नहीं झिझकते। मरुत की तरह ही खश भी साहसी हैं, निडर हैं, शूरवीर हैं, और हैं युद्धजीवी। लंबे कद, गोरे, तीखे नाक-नक्श वाले खश अपनी शूरवीरता, साहस, निडरता, बल, रणप्रियता के लिए जगत्-प्रसिद्ध हैं। यह कहने में कोई झिझक नहीं कि खश भारतीय सभ्यता के प्रथम निर्माताओं में से हैं। इस सभ्यता के विकास-प्रसार में उनकी सक्षम भूमिका रही है।

हम पाते हैं कि हिमाचल का शायद ही कोई ऐसा प्राचीन मेला, उत्सव या अनुष्ठान हो, जिसमें खशों की विशिष्ट भागीदारी अनिवार्य शर्त न हो। लगता है, उनके बिना गैर-खश गाँव-बस्तियों में भी कोई सार्वजनिक अनुष्ठान तथा अन्य सांस्कृतिक कार्यक्रम संपन्न नहीं हो सकते हैं। आश्चर्यजनक तथ्य यह है कि ये सभी प्राचीन अनुष्ठान, मेले आदि किसी न किसी रूप में ऋग्वेद तथा ऋग्वैदिक काल से संबंधित हैं। कहा तो यहाँ तक जाता है कि जैसे ये प्राचीन मेले व अनुष्ठान मात्र ऋग्वेद के संदर्भ में समझे जा सकते हैं, उसी प्रकार स्वयं ऋग्वेद की कतिपय घटनाएँ, मिथक, कर्मकांड, व्यक्ति और संकेत इनके माध्यम से ही समझे जा सकते हैं। इस दृष्टि से ये मेले, अनुष्ठान ऋग्वेद पर एक प्रकार के भाष्य भी कहे जा सकते हैं।

यमुना, लुप्त सरस्वती, सतलुज, व्यास और रावी क्षेत्र में प्रचलित कुछ एक अनूठे मेले, नाट्य, अनुष्ठान, यज्ञ हैं—बुढ़ी दियाउड़ी, दीवाल, दियाड़ी, झीरू, सद्याली, गनेड, फागली, डकरेणी, सकरेंणी, फुलेच, चैत्रोल, लांग, औसर, बढोजी, बघपूर, शान्दा, शान्त, भूँडा, विशु आदि। इन सबों में एक सतत तत्त्व है, खश और उसकी भागीदारी। हम देख चुके हैं कि बुढ़ी दियाउड़ी, बिरतासुर मेला व दीवाल के गढ़िए खश इंद्र और उसके सैनिक मरुद्गणों की भूमिका निभाते हैं। झीरू आदि तथाकथित अशिष्ट, अश्लील समझे जाने वाले प्रदर्शनों में भाग लेने वालों को ऋग्वेद ने शिशन देव, लिंग-पूजक कहकर उनकी कटु आलोचना की और उन्हें अकर्मण, अदेव्यु, अनृक्, अनिंद्र, अन्यव्रत, अव्रत, अपव्रत, अब्राह्मण, अयज्यु आदि की श्रेणी में रखा है। रोचक स्थिति यह कि इनमें भी खश भागीदार हैं, मुख्य भूमिका निभाते हैं। उनकी पत्नियाँ, भगनियाँ, पुत्रियाँ कामुक शिव का पूजन करती हैं, अभद्र गायन करती हैं। किंतु यह झीरू का एक पक्ष है। वस्तुतः झीरू सरीखे शिशन देव मेले उर्वरता के उत्सव हैं। ध्यान से देखें तो वैदिक समाज में न तो परवर्ती कालों जैसी काम-वर्जना पाई जाती है, न वेदों में ब्रह्मचर्य का वह अर्थ है जो बाद में प्रचलित हुआ। जननांगों के

tharahkardu.in

प्रति या यौन आचरण के विषय वेदों में जुगुप्सा या वर्जना का कोई भाव नहीं। गर्भ और योनि शब्दों का ऋग्वेद में क्रमशः 96 और 122 बार प्रयोग हुआ है और इनका सामान्य अर्थ है 'धारण करने वाला' और 'उत्पत्ति का स्थान या कारण'। इन शब्दों का जितनी उदारता से प्रयोग हुआ है, उससे लगता है कि इनके पीछे प्रजनन क्रिया के लैंगिक पक्ष का हाथ रहा है। हम कह सकते हैं कि जिसे लिंग-पूजा कहा जाता है वह उत्पादन और सर्जन की सृष्टि के कारण-भूत तत्त्वों की लाक्षणिक पूजा है।

बढोजी, बघपूर, शांत और भूँडा—वैदिक अजमेध, गोमेध, अश्वमेध तथा पुरुषमेध में ये खश भंडार के नियंता तथा यज्ञ की सुरक्षा के जिम्मेदार होते हैं। भूँडा अनुष्ठान में देवों के निमित्त अर्पित व्यक्ति, बेडा ज्याई, की निजी सुरक्षा का भार भी खशों पर ही पड़ता है। वे ही उसे यज्ञशाला में अर्पित करने के लिए लाते हैं और वे ही उसे देवार्पित होने पर स्वयं बेडानिर्मित रस्सी पर डालते हैं। सकुशल ढलान के नीचे आने पर अपने कंधों पर उठा उसके अर्द्धदेवत्व स्वरूप को स्वीकार करते हैं। अतिथियों के स्वागत-सत्कार का बोझ भी उन्हीं के कंधों पर होता है।

ऋग्वेद में जब भी किसी विशेष मामले में निपुणता का प्रश्न आता है तो जन साधारण को नहीं याद किया जाता, कुछ विशेष देवों या व्यक्तियों का ही उल्लेख आता है, जैसे शौर्य के लिए सेनापति और सैनिकों के रूप में इंद्र और मरुद्गणों का। मरुद्गण इंद्र-ज्येष्ठ हैं, इंद्र इनका नेता है (ऋ०, 1.164.41)। ऋग्वेद में मरुतों के विवरणों में दो विरोधी निष्कर्ष समर्थित हुए दीखते हैं। एक ओर उनका देवत्व सिद्ध होता है तो दूसरी ओर अनेक ऐसी ऋचाएँ हैं जिनसे ज्ञात होता है कि मरुत मानव हैं, जो अपने अच्छे कर्मों से देवत्व लाभ कर पाए, तभी उन्हें इंद्र के भाई कहलाने का गौरव हासिल हुआ। एक बार इंद्र उनसे नाराज हुआ और उन्हें मृत्युदंड का हुक्म जारी कर दिया। उसे चेताया गया, 'किम् न इंद्र जिघांससि भ्रातरो मरुतस्तव' (ऋ०, 1.170.2)। "क्या तुम इन्हें मारना चाहते हो, ये तुम्हारे भाई हैं।" और मरता तो मनुष्य ही है, देवता नहीं। यों भी ऋग्वेद ने कई बार इन्हें नर, मर्यासो दिवस पुत्रा, मर्यो, मर्य, मर्या, मर्त्य कहा है। मर्त्य शब्द की व्युत्पत्ति 'मर' अर्थात् 'मर जाना' से हुई है। आम दिनों के व्यवहार में भी मर्य और मर्त्य का अर्थ मरणशील होता है। और मरणशील मानव ही हो सकता है। इसके अतिरिक्त उन्हें विश्वकृष्टया कहा गया है, जिसका अर्थ है सभी मनुष्य हैं। मरुत तरुण, साहसी, वीर हैं। वे अपने पूजकों, प्रशंसकों को अंतरिक्ष और पर्वतों से धन सुलभ कराते हैं। उनकी कर्मभूमि मुख्यतः यमुना, सरस्वती, रावी, चनाव और सिंध संग्रहण क्षेत्र कहा जाता है। वे सरस्वती उपत्यका में रहते हैं, पर्वतों में उनका निवास है। शीत से बचने के लिए उन्हें ऊनी वस्त्र पहनने होते हैं। वे दिल खोलकर दान देते हैं। वे सिंध और चनाव नदी क्षेत्रों

Digitised by
Tharah Kardu

से रोगनाशक जड़ी-बूटियाँ लाते हैं, सागर और पर्वतीय इलाकों से भी। उनका मार्ग न नदियाँ और न ही पर्वत रोक सकते हैं। उन्हें पहाड़ी रास्तों से चढ़ते-उतरते दिखाया गया है। वे कृषक हैं, साथ में व्यापारी भी। खनन कार्य में वे कुशल हैं। ये विश्ववेदस अर्थात् सब तरह से संपन्न हैं, खश धणियों की तरह। इनमें न कोई ज्येष्ठ है और न कनिष्ठ। ये सुजान हैं, अच्छे घरानों में इनका जन्म हुआ है।

खशों की मूल इकाई यदि बरींद है तो मरुतों की व्रत, जिसका अर्थ भाईचारा होता है। व्रत से बड़ा समुदाय मरुतों का गण कहलाता है, तो खश-खशियों का खूँद। मरुतों के व्रत का मुखिया 'प्रथम' कहा जाता था और गण का राजा। हमने देखा, खश बरीन्द का मुखिया सयाणा और खूँद नेता मुवाणा/मावी होता था। यदि खश इंद्र, इम्र, बीजट को अपना नेता, परम देवता मानते हैं तो वह ज्येष्ठ मरुद्गण भी था। इस प्रकार हम देखते हैं कि खश और उनके खूँद मरुत और उनके गण के ही पर्याय हैं। वेदों में मरुत गणम्, मरुतेनः गणम, मरुतम् गणम्, मरुत गण और व्रतं व्रतं गणम् मरुतम् का जिकर आया है, उसी तरह जैसे खशों के संबंध में उनके खूँदों, गढों और खोंदाई का।

अंत में शेष रहा उत्तर उस प्रश्न का कि यदि खश प्राचीन जन हैं तो क्यों उनका नाम वैदिक और उत्तर-वैदिक साहित्य में नहीं मिलता है। इस संदर्भ में हमें ध्यान देना होगा कि अनेक ऐसी पूर्व ऋग्वैदिक तथा ऋग्वैदिक जातियाँ हैं, जिनका कोई उल्लेख वेद में नहीं मिलता है। दूसरे ऋग्वैदिक ऋषियों ने खशों का दैवीकरण कर दिया था। अतः उनकी रचनाओं में उनका मरुत नाम ही प्रयुक्त होता रहा। तीसरे वर्ण-विभाजन में खशों को क्षत्रिय वर्ण में सम्मिलित कर दिया था। यह तथ्य ऋग्वेद से स्पष्ट हो जाता है, जहाँ मरुतों को क्षत्रिय कहा गया है। हाँ, साधारण जनता में खश-खशिया संभवतः अपने नाम से ही जाने जाते रहे होंगे, तभी महाभारत में हम उन्हें दोनों नामों क्षत्रिय और खश से चर्चित हुआ पाते हैं। मरुत सुक्षत्रसाः अर्थात् उच्च क्षत्रिय हैं (ऋ०, 1.19.5) और उच्च घरानों में उत्पन्न हुए हैं, तो खश भी प्रख्यात योद्धा, भूस्वामी और व्यापारी रहे हैं।

खशों और मरुतों में इतनी अधिक समानताएँ हैं कि उनके एकरूप होने में किसी तरह के संदेह की गुंजाइश नहीं। यह हिमालय के खश-खशिया ही हैं जो ऋग्वैदिक युग से भी पहले से हिमालय और भारत के इतिहास और संस्कृति को बनाते-सँवारते आ रहे हैं। ये वही खश हैं जो हिमालय, हिंदुकुश और पामीर की ऊँची, विकट चोटियों को लाँघकर मध्य एशिया की इक्के-दुक्के समुदायों, कबीलों, विशों, जातियों के संपर्क में आए और जब कभी उन्हीं में घुलमिल गए। ये वही जन हैं जो ईसा पूर्व दो सहस्राब्दियों में सप्तसिंधु के मैदानी भाग के अन्य गणों, कबीलों

tharahkardu.in

और जातियों के संग पश्चिमी एशिया गए और वहाँ पर शताब्दियों तक अपना प्रभुत्व जमाए रखा।

आधुनिक खोजों से सिद्ध हुआ है कि मिस्र से लेकर भारत तक चौथी-तीसरी सहस्राब्दियों ई०पू० में, सारा भूखंड एक सांस्कृतिक इकाई था। ऐतिहासिक भाषाविज्ञान, पुरातत्त्व, पुराणकथाओं और काव्यग्रंथों से इस तथ्य को पुष्ट किया गया है। बाद के हजार-दो हजार वर्षों के बीच तुर्की, उत्तरी सीरिया और इराक में स्थापित राज्य भारतीयों के थे। तुर्की के अनातोलिया क्षेत्र में हती शासक थे। हती, सभी विद्वान् स्वीकार करते हैं, भारतीय क्षत्रिय थे। हती शब्द की निष्पत्ति वे संस्कृत क्षत्रिय, पाली खतिओ से मानते हैं। पहाड़ी भाषा के खशिया क्षत्रिय और खतिआ हैं। उधर बेबीलोनिया अथवा इराक में ईसा पूर्व दूसरी सहस्राब्दी के अंतिम लगभग चार सौ वर्षों तक शासन करने वालों को कस्सी-कैस्सायट कहा जाता है।

यहाँ एक रोचक संभावना उभरकर सामने आती है, इराकी अभिलेखों में कस्सियों के राजकुमारों को मुवा कहा गया है और लड़की को मुवानी। हिमाचल में खश-खूँदों के नायक को मुवाणा कहा जाता रहा है, उसकी पुत्री मुवाणटी तथा पत्नी मुवाणी। स्वयं कस्सी/कैस्सायट शब्द हिमाचली खशिया से बहुत अधिक साम्य रखता है। इन्होंने वहाँ अश्वमेध का प्रचलन आरंभ किया था। हमने देखा है, हिमाचली मेधी यज्ञों में इनकी महत्त्वपूर्ण भूमिका रहती है। यही नहीं, बुढ़ी दियाउड़ी में अभिनीत इंद्र-वृत्र गाथा को जिसने विश्वव्यापी सृष्टि रचना के मिथक का रूप धारण कर लिया था, इन्हीं खशियों, कस्सियों ने समूचे पश्चिमी एशिया में प्रसारित किया था। बेबीलोनियन एपिक में इस मिथक बनी गाथा का वर्णन प्रमुखता से हुआ है। उसमें इंद्र का नाम मर्दुक है और वृत्र का स्थान तिआमत नामक दानवी लेती है। वहाँ भी वह दानवी कहलाती है, वृत्र दानव की तरह। लगभग बीसवीं सदी ई०पू० में अक्कदी भाषा में लिखे गए इस काव्य में सृष्टि रचना संबंधी वही भाव व्यक्त किए गए हैं जैसी भारतीय कल्पना रही है—

'ऊपर जब आकाश का नामकरण न हुआ था,
नीचे सुदृढ़ पृथिवी को नाम लेकर पुकारा न गया था,
उनके जनक आदिम अप्सू को छोड़कर कुछ नहीं था,
(और) मुम्मू तिआमत्, उसने उन सबको धारण किया,
उनके जल एक ही राशि में मिश्रित हो रहे थे।'

अभिलेख के अनुवादक प्रिचार्ड के अनुसार "अप्सू मीठा पानी है, तिआमत् समुद्र का खारा पानी है, मुम्मू मातृसूचक शब्द है। तिआमत् नारी, अप्सू पुरुष—इनके

Digitised by
Tharah Kardu

संयोग से सृष्टि हुई। जल से धरती-आकाश उत्पन्न हुए, उसी से देवता जन्मे। उनके भीतर अर्थात् अप्सू और तिआमत् की मिश्रित जलराशि के भीतर।" क्या देवता और क्या संसार, सभी की उत्पत्ति आदिम जलराशि से हुई है—

'जब कोई भी देवता अस्तित्व में न आए थे,
नाम लेकर बुलाए न जाते थे, उनके भाग्य अनिश्चित थे,
और उनका निर्माण उनके भीतर हुआ।'

मूर्धन्य मनीषी रामविलास शर्मा के शब्दों में—"भारतीय कल्पना यह थी : तब सत् नहीं था, असत् नहीं था; न लोक था; न जो आकाश से परे है, वह था। तब अंधकार था, सब कुछ अंधकार से ढका था। अज्ञात दशा में और यह सब कुछ जल ही जल था। संसार में जो कुछ है—स्थावर और जंगम, आपः उसकी माताएँ हैं। वे भुवन की जननी हैं। प्रवाहमान जल सुनते हैं, वे पृथिवी और द्युलोक का उत्पन्न होना जानते हैं।" इस तरह हम देखते हैं एक अनूठी साम्यता।

इस इराकी परंपरा का और आगे अनुसंधान हो, तो हो सकता है, हिमालय के इन खश-मरुतों की अन्यतम भूमिका पूरी तरह साबित हो जाए और इस जाति के इतिहास में एक नए अध्याय की श्रीवृद्धि हो।

tharahkardu.in

चतुर्थ अध्याय

आर्य कौन ?

पहले संस्करण में हमने इस अध्याय का शीर्षक दिया था, आर्येतर जातियाँ। तब आर्य जाति का भारत में आव्रजन और आक्रमण एक सर्वमान्य ऐतिहासिक सत्य समझा जाता था। यह सिद्धांत भारतीय इतिहास और संस्कृति की विभाजक-रेखा बन गया था। माना गया कि आर्य यायावर, पशुपालक, खेती से नाम मात्र को परिचित एक विदेशी जाति थी, जिसने यहाँ के देशज दास-दस्युओं को कुचला और नागर सिंधु-हड़प्पा सभ्यता का विनाश किया। यह सिद्ध करने के लिए वेदों का हवाला दिया जाता रहा, जिसे बाद में यूरोप, पश्चिमी एशिया, मध्य एशिया तथा सिंधु क्षेत्र में हुई पुरातत्त्व खोजों से पुष्ट करने का प्रयास किया गया। देशी-विदेशी विद्वानों के मन-मस्तिष्क पर प्राचीन भारतीय इतिहास के इसी ढाँचे की गहरी छाप लगी हुई है। छोटी कक्षाओं से लेकर उच्चतर स्कूली कक्षाओं में और कॉलेजों-विश्वविद्यालयों के उच्च अध्ययन के पाठ्यक्रमों में हर कहीं यही इतिहास पढ़ाया जाता है।

बीसवीं शताब्दी के अंतिम दो-तीन दशकों में भाषाविज्ञान, पुरातत्त्व, इतिहास, वैदिक साहित्य तथा हिमालयी संस्कृति के गंभीर और गहन अध्ययन और खोजों ने अब पूरी तरह स्थापित कर लिया है कि आर्य जाति, उसका भारत पर आक्रमण, उसके द्वारा सिंधु-हड़प्पन या कहें सरस्वती-सिंधु सभ्यता का नाश, आर्यों का असभ्य, बर्बर होना सब कपोल कल्पनाएँ हैं और उनका वास्तविकता से कोई लेना-देना नहीं है। तब सवाल उठता है कि फिर ये अप्रामाणिक स्थापनाएँ इतिहास की प्रायः सर्वमान्य स्थापनाएँ कैसे बन गईं ?

इसका उत्तर जानने के लिए हमें उस काल में जाना होगा जब भारत में ब्रिटिश साम्राज्यवाद ईस्ट इंडिया कंपनी के माध्यम से अपना प्रभुत्व जमाने और उसकी जड़ें मजबूत करने में प्रयत्नशील था। भारत पर अधिकार करने के साथ ही विजित क्षेत्र के सफल प्रशासन के लिए भारतीय भाषाओं, धर्मों, विश्वासों, रीतियों, मान्यताओं और सामाजिक मूल्यों आदि को समझने की जरूरत महसूस हुई। इन विभिन्न क्षेत्रों में अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में, योजनाबद्ध रूप में अध्ययन आरंभ हुआ। उससे पहले मिशनरी धर्म-प्रचार के उद्देश्य से इस प्रकार का अध्ययन करने लग पड़े थे।

Digitised by
Tharah Kardu

1786 में ग्रीक, लैटिन और संस्कृत के विद्वान्, ईस्ट इंडिया कंपनी के अधिकारी विलियम जोंस ने कहा था, "संस्कृत भाषा की प्राचीनता चाहे जो भी क्यों न हो, उसका गठन अद्भुत है। यह ग्रीक से अधिक निर्दोष, लातिन से अधिक सक्षम, और इनमें से किसी की भी तुलना में अत्यधिक परिमार्जित है। पर दोनों से क्रिया, मूलों और व्याकरण रूपों में उसका इतना गहरा संबंध है जितना अकस्मात् उत्पन्न नहीं हो सकता।" उसके दो वर्ष बाद, 1788 में कहा कि "हिंदू आज जितने भी पतित और अधम क्यों न दिखाई देते हों, प्राचीन काल में कभी वे कलाओं में और शौर्य में विलक्षण, प्रशासन में सुयोग्य, विधि-विधान में बुद्धिमान और ज्ञान के विभिन्न क्षेत्रों में प्रवीण थे।" कोलब्रुक के शब्दों में (1837) इस बात के प्रमाण मिल रहे थे कि "पश्चिम कलाओं और विज्ञानों में एशिया की सभ्यताओं के योगदान के लिए उनका आभारी है।" और कि "सभ्यता का जन्म एशिया में हुआ था।"

भारतीय भाषाओं से, विशेषतः संस्कृत से परिचय, संस्कृत में रचित साहित्य से परिचय, अध्येताओं की भारत-विषयक धारणा को बदलने में सहायक हुआ। उन्हें एक ऐसी प्राचीन संस्कृति का पता चला, जिसका प्रभाव भारत से लेकर यूरोप के अंतिम छोर तक था। वेदांत और इसके दृष्टांत पर लिखी गई कृतियों को पढ़ते समय विश्वास न करने का कोई चारा नहीं दिखाई दे रहा था कि "पाइथागोरस और प्लेटो ने अपने उत्कृष्ट सिद्धांत उसी स्रोत से लिए होंगे, जिससे भारतीय ऋषियों ने लिए थे।" हर्डर सरीखे जर्मन विद्वान् मान रहे थे कि मानव इतिहास की जड़ें संभवतः वैदिक संस्कृत ग्रंथों में देखी जा सकती हैं। कार्ल मार्क्स (1853) ने भी भारत संबंधी एक लेख में कहा था कि "भारत हमारी भाषाओं, हमारे धर्मों का उद्गम है।"

चर्च चूँकि अपना साम्राज्य स्थापित करने के लिए लालायित था, उसे इस तरह की खोज और निष्कर्ष पसंद नहीं आए। पादरी जिस भी सभ्यता के संपर्क में आते थे, उसको बर्बर सिद्ध करना उन्हें अपने धर्म के प्रचार के लिए जरूरी लगता था। कारण, यदि उनको सभ्य मान लिया जाता तो फिर वे सभ्य किसे बनाते ? इन ईसाई प्रचारकों की दृष्टि में भारत का उद्धार हिंदू धर्म को निर्मूल करके ही संभव था, क्योंकि भारतीय सभ्यता बर्बर थी और उसका धर्म गर्हित था, अतः चार्ल्स ग्रांट (1804) के शब्दों में "ऐसी संस्कृति को सहन करना ईसाई भावना का खतरनाक उल्लंघन है।" भारतीयों को बर्बर, असभ्य आदि सिद्ध करने के लिए उन्होंने जेम्स मिल को अपना साधन बनाया। मिल की पुस्तक 'हिस्ट्री ऑफ ब्रिटिश इंडिया' सन् 1818 में प्रकाशित हुई थी। कहा जाता रहा कि इसकी सामग्री मुख्यतः भारत में काम कर रहे मिशनरियों द्वारा सुलभ कराई गई थी। मिल स्वयं न तो भारत की किसी भाषा से परिचित था और न ही उसने भारत को अपनी आँखों से देखा था।

tharahkardu.in

मिल ने अपने 'इतिहास' में न केवल प्राचीन भारत की प्रशंसा करने वाले भारतीय प्राच्यविदों पर प्रहार किया, बल्कि चीनियों पर भी। उसकी नजर में दोनों अनेक मामलों मे एक समान थे। "दोनों राष्ट्रों में एक जैसी कुटिलता पाई जाती है। दोनों इतने पाखंडी, धोखेबाज और मिथ्यावादी हैं, जितना कोई असभ्य से असभ्य समाज नहीं होगा। दोनों कायर और भावशून्य हैं। दोनों बेहद घमंडी और दूसरों के प्रति दंभपूर्ण घृणा से ओतप्रोत हैं। अपने व्यक्तिगत जीवन में नितांत जुगुप्सु हैं।" भारतीय इतिहास का मूल्यांकन करते कहा गया कि यह अपने प्राचीन काल से 'जड़ और परिवर्तनहीन' बना हुआ है और इसके पीछे "उद्दंड राजाओं और ब्राह्मणों का दुहरा स्वेच्छाचार था।" मिल ने अपने इतिहास का काल-विभाजन भी धर्मों के आधार पर किया था।

यद्यपि मिल का सबसे कठोर प्रतिवाद विलसन, स्टीवर्ट और मैकनाट आदि प्राच्यविदों ने किया था। इनके अनुसार "मिल ने एक इतिहासकार के दायित्व की अवज्ञा की थी और धर्मांधता का पक्ष लिया था। मानवता के प्रति भारत के अवदान के प्रमाणों को इतना सतही ढंग से खारिज नहीं किया जा सकता है।" लेकिन तथ्य यह है कि इसके बाद भारत के विषय में पाश्चात्य विचारकों और दार्शनिकों के मन में भारत की जो छवि तैयार हुई वह मूलतः इसी पुस्तक पर आधारित थी। आगे के पाश्चात्य इतिहासकारों के लिए इस उपयोगितावादी विचारक मिल का इतिहास एक मॉडल का काम करता रहा। भारत के उच्च प्रशासनिक अधिकारियों के लिए इसका अध्ययन अनिवार्य रहा। अब वही अतीत मात्र बर्बर या अर्धबर्बर बनकर रह गया था। अनेक मामलों में वैदिक साहित्य के अधिकारी विद्वान् भी इसके अपवाद नहीं थे। इसकी एक अच्छी मिसाल मैक्समूलर है, जिसके संस्कृत साहित्य के इतिहास का शीर्षक ही था, 'ए हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिटरेचर सो फॉर इट इलेस्ट्रेट्स दि प्रिमिटिव रिलिजन ऑफ दी ब्राह्मणाज़"। मोटे तौर पर कहा जा सकता है कि वैदिक अध्ययन में इसके बाद पाश्चात्य विद्वानों का आज तक यही रुख रहा है।

उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध तक यूरोप में वेदों का अध्ययन आरंभ हो गया था। यूरोपियन विद्वान् आर्य शब्द से परिचित हो गए थे। 1851 में पहली बार आर्य शब्द का प्रयोग जाति और भाषा दोनों के लिए ब्रिटेन में किया गया था। वैदिक संस्कृत के गहरे अध्ययन से और उसकी भाषा की प्राथमिकता से सब भाषाओं के एक ही स्रोत होने की धारणा पुष्ट होने लग गई थी और भाषा, जाति और संस्कृति के परस्पर संबंध तथा एक जैवकीय नसल की बात होने लग पड़ी थी। आर्य शब्द वेदों में प्रयुक्त हुआ था और ईरान के प्राचीन ग्रंथ अवेस्ता में भी। माना जाने लगा कि ग्रीक, लैटिन, यूरोप की अन्य भाषाओं, प्राचीन ईरानी और संस्कृतभाषी लोग एक

Digitised by
Tharah Kardu

ही जाति के थे और एक ही मूल के भी। मूल स्थान एक ही था।

इस विचार की पुष्टि मैक्समूलर (1867) ने वेदों के आधार पर की। उसने कहा कि ऋग्वेद विश्व का सबसे प्राचीन साहित्य है और उसमें भारतीय आर्यों की जड़ें दीखती हैं। मैक्समूलर की मान्यता थी कि आर्यों का मूल स्थान मध्य एशिया में था। इनका एक छोटा कबीला था जो मध्य एशिया के पठार पर रहता था, तब तक उनकी भाषा संस्कृत अथवा लातिन के स्वरूप में विकसित नहीं हुई थी, किंतु यही आद्य भाषा थी, जो बाद में भारत और यूरोप की भाषाओं की जननी बनी। कुछ शताब्दियों में मध्य एशिया के पठार के लोग दो शाखाओं में बँटकर दो दिशाओं में गए। एक यूरोप की तरफ आया था और दूसरा ईरान की ओर गया, जहाँ वे फिर बँटे और एक भाग ने पश्चिमोत्तर भारत पर आक्रमण किया।

मैक्समूलर के अनुसार भारोपीय भाषा-भाषी इन लंबे, गोरे लोगों ने भारत के कृष्ण वर्ण दासों-दस्युओं को जीता। आर्य और दास दो संघर्षरत समुदाय थे, जो न केवल रंग में, बल्कि भाषा और धार्मिक कर्मकांड में भी भिन्न थे। भाषा तब जनों और नसल का पर्याय बन गई। कहा गया कि जो जन एक भाषा बोलते हैं, वे होते भी एक ही जाति-नसल के हैं। इस तरह भारत का वैदिकयुगीन इतिहास एक आक्रमण से शुरू होता है। उपनिवेशवादियों ने वर्ण व जाति को जातीय अलगाव में देखा और आर्यों को अन्यों से अलग कर दिया। ध्यान रहे, पुराणों में अतीत के वर्णन में कहीं भी आर्यों और दासों के पृथकत्व का संकेत तक नहीं है। उनमें ऐसा कोई भी वृत्तांत नहीं है जिससे आर्य और दास दो भिन्न जातियाँ सिद्ध हों।

उन्हीं दिनों यह प्रश्न उठने लग पड़ा था कि क्या कभी, कोई, कहीं ऐसा जन-समाज था, जिसके प्रत्येक सदस्य को भाषाई या जातीय उत्तराधिकार के आधार पर आर्य कहा जाता रहा हो, और यदि नहीं तो उसका किसी प्रकार के जन-संचलन से कोई संबंध कैसे हो सकता है, अर्थात् मूल स्थान, मूल जाति और उसके भिन्न दिशाओं में संचलन की धारणा निर्मूल है।

आर्य जाति की परिकल्पना के पीछे यह तथ्य रहा है कि ऋग्वेद में आर्यों और दासों-दस्युओं का उल्लेख अनेक बार आता है, और इन उल्लेखों से यह प्रकट होता है कि इनके बीच तनावपूर्ण संबंध थे। इसी के आधार पर 'आर्य आक्रमण' को प्रमाणित किया जाता रहा है। यों मैक्समूलर ने बहुत पहले ही (1888 में) इस बात पर विद्वानों का ध्यान आकर्षित किया था, कि 'आर्य' शब्द को जाति के अर्थ में लेना सर्वथा दोषपूर्ण है। उनके इस मत का बाद के ग्रियर्सन जैसे पाश्चात्य विद्वानों ने बार-बार समर्थन किया, किंतु भारतीय क्षेत्र में आते ही वे इस चेतावनी को भूल जाते रहे हैं। मैक्समूलर का कहना था कि 'आर्य' शब्द केवल भाषा के संदर्भ में ही

tharahkardu.in

सार्थकता रखता है, पर इसका भी यह कारण नहीं कि प्राचीनकाल में आर्यभाषा जैसी कोई चीज का अस्तित्व था। उसका कहना था कि वास्तव में आर्य नाम का चुनाव भी उसने केवल सुविधा के खयाल से किया था, क्योंकि इंडो-जर्मेनिक, इंडो-यूरोपियन आदि नामों की अपेक्षा यह अधिक संक्षिप्त, अधिक सार्थक और अधिक व्यापक था। लेकिन विडंबना यह कि मैक्समूलर स्वयं आर्य शब्द को जाति और भाषा के अर्थ में ही प्रयुक्त करता रहा।

ज्ञात ऐतिहासिक कालों में आर्य शब्द जिस अर्थ में प्रयुक्त होता रहा है और जिसकी पुष्टि ऋग्वेद से भी होती है, वह है श्रीमान, मालिक, मान्यवर, महोदय, श्रेष्ठ, सुजात एवं सुसंस्कृत। वेद ने 'कृण्वन्तो विश्वं आर्योगं और 'आर्यव्रता' में ऐसे ही संपन्न श्रेष्ठ समाज की बात की है। पाणिनि के अनुसार इसका प्रयोग स्वामी और वैश्य के लिए होता था, उसी तरह जैसे हिमाचल में कृषि संपदा, पशुपालन और व्यापार व सैनिक वृत्ति करने वाले खश आदि के लिए 'धणी' शब्द का प्रयोग होता आया है। इसी आर्य वर्ग से आगे चलकर ब्राह्मण और क्षत्रिय वर्ण पैदा हुए। हम कह सकते हैं कि इस शब्द का प्रयोग स्वामी वर्ग के लिए और 'दास' शब्द का प्रयोग सेवक या श्रमिक वर्ग के लिए होता था, जैसे—एलीट और जैन्ट्री, लार्ड और कामनर, अमीर और गरीब, मालिक और नौकर शब्दों से यह ध्वनित नहीं होता कि ये दो जातियों के लोग हैं, और न ही यह कि एक इनमें आक्रामक है और दूसरा आक्रांत, उसी तरह 'आर्य' और 'दास' शब्दों से भी कहीं इस तरह का विभेद नहीं प्रकट होता।

ऐसी स्थिति में विचारणीय यह हो जाता है कि वे कौन-सी स्थितियाँ हो सकती हैं, जिनमें न केवल एक भाषा का, अपितु 'आर्य' शब्द का भी बहुत बड़े क्षेत्र—भारत, अफगानिस्तान और ईरान से लेकर बगदाद, सीरिया और दक्षिणी तुर्की तक—प्रसार हुआ था। भगवानसिंह के शब्दों में (1987), "इसका उत्तर भी 'आर्य' शब्द में ही मिल जाएगा। यदि 'आर्य' शब्द का प्रयोग वैश्यों के लिए होता था तो इस भाषा और संस्कृति तथा 'आर्य' शब्द के प्रसार में वाणिज्य गतिविधियों का हाथ रहा है। भारत के बाहर जिन स्थानों पर इन व्यापारियों ने अपनी बस्तियाँ बसाईं, उनको व्यापारियों की बस्ती या आर्य-स्थान का नाम दिया गया। आरंभ में यह केवल उनकी बस्ती तक के लिए व्यवहार में आता रहा। क्रमशः इसका प्रयोग उस समस्त अंचल से होने लगा, जो उनकी भाषा और संस्कृति से, उनके व्यापारिक तंत्र से, प्रभावित होता गया। आर्यभाषा वैदिक भाषा ही है, अर्थात् वैदिक जनों की भाषा। इस व्याख्या से न केवल यह मान्यता डगमगा जाती है कि भारत पर आर्यों का आक्रमण हुआ था, अपितु इससे भिन्न मान्यता कि भारत से बाहर के देशों पर आर्यों द्वारा आक्रमण किया गया हो सकता है, भी अमान्य हो जाती है। इसके विपरीत अपने आरंभिक चरण में यह

Digitised by
Tharah Kardu

एक शांतिपूर्ण आर्थिक गतिविधि के रूप में सामने आती है। इससे भी महत्त्वपूर्ण बात यह कि आर्यों के सांस्कृतिक स्तर के विषय में जो आम मान्यता प्रचलित रही है कि वे असभ्य, यायावर, बर्बर, पशुपालक, खेती से नाममात्र को परिचित थे, वह भी खंडित हो जाती है, आर्य यह कुछ न होकर उन्नत आर्थिक तंत्र से जुड़े हुए व्यक्ति सिद्ध होते हैं।

देखने वाली बात यह है कि आर्य जाति के आविष्कारक पाश्चात्य, यूरोपियन विद्वानों ने तो इसे 'उन्नीसवीं सदी में जन्मा मिथक' कहकर नकार दिया है, किंतु हम हैं कि आर्य जाति, उस जाति का भारत पर आक्रमण, यहाँ के दास-दस्युओं जैसे देशज जनों से उनका हक छीनकर स्वामी बनना, हड़प्पा जैसी नागर सभ्यता को ध्वस्त करना आदि 'आर्य दुष्कर्मों' का राग अलापे जा रहे हैं। विडंबना यह कि इतिहासकारों के एक वर्ग ने अपने आपको इतिहास की मुख्य धारा घोषित कर समूचे इतिहास को अपनी विचारधारा में समेटने का प्रयत्न किया, किंतु मार्ग उन्होंने वही अपनाया जो विदेशी साम्राज्यवादी और मिशनरी अपना चुके थे। भारतीय अतीत इस तथ्य का एक उदाहरण है कि किस प्रकार उसे राजनीतिक स्वार्थ के लिए इस्तेमाल किया जाता रहा है। अब तक सामने आए सभी इतिहास राजनीतिक तकाजों से लिखे गए हैं, जिन्हें वस्तुपरक इतिहास नहीं कहा जा सकता।

बीसवीं शताब्दी के आरंभिक दशकों में देश में स्वतंत्रता की माँग तेज होने लग पड़ी थी। भारतीय इतिहासकारों की कुछ पीढ़ियों ने इस दौर में पुनः प्राचीन भारत का नया मूल्यांकन करने और मिल की मान्यताओं का खंडन करने का प्रयत्न किया था। इन्होंने प्राचीन भारतीय संस्थाओं, समृद्धियों, उपलब्धियों को उजागर कर भारत के अतीत का गौरवशाली चित्र प्रस्तुत कर उस काम को आगे बढ़ाया, जिसे पहली पीढ़ी के अंग्रेज प्राच्यविदों ने आरंभ किया था। इन्हें पुनरुत्थानवादी घोषित कर दरकिनार कर दिया गया।

स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद मार्क्सवादी इतिहासकारों ने अतीत के मूल्यांकन का काम सँभाला और इतिहास की इस तरह की व्याख्या करने का बीड़ा उठाया, जिससे सामाजिक रूपांतरण में सहायता मिल सके। लेकिन हुआ यह कि वे इतिहास के वैज्ञानिक अध्ययन को छोड़कर एक मिथकवादी इतिहास की सृष्टि करने लग पड़े। एकल शब्दों की मनचाही व्याख्या करके आत्मगत निष्कर्षों को इतिहास पर आरोपित करने में जी-जान से जुट गए। कोसम्बी, जो पहले प्रतिबद्ध इतिहासकार थे, अपने अनुवर्ती लेखकों के मार्गदर्शन के लिए 1965 में कह गए थे कि इतिहास को बदलने का काम इतिहास लिखने के काम से ठीक उसी तरह महत्त्वपूर्ण है जैसे मौसम के बारे में निरी बातें करने की अपेक्षा इसके बारे में कुछ करना। इस व्याख्या की नींव रखते

tharahkardu.in

हुए कोसम्बी परवर्ती काल में विकसित वर्ण जाति-व्यवस्था को पीछे ले जाकर इसे भारत पर आर्यों के कल्पित आक्रमण से जोड़कर एक क्षत्रिय-प्रधान आर्य जाति के आक्रमण की तस्वीर उभार चुके थे।

ये इतिहासकार वही काम कर रहे हैं जो औपनिवेशक साम्राज्यवादी इतिहासकारों ने किया था। इन्होंने क्षत्रिय-ब्राह्मण संघर्ष की बात की, सवर्ण-असवर्ण विवाद को प्रोत्साहन दिया, कुछ कृतियों में ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य वर्णों को हिंदू घोषित कर दलित नाम की नई जाति-नसल को इस धर्म की परिधि से बाहर रखकर फूट डालने का काम किया। यही नहीं, समाज में अनेकों उपसंस्कृतियों के आधार पर तत्संबंधी वर्गों को अलगाववाद की ओर प्रेरित किया और सूर्य और चंद्र वंशों को मात्र वंशों की जगह नसल 'रेस' का दर्जा दिया गया। लगता है कि ये वर्तमान की अपनी जरूरत के मुताबिक इतिहास को ही बदलने की चेष्टा कर रहे हैं और भारत की अविच्छिन्न सांस्कृतिक परंपरा को तोड़-मरोड़कर टुकड़े-टुकड़े कर रहे हैं। इन इतिहासकारों की संकल्पना में पहले सिंधु सभ्यता, फिर आर्य आक्रमण और उसके बाद वैदिक युग। प्राचीन भारतीय इतिहास की यही रूपरेखा बनाई गई।

यह नहीं कि इस तरह के प्रयत्नों को चुनौती नहीं दी गई। हम देखते हैं, नित नई स्रोत सामग्री के साथ वैज्ञानिक दृष्टिकोण से संपन्न इतिहासकारों ने भारतीय इतिहास के विरूपण को भरसक दूर करने के प्रयास बराबर किए हैं। सन् 1987 में भगवानसिंह ने हड़प्पा सभ्यता के पार्थिव अवशेषों की तुलना वैदिक साहित्य में उपलब्ध विवरणों और प्रासंगिक संकेतों से करके यह स्थापित किया था कि इन दोनों में कोई अलगाव या विरोध नहीं है। इसके विपरीत इनमें एक ऐसा सर्वांग सादृश्य है जो इस विषय में किसी तरह का भ्रम नहीं रहने देता कि अपनी दृष्टिहीनता के कारण ही हम इस एक ही सभ्यता को दो पृथक् नामों से पुकारते आए हैं और इस पृथकता को प्रभावित करने के लिए अनर्गल खींचतान करते रहे हैं। अपने 'हड़प्पा सभ्यता और वैदिक साहित्य' में मौलिक खोजकर उन्होंने सिद्ध किया कि हड़प्पा सभ्यता ही वैदिक सभ्यता है।

भगवानसिंह को मार्क्सवादी इतिहासकारों से यह शिकायत रही कि "आर्य सभ्यता को आक्रामकजनों की, और इस तरह सिंधु सभ्यता से भिन्न मानकर आदिम समाज से लेकर विकसित सभ्यता के इतिहास को उन्हीं आर्यजनों की कृतियों को आधार बनाकर वे भारत का इतिहास न लिखकर आक्रामक आर्यों का इतिहास लिख रहे हैं। यही नहीं, उन्होंने आर्य आव्रजन या आक्रमण के मिथक को स्वीकार करके ऋग्वैदिक समाज को ही बर्बर बनाकर बर्बरता से सभ्यता की तलाश करते हुए, और इसके पीछे के इतिहास को बट्टे खाते में डालते हुए बौद्ध काल तक के विविध

Digitised by
Tharah Kardu

विकासों को समेटकर इतिहास को कोड़ा मारकर भगाने का और इसे गंतव्य तक पहुँचाने का काम किया है।" देखने वाली बात यह है कि ऋग्वेद पर नई आधुनिक दृष्टि से किए गए व्यापक शोध जब इनके मतों को खारिज करते दीखते हैं, तो ये 'इतिहास के प्रति वैज्ञानिक दृष्टि रखने वाले' ऋग्वेद को ही अविश्वसनीय कह इतिहास की श्रेणी से ही बाहर निकाल देते हैं। बहाना यह कि वेद मात्र कर्मकांड का धार्मिक ग्रंथ है।

सन् 1995 में भी 'आर्य संस्कृति की खोज' पर निकले रामशरण शर्मा आग्रहपूर्वक कह रहे थे कि आर्य विदेशी मूल के लोग थे और कि "जो लोग यह कहते हैं कि आर्य भारत के मूल निवासी थे और यहाँ से विश्व के दूसरे भागों में फैले, वे इस तरह का दावा किसी ठोस शोध या अध्ययन के आधार पर नहीं करते, बल्कि राजनीतिक और आक्रामक भावनाओं से अभिभूत होकर ऐतिहासिक तथ्यों को तोड़-मरोड़कर करते हैं।" एक अन्य स्थान पर वह लिखते हैं : "यह दावा कि इतिहास-कारों और पुरातत्त्वविदों की स्थापना के अनुसार आर्य भारत के मूल निवासी और हड़प्पा सभ्यता के निर्माता थे, बेबुनियाद है।" शर्मा यह भी कहते हैं कि "ऋग्वेद में चित्रित जीवन हड़प्पाकालीन सभ्यता से बिलकुल भिन्न है। ऋग्वेद की संस्कृति प्रधानतः पशुचारी और अश्वाश्रित है, हड़प्पाई स्थानों में पाई जाने वाली शहरी सभ्यता का आर्यों के प्राचीन साहित्य ऋग्वेद में सर्वथा अभाव है। कारण यह कि प्रौढ़ हड़प्पाई सभ्यता का अंत 1700 ई०पू० के आसपास हो चुका था। ऋग्वेद का समय उसके 200 वर्ष बाद 1500 ई०पू० के आसपास है। ऋग्वेद की रचना ही अफगानिस्तान में हुई है। इसके अलावा हड़प्पाई लिपि भी आर्यभाषा से नहीं जोड़ी जा सकती और जो लोग सिद्ध करना चाहते हैं कि हड़प्पा के धार्मिक अवशेष वैदिक संस्कृति के द्योतक हैं, उनकी युक्ति भी तर्कसंगत और तथ्यपरक नहीं है।" शर्मा के अनुसार, "प्राचीनतम आर्य संस्कृति के प्रमुख तत्त्वों की पहचान पशु-बलि, अग्नि-वेदी, सोम-याग, दाह-कर्म, धातु-प्रयोग, कृषि-पशुपालन, घोड़ा और आरे वाला पहिया हैं।" उन्होंने ध्यान दिलाया कि ये तत्त्व गैर हिंद-यूरोपियनों में भी प्राचीनतम काल से पाए जाते हैं।

शर्मा की चिंता का मुख्य कारण यह है कि "हाल के वर्षों में दुनिया के कई देशों में कबीली स्वातंत्र्य और धार्मिक कट्टरवाद पर आश्रित और कई दकियानूसी विचार वाले आंदोलन जोर से चल पड़े हैं। अलग-अलग जनजातियाँ, अलग-अलग स्वतंत्र राजनीतिक अस्मिता खोजती हैं। भारत जैसे देश में कट्टर हिंदुत्ववादियों का जोर बढ़ गया है और कुछ लोग इस देश को आर्यों का जन्मस्थान और सभ्यता के सारे तत्त्वों की जननी घोषित करते हैं। ऐसी परिस्थिति में आर्य समस्या प्राचीन

tharahkardu.in

इतिहास के अध्ययन में भारत में ही नहीं बल्कि सारे विश्व में महत्त्व का मुद्दा बन गई है। इस मुद्दे का संतोषजनक हल निकालना कठिन है, पर इसकी पेचीदगियों को ठीक से समझना आवश्यक है।"

इसी 1995 में प्रकाशित अपनी पुस्तक 'द वैदिक हड़प्पनस' में भगवानसिंह कहते हैं कि "यह पुस्तक उस समय प्रकाशित हो रही है जब पुराने विचारों अथवा मतों का स्थान नए परिज्ञान ले रहे हैं। गत दो-तीन वर्षों में स्थिति इतनी तेजी से बदली मानो सिर से पाँव तक, आमूलचूल भटक गई हो, और इससे यदि किसी का मुँह लाल हुआ है तो वे हैं हड़प्पा सभ्यता को अवैदिक कहने वाले।" उनके अनुसार "यह 'सुखकर' परिवर्तन मोहनजोदड़ो, हड़प्पा, धौलावीरा, मेहरगढ़, पिरक, नौशरो तथा ईरान, अफगानिस्तान और मध्य एशिया में विविध देशों के भिन्न-भिन्न विषयों के विद्वानों द्वारा किए गए व्यापक स्थल निरीक्षण-परीक्षण पर आधारित पुरातात्त्विक खोजों का परिणाम है।"

डेल्स, पोशेल, मीडो, हेमफिल, केनेडी, जेनसन, सिंह, शैफर, लीषृेनस्टीन, गुप्ता, जैनकिनस आदि देशी-विदेशी विद्वानों के लेखों का हवाला देते भगवानसिंह कहते हैं कि आक्रमण और तद्‌जनित टूट-फूट का पूर्वमत अब निरंतरता, अविच्छिन्नता में बदल रहा है।

इस बदलाव का एक क्षीण-सा संकेत मार्क्सवादी इतिहासकारों की एक अन्य शीर्षस्थ नेता, रोमिला थापर के लेखों में भी मिलने लगा है। अब (1996) वह यह तो मानने लगी हैं कि हड़प्पन सभ्यता को आक्रामक आर्यों ने नष्ट नहीं किया था, किंतु साथ में यह बतलाना नहीं भूलतीं कि इसका अर्थ यह नहीं कि भारोपीय भाषा-भाषी आर्य देशज थे। हाँ, 'तथाकथित जाति पर आधारित' आर्य समस्या अब उन्हें उबकाऊ लगने लगी है। वह कहती हैं कि "पहले का वह सिद्धांत, जिसके अनुसार आर्य नाम की जाति ने उत्तरी भारत पर आक्रमण किया, स्थानीय लोगों पर विजय पाई और भारत में एक ऐसी आर्य संस्कृति स्थापित की, जिससे वह संस्कृति निसृत हुई है, उसे अब स्वीकार नहीं किया जा सकता।"

मार्क्सवादियों की मुख्यधारा से अलग पड़े, मार्क्सवादी चिंतक, भाषाविद्, इतिहासकार, दार्शनिक रामविलास शर्मा ने 'पश्चिमी एशिया और ऋग्वेद' में 1994 में ही विद्वानों का ध्यान इस तथ्य की ओर आकर्षित कर लिया था कि लैंगडन से रेनूफ्रीव तक (1931 से 1987 तक) भारतीय पुरातत्त्व के ब्रिटिश विवेचन में एक धारा ऐसी रही है जो भारत पर आर्यों के आक्रमण का सिद्धांत अस्वीकार करती है, जो सिंधु घाटी की सभ्यता को आर्यभाषा बोलने वालों की सभ्यता मानती है। भारत पर आर्यों के आक्रमण की साक्ष्य रूप कोई भी सामग्री अब तक प्रस्तुत नहीं की जा

Digitised by
Tharah Kardu

सकी है।

रामविलास शर्मा के अनुसार भारतीय इतिहास के लिए आर्यों का तथाकथित आक्रमण नहीं, सरस्वती का जलहीन होना, काल-विभाजक रेखा है। वह समझते हैं 'आर्य आव्रजन के सिद्धांतवादियों' के लिए उसे लाँघ पाना संभव नहीं है। भारत पर आर्यों का आक्रमण, इस मान्यता का जन्म और प्रचार एशिया में यूरोपियन साम्राज्यवाद से जुड़े हुए हैं। विस्तार के समय इस मान्यता का लक्ष्य आर्यों को द्रविड़ों से अलग करना है, और ह्रास के समय उत्तर-पश्चिमी भारत को शेष भारत से अलग करना है।

ऋग्वेद और पश्चिमी एशिया के संदर्भ में शर्मा कहते हैं, "ऋग्वेद हड़प्पा के लिए ही नहीं, मिस्र और सुमेर के लिए भी प्राचीन है। मिस्र से लेकर भारत तक, चौथी, तीसरी सहस्राब्दियों ई०पू० में सारा भूखंड एक सांस्कृतिक इकाई है। ऐतिहासिक भाषाविज्ञान, पुरातत्त्व, पुराण-कथाओं और काव्य-ग्रंथों से इस तथ्य की पुष्टि होती है। मिस्र, सुमेर और भारत की सृष्टि-कथाओं में अनेक तत्त्व सामान्य हैं।"

वह जोर देकर कहते हैं कि दूसरी सहस्राब्दी ई०पू० बड़े-बड़े जन-अभियानों की सहस्राब्दी है। इसी के दौरान भारतीय आर्यों के दल के दल ईराक से लेकर तुर्की तक फैल जाते हैं और अपनी-अपनी भाषा और संस्कृति की छाप सर्वत्र छोड़ते जाते हैं। "पूँजीवादी इतिहासकारों ने उलटी गंगा बहाई है। जो युग आर्यों के बहिर्गमन का है, उसे वे भारत में प्रवेश का युग कहते हैं।" उनका मानना है कि "आर्यों का भारत में उत्तर-पश्चिम से प्रवेश, यह धारणा ऐतिहासिक भाषाविज्ञान की है। पुरातत्त्व ने (मार्शल से व्हीलर तक) उसे वहाँ से ग्रहण किया है। कल्पना निराधार है। सघोष महाप्राण ध्वनियों वाले भारतीय शब्दों के ईरानी-यूरोपियन प्रतिरूपों में सघोषता और महाप्राणता का संयोग नहीं होता। यह विशेषता केवल आर्यभाषाओं की है। यह एक तथ्य भारत पर आर्यों के आक्रमण सिद्धांत को ध्वस्त करने के लिए काफी है।"

शर्मा आगे कहते हैं कि "आक्रमणकारी आर्यों ने हड़प्पा सभ्यता का नाश किया, यह कल्पना भी निराधार है। हड़प्पा सभ्यता का ह्रास 1750 ई०पू० के लगभग होता है। उस समय सरस्वती जलहीन हो रही है। कालीबंगा के उत्खनन से यह तथ्य सामने आता है, किंतु ऋग्वेद की सरस्वती जल से भरी शक्तिशाली नदी है। ऋग्वेद ही नहीं, उसके बहुत बाद रचे गए यजुर्वेद में भी उसका यही स्वरूप है। इसका अर्थ यह है कि ऋग्वेद की रचना हड़प्पा सभ्यता के ह्रास से, 1750 ई०पू० से बहुत पहले हुई थी। सिंधु सभ्यता का विनाश आर्यों ने नहीं, बल्कि इस सभ्यता की नींव ऋग्वेद के रचनाकार आर्यों के वंशजों ने ही रखी थी।"

हिमाचल में हुई हाल की खोजें भी वैदिक सभ्यता और हड़प्पा सभ्यता के एक ही होने के तथ्य को पुष्ट करती हैं। हमने 1984 में ही 'सर्वाइविंग हड़प्पन

tharahkardu.in

सिविलाइजेशन' में हिमालय की सतलुज उपत्यका में हड़प्पा के जीवित, फलते-फूलते अवशेषों की खोज की विवेचना करते हुए इस ओर ध्यान आकर्षित किया था कि इन हड़प्पन बस्तियों की परंपराएँ ऋग्वेद से मिलती हैं। सन् 2000 में प्रकाशित 'लिविंग प्री—ऋग्वैदिक एंड अर्ली ऋग्वैदिक ट्रेडिशंस ऑफ हिमालयास' में हमने हिमालय के सप्तसिंधु क्षेत्र की, जो मुख्यतः हिमाचल ही है, परंपराओं और ऋग्वेद में वर्णित घटनाओं, मिथकों, जनों, उत्सवों, अनुष्ठानों का विश्लेषण करते हुए उनकी सरस्वती-सिंधु सभ्यता के समान तत्त्वों से तुलना कर सिद्ध किया है कि ऋग्वैदिक और सिंधु-सरस्वती सभ्यता एक ही है और इसका जीवित, भले ही कुछ धुँधला-सा, स्वरूप आज भी हिमाचल में वर्तमान है। हिमाचली धणी और ब्राह्मण उन आर्य व्यापारियों और रक्षाकर्मियों में शामिल थे, जिनके दल के दल इराक से लेकर तुर्की तक फैल गए थे। लगता है, इराक में विशेषकर इन हिमाचली धणी-ब्राह्मण आर्यों ने अपनी संस्कृति की छाप छोड़ी थी, जिसकी गवाह, जैसा हमने हमने पिछले अध्याय में देखा, वहाँ के पुराण में वर्णित सृष्टि कथा और उसका नाट्यकरण बुढ़ी दियाउड़ी सरीखे हिमाचली मेलों-अनुष्ठानों में है। इनमें 'धणी' आर्य कहीं भी जाति के रूप में दिखाई नहीं देते। वे इंद्र के सखा हैं, इंद्र वाज्रन के 'हाजरी' हैं। उसके सेनानी हैं। वे आर्य धणी हैं, कोई जाति नहीं।

शक—हिमाचल के जातीय इतिहास में एक महत्त्वपूर्ण घटना शकों का आगमन है। शक मूलतः मध्य एशिया के निवासी थे। वे भारत में ईसा पूर्व पहली शताब्दी में आए। वे सीथियनों की एक शाखा युइची या युयिश जाति के थे। कुछ विद्वान् उन्हें खशों के ही वंशज मानते हैं। उनका मत है कि खश शब्द ही उलटकर खश, शख, शक बन गया है।

शकों का उल्लेख रामायण, महाभारत, मनुस्मृति और विविध पुराणों में यवनों (यूनानियों) और पह्लवों के साथ-साथ मिलता है। भले ही ये तीनों जातियाँ पश्चिम तथा पश्चिमोत्तरी देशों से आकर भारत में बसी थीं, किंतु भारतीय संस्कृति द्वारा आत्मसात् किए जाने से वे यहाँ के जन-जीवन में समा गई थीं।

शकों को अपने मूल स्थान मध्य एशिया में वहाँ की एक यायावर बर्बर जाति हियंगून (हूणों) से पराजित होना पड़ा था। इसके परिणामस्वरूप उन्हें भागकर मध्य एशिया के पश्चिम और दक्षिण-पश्चिम में जाने को बाध्य होना पड़ा। लेकिन उनका जो दल दक्षिण-पश्चिम की ओर बढ़ा था, वह वर्तमान अफगानिस्तान में यूनानियों के पहले से जमा होने के कारण वहाँ नहीं टिक सका था, इसलिए उन्हें ईरान के पूर्वी और दक्षिण-पूर्वी भाग में शरण लेनी पड़ी थी। फिर वे बोलान दर्रे में से होकर सिंधु नदी के पश्चिम तटवर्ती विशाल भूभाग में फैल गए थे। यह समस्त भूभाग शकों

Digitised by
Tharah Kardu

के नाम पर शकस्थान (सीस्तान) कहलाने लगा। पुराणों में इसे शकद्वीप कहा गया है। भूगोलवेत्ताओं ने उसके आसपास के भूभाग को 'इंडो सीथिया' का नाम दिया है।

शकों ने सिंधु पार कर भारत के पश्चिमी भाग से बढ़ना आरंभ किया। उन्होंने पश्चिमी-उत्तरी भारत में कई राज्य स्थापित किए थे। इनके मुख्य केंद्र उज्जयिनी, मथुरा और तक्षशिला थे। राजकुलों की उपाधि 'क्षत्रप' थी और जो अधिक शक्तिशाली हुए वे 'महाक्षत्रप' कहलाते थे।

प्राचीन ग्रंथों में इक्के-दुक्के उल्लेखों से तथा प्रदेश के अंतर्साक्ष्य से यह मालूम होता है कि या तो शकों का राज्य त्रिगर्त के बड़े भाग तथा सतलुज उपत्यका में काफी भीतर तक फैला हुआ था या शक कबीले, शक राजकुमार तथा सामंत हूणों और गुप्तों के प्रहार से बचने के लिए हिमाचल के भिन्न-भिन्न दुर्गम स्थानों में शरण लेने के लिए मजबूर हुए होंगे।

आधुनिक खोजों के परिणामस्वरूप अब यह स्वीकार किया जा रहा है कि चौथी सदी ईसवी में सम्राट् चंद्रगुप्त के पुत्र रामगुप्त को पराजित कर महिषी ध्रुवस्वामिनी को जिस शकराज ने माँगा था, वह हिमाचल का ही था। राजशेखर की काव्यमीमांसा के अनुसार यह स्थान हिमालय में स्थित था। देवीचंद्रगुप्तकार ने इस स्थान को अलिपुर कहा है। हर्षचरित में बाणभट्ट ने इस स्थान का नाम अरिपुर दिया है। आर० सरस्वती अलिपुर दुर्ग को काँगड़ा में मानते हैं, किंतु डी०आर० भंडारकर इस युद्धस्थल को कर्तृपुर, आधुनिक कर्तारपुर मानते हैं। अल्बरूनी के अनुसार शकराज का वध स्यालकोट और लोणी दुर्ग के मध्य किया गया था। जो भी हो, यह स्थान हिमाचल में या इसकी सीमा पर था।

लगता है कि कुछ पहाड़ी राजाओं ने रामगुप्त के विरुद्ध विद्रोह कर दिया। कुछ इतिहासकार विद्रोही राजाओं के नेता को काँगड़ाधिपति मानते हैं जो संभवतः त्रिगर्त-जालंधर के राजा का संबंधी रहा होगा। सम्राट् रामगुप्त एक बड़ी सेना लेकर उसे कुचलने चल निकला, किंतु शाही फौजें राजा की रक्षा करने वाली सेनाओं की पंक्ति को भेद नहीं सकीं और उन्हें पीछे हटना पड़ा। इस युद्ध में विश्वविख्यात गुप्त सेना की बहुत अधिक हानि हुई। फलस्वरूप राजा का उत्साह बढ़ा और उसने समय का लाभ उठा गुप्त सेना का पीछा किया। रामगुप्त ने अपने परिवार तथा कुछ अधिकारियों के साथ दुर्ग में शरण ली। किंतु यह दुर्ग उसके लिए एक जाल सिद्ध हुआ। सम्राट् रामगुप्त राजा के चंगुल में फँस गया और उसे बिना शर्त आत्मसमर्पण करना पड़ा। विजयी राजा ने माँग की कि सम्राट् अपनी सम्राज्ञी ध्रुवस्वामिनी को हस्तांतरित कर दे। किस प्रकार भावी विक्रमादित्य ने छद्मवेश में शकराज को मारा और राज्य को गुप्त साम्राज्य का अंग बनाया, यह इतिहास-विदित है।

tharahkardu.in

काँगड़ा में बैजनाथ के ऐतिहासिक ग्राम का एक नाम 'कीरग्राम' भी है। इनिहासकार कीरों को शकों की ही एक शाखा मानते हैं। यदि यह ठीक है तो हम कह सकते हैं कि हिमाचल में उस समय शकों के छोटे-बड़े अनेक राज्य थे।

शकों का सर्वोच्च देवता सूर्य था। अपने समृद्धि-काल में उन्होंने विभिन्न स्थानों पर मित्र (सूर्य) के मंदिर बनाए। सूर्य देवता के इस प्रकार के प्राचीन मंदिर रावी उपत्यका में गुम सतलुज के किनारे निरत और व्यास के किनारे नग्गर में हैं। सूर्य-मूर्तियाँ कुछ-एक अन्य नगरों और मंदिरों में भी उपलब्ध हैं। इन मूर्तियों की पहचान उनके वस्त्र हैं। शकों की सूर्य-मूर्तियाँ नोकदार टोपी, पाजामा, चबगला (लंबा कोट) तथा घुटनों तक के बूट पहने दिखाई देती हैं। स्वयं शकों के भी यही वस्त्र थे। जौनसार बावर की स्त्रियाँ आज भी लगभग वही पहनावा पहनती हैं जो शकों के मूलस्थान सिक्यांग के कुछ भागों में पहना जाता है।

शक विदेशी आक्रमणकारी होते हुए भी अत्याचारी नहीं थे और न ही अपने परवर्ती हूण, अरब, तुर्क, मंगोल और पठान जातियों के आक्रमणकारियों की भाँति बर्बर और हिंसाप्रिय थे। वे भारत के जीवन में इस प्रकार घुलमिल गए कि कुछ काल बाद उन्हें भारतीयों से पृथक् करना कठिन हो गया था। प्रदेश के कुछ लोगों की नसों में शकों का खून है किंतु उसे पहचानना संभव नहीं है।

शकों की विवाह-पद्धति आदिम व्यवस्था की थी। कई भाइयों की एक ही पत्नी हुआ करती थी। यही प्रथा आज भी किन्नौर, लाहुल और जौनसार बावर में प्रचलित है। किंतु इस प्रथा का प्रचलन वैदिक युग से चला आ रहा है, जिसका प्रभाव स्वयं शकों पर पड़ा था।

प्राचीन मिस्र के राजाओं और सामंतों के समान ये शक भी मृतक संस्कार बड़ी शान व धूमधाम से करते थे। सरदारों की कब्रों में मृत शरीर के साथ वे सभी वस्तुएँ रखी जाती थीं, जिनका उपयोग वे अपने जीवन-काल में करते थे। शक भी अपने मृतकों विशेषतः सरदारों को दफनाते थे। इस तरह की कब्रें किन्नौर में अब भी मिलती हैं। इन्हें स्थानीय भाषा में खचेरो मखङ् कहते हैं। इन्हें राहुल सांकृत्यायन सरीखे विद्वान् शकों से जोड़ते हैं।

कुछ शक कबीलों में मृत शरीर को जलाने तथा मृतक की पत्नी का उसके साथ जल मरने का रिवाज था। इस प्रकार यह संभवतः शक ही थे, जिन्होंने देश में सती-प्रथा का आरंभ किया। हिमाचल प्रदेश में सैकड़ों ऐसी गाथाएँ हैं, जिनमें सतियों का वृत है।

शकों को घुमंतू प्रकृति का माना जाता है। जब ये भारत में आए तो इनमें बड़े-बड़े राजा, सम्राट् और सामंत नहीं थे। उनका ओर्दू—घुमंतू परिवार समूह—अपने

Digitised by
Tharah Kardu

पशुओं, डेरों और सारे परिवार के साथ वैसे ही चलता था, जैसे आज गद्दी और गुर्जर पशुपालक, जिन्हें कतिपय विद्वान् शकों के वंशज मानते हैं।

कुषाण—कुषाण युइची अथवा युयिश जाति के थे, जो शकों की ही दूसरी शाखा थी। शकों के पश्चात् यह जाति भारत में आई। यद्यपि कुषाणों ने लगभग तीन सौ वर्षों तक भारत के पश्चिमोत्तर के कुछ भागों पर राज्य किया, किंतु प्रमुख सम्राट् केवल कनिष्क हुआ। इस वीर सम्राट् ने चारों दिशाओं में इस जाति का प्रताप बढ़ाया। कुषाणों का हिमाचल के साथ संपर्क संभवतः कनिष्क के शासनकाल में हुआ, जब इस प्रदेश का दक्षिण भाग उसके साम्राज्य में सम्मिलित था। समूचे हिमाचल के जन-जीवन पर एक समय जो व्यापक बौद्ध प्रभाव रहा, वह शायद बौद्ध धर्म के इस प्रबल अनुयायी की ही देन रही हो। आज भी जाने-अनजाने हिमाचली मानव घरों में जिन छोटी-बड़ी देव-देवी मूर्तियों की पूजा करते हैं, उनमें से कई बौद्ध देवतंत्र से हैं।

गुर्जर—पहाड़ी बोलियों और गुजरी में परस्पर बड़ा निकट का संबंध है, इसलिए गुजरी बोलने वाले गुर्जरों के विषय में जिज्ञासा होना स्वाभाविक है।

गुर्जर कौन थे ? इनका मूल निवास-स्थान कहाँ था ? ये विदेशी थे या स्वदेशी ? इन प्रश्नों पर बड़ा विवाद है। मोटे तौर पर पाश्चात्य विद्वान् यह समझते हैं कि गुर्जर विदेशी थे। भारतीय विद्वानों की एक बड़ी संख्या यह मानती है कि ये देशज ही थे। समस्या इस कारण भी जटिल हो गई है कि भारतीय साहित्य में गुर्जरों का उल्लेख सर्वप्रथम सातवीं शताब्दी में होता है और विचित्र बात यह है कि एक-दो शताब्दियों के उपरांत उनका नाम सर्वथा लुप्त हो जाता है।

कुछ इतिहासकार कहते हैं कि गुर्जरों का प्राचीन नाम गूजर है और इनका आरंभिक निवास-स्थल पंचनद प्रदेश (पंजाब) है। गुजराँवाला (पश्चिमी पाकिस्तान) उन्हीं के नाम पर प्रसिद्ध है। वे समझते हैं कि जब विदेशी आक्रमणकारियों ने उन्हें पंजाब से खदेड़ दिया, तब उनमें से कुछ उत्तरी राजस्थान में जाकर टिक गए, और कुछ हिमाचल के चंबा जैसे भीतरी भागों में आ गए। डॉ० भंडारकर के अनुसार इन गूजरों की अपनी एक बोली रही है, जिसे प्राचीन ग्रंथों में 'गौर्ज्जरी' कहा गया है। इस बोली ने अपभ्रंश भाषा को बहुत प्रभावित किया। भाषा की दृष्टि से मेवाड़ी, मेवाती, ढुंढरी, गुजरी और पश्चिमी पहाड़ी में पारस्परिक निकटता का यही कारण है।

जो विद्वान् गुर्जरों को विदेशी मानते हैं, उनका मत है कि हूणों ने जब गुप्त साम्राज्य पर आक्रमण किया तो उनके सैनिक मुख्यतः अ-हूण थे। हूणों को जब गुप्तों के हाथों निर्णायक हार खानी पड़ी, तो केवल हूण सेना, अधिकारी वर्ग और सैन्य संगठन ढह गया। इसका स्थान एक अन्य शासक वर्ग ने लिया, और यह नया

tharahkardu.in

शासक वर्ग गुर्जरों का था। वे गुर्जर एक ही जाति के लोग नहीं थे। सातवीं शताब्दी के सुविख्यात गुर्जर राज्य भ्रोच, भिनमल-जलोड़ और मंदोर के थे। तब वहाँ मंगोल वंश के लोग थे। उत्तर में जयपुर और बीकानेर में अपेक्षाकृत गोरे रंग के गुर्जर थे। उनसे और उत्तर में, प्राचीन टक देश में अधिक गोरे सुदर्शन सुंदर गुर्जर थे। वर्तमान जाट और सिख उनकी ही संतान हैं। हिमाचल में बसने वाले गुर्जर छोटे कद के और गूढ़े रंग के थे। कुल्लू, चुराह और पांगी के गुर्जर एक अन्य जाति के लगते हैं, जिनका संबंध तोखारियों से मालूम पड़ता है। इन लेखकों के अनुसार गुर्जर जाति में सीमांतक भारतीय, ईरानी-शक, मंगोल और संभवतः कुछ यूरोपीय वंश के लोग हैं। एक-दो इतिहासकार गुर्जरों को शकों का वंशज मानते हैं।

जैसा हम पहले कह चुके हैं, गुर्जर नाम केवल सातवीं शताब्दी में प्रचलित हुआ और आठवीं शताब्दी के बाद व्यवहार में आना बंद हो गया। पाँचवीं शताब्दी में नए विदेशियों में केवल हूणों का उल्लेख है। उन्हीं के साथ या अगली शती में शूलिक सामने आते हैं। सातवीं सदी के आरंभ में गुर्जरों का उल्लेख बाण के हर्षचरित, वराहमिहिर के वृहत्संहिता और भ्रोज, और नासिक के अभिलेखों में प्राप्य है। आठवीं शती में मंदोर के प्रतिहारों के साथ इनका नाम प्रयुक्त हुआ है। इस आधार पर ये विद्वान् मानते हैं कि भारत में गुर्जर शब्द किसी जाति विशेष के लिए प्रयुक्त नहीं होता था। इसका प्रयोग विभिन्न स्थानों से आई उन विभिन्न जातियों के समूह के लिए हुआ करता था, जो हूणों के साथ भारत आई थीं। इन जातियों को हिंदू समाज में सम्मिलित कर लिया गया और गुर्जर नाम केवल पशुपालकों के लिए ही रह गया। वराहमिहिर ने गुर्जरों की गणना अभिसार, गंधर्व, भल्ल, चिना, दर्द, दर्व, घोष, कौनिंद, कश्मीर, खश, कीर, किरात, तंगण और पशुपाल के साथ की है। एक विदेशी विद्वान् ने यह मत भी व्यक्त किया है कि चुराह, पांगी, कुल्लू और शिमला के लोग ही वास्तव में गुर्जरों के वंशज हैं। यह कथन स्पष्टतया अतिशयोक्तिपूर्ण है, अतः इसका कोई महत्त्व नहीं है। गुर्जर चाहे जहाँ के भी मूल निवासी रहे हों, इसमें संदेह नहीं कि हिमाचल के वर्तमान जाति-तत्त्वों में उनका भी योगदान है।

भोट—ईसा की सातवीं शती में उत्तर की ओर से हिमाचल के सीमावर्ती प्रदेश पर एक आक्रमण हुआ, यह आक्रमण था भोटों का। इतिहास में पहली बार तिब्बती भोटों ने अपने साम्राज्य-प्रसार के अभियान में इस क्षेत्र पर आक्रमण किया। आक्रमण और प्रत्याक्रमण का यह क्रम लंबे समय तक चलता रहा।

किन्नौर, लाहुल तथा स्पिति में भोट प्रभाव का तब श्रीगणेश हुआ। पर इस क्षेत्र में लोगों की आकृति और भाषा पर भोट के विशिष्ट प्रभाव से यह भ्रम नहीं होना चाहिए कि ये लोग आरंभ से ही ऐसे थे। जिस प्रकार सब ओर से कटे समाजों

Digitised by
Tharah Kardu

में प्रायः होता है, यहाँ पर भोटों के संपर्क से मंगोल रक्त का सम्मिश्रण तेजी से हुआ। किंतु इन सीमावर्ती क्षेत्रों में भी भाषा तथा आकृति की एकरूपता नहीं। दक्षिणी भाग से लगने वाले इलाकों में अमंगोल-प्रभाव स्पष्ट दीखता है। यह इससे भी जाहिर होता है कि किन्नौर और लाहुल में विशेषकर धार्मिक क्षेत्र में मूलतः देवी-देवताओं का जो प्राधान्य है वही समूचे प्रदेश में है, जो अभोट है।

फिर सातवीं शताब्दी से पूर्व यहाँ के निवासी कौन थे ? किन्नौर में तो निस्संदेह किन्नर निवास करते थे। स्पिति और लाहुल मुख्यतः किन्नर प्रदेश था, किंतु लाहुल में नागों का भी वास रहा है। ऐतिहासिक काल में संभवतः शक-कुषाण भी इस प्रदेश में आए। इनसे पूर्व खश-खूँद यहाँ उपस्थित थे। इस प्रकार वर्तमान किन्नौर, स्पिति और लाहुल निवासी का रक्त भी उतना ही मिश्रित है जितना हिमाचल के शेष भागों में रहने वालों का। इसमें किन्नर, किरात, नाग, खश, शक-कुषाण, गुर्जर तथा भोट रक्त उल्लेखनीय है। अन्यत्र कोल, नाग, खश, शक और गुर्जर जाति-तत्त्वों से वर्तमान हिमाचली का निर्माण हुआ। किस व्यक्ति में किस जाति के रक्त का प्राधान्य है, यह उसकी वंश-परंपरा, सामाजिक परिस्थिति तथा भौगोलिक स्थिति पर निर्भर करता है।

संक्षेप में हम यह कह सकते हैं कि सातवीं शताब्दी तक हिमाचल प्रदेश में जातीय रूप से जन-जीवन का पूरा समन्वय हो चुका था। विभिन्न तत्त्व एकाकार हो गए थे और सब के सब शास्त्रीय हिंदू समाज व्यवस्था के अभिन्न अंग बन गए थे। तथाकथित आर्यों और म्लेच्छों का भेदभाव मिट गया था। नाग, कोल, किन्नर, किरात, शक और गुर्जर अपने पृथक् अस्तित्व को तिलांजलि दे चुके थे, खश प्राचीन जन होने के कारण अपना नाम और सामाजिक विशिष्टताएँ बचा पाए थे।

वर्तमान वर्ण-व्यवस्था संभवतः वैदिक युग में हुए संगठन के समय से ही बीज रूप में उपस्थित थी, किंतु लगता है कि इसका स्वरूप वह नहीं था, जो देश के अन्य भागों में था। चार वर्णों का यहाँ अधिक प्रचलन नहीं था। वस्तुस्थिति तो यह है कि आरंभ में सभी एक ही जाति के थे। सभी जनपदीय नागरिक थे, सबके अधिकार समान थे। वर्ग की ओर झुकाव धीरे-धीरे हुआ। संभवतः ईसा की प्रथम शताब्दी से चतुर्थ शताब्दी के बीच इसका अंतिम रूप निखरा हो। तब तक हिमाचल प्रदेश में छोटा-बड़ा एक शासक था और बाकी प्रजा। जनपदीय क्षेत्रों में एक शासक वर्ग, दूसरा शासित वर्ग। थोड़े-से लोग ग्राम, खूँद, जाति अथवा जनपद के मुखिया थे, अन्य साधारण नागरिक। अथवा एक वर्ग खेतिहर था दूसरा उसका आश्रित शिल्पकार। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र की सुस्पष्ट परिकल्पना इस समाज में आरंभ में परिलक्षित नहीं होती। यह तथ्य कोली और कनैत जैसे वर्गों के सामाजिक विश्लेषण

tharahkardu.in

से भी ज्ञात हो जाता है।

वर्ण-व्यवस्था की स्थापना में हिमाचल में राजा और देवता ने मुख्य भूमिका निभाई। राजा अपने पुरोहित की सलाह से तथा देवता अपने कारदार और 'गूर' के माध्यम से किसी व्यक्ति को एक वर्ण से दूसरे वर्ण में सम्मिलित कराते रहे हैं। साधारणतया यह प्रक्रिया नीच वर्ग से उच्च वर्ग में जाने के लिए प्रयुक्त होती थी। ऐसे सहस्रों उदाहरण हैं जहाँ राहू, कनैत अथवा खश को उच्चकोटि में शामिल किया गया अर्थात् राजपूतों में मान्यता दी गई। जहाँ ऊपर चढ़ने में कुछ कठिनाई थी, सामाजिक सीढ़ी से नीचे फिसलना साधारण-सी बात थी। जाति के नियम-पालन में थोड़ी-सी ढिलाई उससे निष्कासन के लिए काफी थी। इस प्रकार चढ़ना और गिरना मुख्यतः शादी-विवाह पर और यदा-कदा भोजन पर आधारित था। यदि पुत्री अथवा बहन का विवाह नीच कुल से किया गया, तो समस्त कुल पतित हो गया। यदि कन्या ब्राह्मण, राजा और राणा के उच्च कुल में गई तो समाज में कन्या वंश वाले एक-दो सीढ़ी ऊपर चढ़ गए।

सामान्यतः समाज ईसा की पहली शताब्दी तक अपने को वर्ण-व्यवस्था की परिधि में पूरी तरह बाँध चुका था और भारत के शेष भागों के समान वह चार प्रमुख जातियों में सुगठित हो गया था। यह दूसरी बात है कि डोडराक्वार जैसे इलाकों में वर्ण-व्यवस्था के संगठन का क्रम अब शुरू हुआ है। कुछ समय पूर्व तक वहाँ के लोगों से यदि उनकी जाति पूछी जाती तो सभी अपने आपको खशिया (खश) बताते थे। कौन से खशिया ? पूछे जाने पर ही वे ब्राह्मण या राजपूत बताते थे। ब्राह्मण और राजपूतों के भी वर्ग हैं, यह उनकी परिकल्पना से बाहर की बात थी।

ब्राह्मण—यहाँ के लोगों की संस्कृति और सभ्यता वैदिक आर्य है, किंतु जातीय तत्त्वों के आधार पर वे स्वयं संपूर्णतः वैदिक जन नहीं हैं, उनमें से अधिकांश मिश्रित तत्त्वों के हैं। यह बात समाज के सर्वोच्च वर्ग—ब्राह्मण—पर भी लागू होती है। हिमाचल के ब्राह्मणों को मौलिक जातीय आधार पर हम तीन वर्गों में विभक्त कर सकते हैं—खश, नाग और देश के अन्य भागों से आए ब्राह्मण। यह निर्धारण उनके निवास तथा जाति के भीतर उनकी स्थिति को दृष्टि में रखकर किया जा सकता है।

ब्राह्मणों के मुख्यतः दो केंद्र हैं—प्रसिद्ध देवता के मंदिर और तीर्थस्थान तथा राजधानी। बड़ी-बड़ी राजधानियों तथा तीर्थस्थानों पर ब्राह्मण मुख्यतः नवआगंतुक हैं। स्थानीय देवी-देवताओं के मंदिर के आसपास रहने वाले ब्राह्मण स्थानीय हैं। इन स्थानीय ब्राह्मणों में भी जो प्रदेश के भीतर दुर्गम स्थानों में रहते हैं, उनकी अपनी पृथक् श्रेणी है।

ब्राह्मणों के भेदों और उपभेदों में भी जो सर्वोच्च हैं, वे या तो ऋषियों के साथ

Digitised by
Tharah Kardu

आए ब्राह्मण हैं या नाग और खश नेता। इसमें संदेह नहीं कि प्रदेश में हड़प्पा सभ्यता के विस्थापितों को बसाते समय परशुराम ने तथा अन्य ऋषियों ने स्थानीय शासकों को भी ब्राह्मण अथवा क्षत्रिय वर्ग में सम्मिलित कर दिया था। नागर ब्राह्मणों की चर्चा करते हुए हम देख चुके हैं कि वे मानसरोवर के निकट के प्राचीन निवासी थे, वे नगरकोट में आकर रहे। नगरकोट प्रागैतिहासिक काल से इस क्षेत्र का सबसे बड़ा राजनीतिक केंद्र रहा है। त्रिगर्त के शक्तिशाली राज्य की यह नगरी कभी राजधानी और कभी उप-राजधानी रही है। यहाँ पर देश के कतिपय प्रसिद्ध दुर्गों में से एक दुर्ग या कोट था, जिसे परंपरा अभेद्य और अजय समझती थी। यह कोट (दुर्ग) संभवतः नागों का निर्मित था। नगरकोट में तीन प्रकार के ब्राह्मणों का सम्मिलन हुआ। एक तो मानसरोवर जैसे इलाकों से आए नेता और सामंत, दूसरे स्थानीय शासक, तीसरे आरंभिक ऋग्वेद काल के उपरांत सरस्वती-सिंधु क्षेत्र से आए आर्य मनीषी। ये तीनों वर्ग अपने-अपने समाज में आदरणीय थे, अतः उनके वंशज नगरकोटिये ब्राह्मण आज भी अपने आपको सर्वश्रेष्ठ समझते हैं। इन्हीं के समान अपने को सर्वोच्च घोषित करने वाले वे ब्राह्मण हैं जो परशुराम की बसाई बस्तियों में रहते आए हैं। अधिकांश में ये गौड़ हैं। इन ब्राह्मणों में भी ऐसा लगता है कि अनेक परिवार या तो खश मूल के हैं या फिर नाग।

समूचे प्रदेश में ब्राह्मणों का एक दर्ग-विशेष है जिसे नाग पुंडरीक या पुंडरी नाग कहते हैं। यह ब्राह्मण नाग देवताओं के पुजारी हैं, और नाग ही इनके इष्ट देवता हैं। यह मानने के सबल कारण हैं कि ये नाग पुंडरीक ब्राह्मण प्राचीन नाग सामंतों की संतान हैं, जिन्होंने अपने पूर्वजों की स्मृति को बनाए रखा और आज भी उनकी पूजा करते हैं।

ब्राह्मणों में पारस्परिक उच्चता और नीचता को जानने की एक कसौटी है उनका कृषि के प्रति दृष्टिकोण। खेती-बाड़ी के काम से जो ब्राह्मण जितना दूर रहता है, वह उसी मात्रा में उतना उच्च माना जाता है। जो ब्राह्मण हल चला ले वह तुरंत एक-दो सीढ़ी नीचे गिर जाता है और हल न चलाने वाले उस हलवाहे परिवार के साथ विवाह संबंध स्थापित करने में संकोच करते रहे हैं।

कुछ ब्राह्मण भूमि के स्वामी हैं, कुछ नहीं। जो परिवार परंपरागत भूमि के स्वामी हैं, वे अनुमानतः नाग तथा खश सामंतों, शासकों में से हैं, जिन्हें ब्राह्मण वर्ण में सम्मिलित कर आत्मसात् कर दिया गया था।

जहाँ तक ब्राह्मणों की अपनी परंपरा है, वह यह प्रदर्शित करती है कि वे भारत के अन्य भागों से यहाँ आए। आगमन का यह क्रम वैदिक युग से लेकर ऐतिहासिक युग तक चलता आया है। मान्यता यह है कि वे दक्षिण भारत, अयोध्या, गया,

tharahkardu.in

राजपूताना, कन्नौज, हरिद्वार (मायापुरी), सिंध तथा कश्मीर से आकर यहाँ बसे। उत्तरी भारत में मुस्लिम सत्ता के आगमन से जो सामाजिक और राजनीतिक उथल-पुथल हुई, उसके फलस्वरूप देश के विभिन्न भागों से पर्याप्त संख्या में ब्राह्मण यहाँ त्राण पाने चले आए, इसमें संदेह नहीं है।

परंपरागत व्यवसाय के अतिरिक्त ब्राह्मण प्रायः सभी क्षेत्रों में सक्रिय हैं। सेना, उद्योग, कृषि, व्यापार और प्रशासन में समाज के अन्य वर्गों के साथ वे साझीदार हैं।

राजपूत, क्षत्रिय—हिमाचल की जनसंख्या का सबसे बड़ा अंश खश-क्षत्रियों का है। इनके इतने भेद-उपभेद हैं कि उनका समुचित वर्गीकरण कठिन हो जाता है। केवल उच्चवर्गीय राजपूतों की ही लगभग एक सौ शाखाएँ हैं। इस वैविध्य में कोई विचित्र बात भी नहीं। यदि समूचे देश के इतिहास को देखें तो क्षत्रिय ही एक ऐसा वर्ग है, जिसमें जातीय रूप से सर्वाधिक समन्वय एवं विलयन हुआ। अपने विवेचन के लिए हम हिमाचल के क्षत्रियों के अंतर्गत राजपूत, राणा, मियाँ, ठाकुर, राठी, खश, घिरथ, गद्दी, कनैत तथा राहू का समावेश करेंगे। इनमें नागों, किन्नरां, खशों, शकों और गुर्जरों का बड़ी मात्रा में समाहार हुआ है।

ये क्षत्रिय जातियाँ भी तीन मुख्य भागों में बँटी हैं। पंक्ति के अग्रभाग में राजा, राणा और मियाँ हैं। आज के संदर्भ में ये किसी राजवंश के सदस्य हैं या उनके वंशों की सेवा में नियुक्त योद्धाओं और सामंतों की संतान। ये पुरातन तथा नवीन समाज के अभिजात्य वर्ग से हैं। आचार-व्यवहार में इनमें और ब्राह्मणों में विशेष कोई अंतर नहीं है। ठाकुर, राठी, गद्दी, खश अथवा क्षत्रिय व्यवस्था में दूसरे स्थान पर हैं। मुख्यतः ये कृषक हैं। मनुस्मृति काल के उपरांत, जैसा हमने देखा है, सबसे निचले स्थान पर कनैत और राहू हैं।

कनैत और राहू व्यावहारिक रूप से एक ही हैं और खशों की उपशाखाएँ हैं । कुछ विद्वानों का मत है कि कनैत कुनिंदों की संतान हैं। कनैत शब्द की व्युत्पत्ति वे कुनिंद-कुनेत-कनेत-कनैत से सिद्ध करते हैं। एक अन्य मत यह है कि कनैत और राहू वास्तव में उन गुर्जरों की संतान हैं, जिन्होंने सैनिक वृत्ति छोड़कर खेती-बाड़ी के धंधे को अपनाया था और खश जाति में अंतर्भुक्त हो गए थे।

यद्यपि इन मतों को निर्मूल कहकर अस्वीकार नहीं किया जा सकता है, किंतु लोक-परंपराए, मान्यताएँ और रीति-रिवाज यह स्थापित करती हैं कि ये दो उपजातियाँ खशों का अंग होने के कारण इस प्रदेश के मूल निवासियों में से हैं। ऐसा जान पड़ता है कि कनैत और राहू आदिम जातियों और ऐतिहासिक जातियों का मिश्रित रूप हैं। शायद समाज में इन्हें ऊपर उठने का कभी अवसर प्राप्त नहीं हुआ। इसका एक कारण यह भी था कि इन लोगों में ब्राह्मणों, राजपूतों और खशों का वह समुदाय भी

Digitised by
Tharah Kardu

सम्मिलित हो गया था, जिन्हें समय-समय पर इन जातियों से निष्कासित किया जाता रहा था। घिरथ भी खशों की ही उपशाखा है।

वैश्य—चातुर्वर्ण्य व्यवस्था के अनुसार वैश्य मुख्यतः वणिक और शिल्पी थे। हिमाचल प्रदेश में शिल्पी साधारणतया कनैतों में से थे। वाणिज्य के लिए यहाँ अवसर नहीं था, क्योंकि अर्थव्यवस्था अदल-बदल की प्रणाली पर आधारित थी। एक उत्पादक अपनी वस्तु को दूसरे उत्पादक को देकर अपनी जरूरत की चीज ले लेता था। इस कारण यहाँ एक बड़ा व्यापारिक वर्ग नहीं बन पाया। वैश्यों की श्रेणी में महाजन, सूद, बनिया, कराड़ और खत्री रखे जा सकते हैं।

कोली—कोली समाज का निम्नतम वर्ग था। इस कारण उसका शोषण भी अत्यधिक हुआ। यह जाति खेतिहर है, परंतु कई स्थानों पर स्वयं भूमि की स्वामी नहीं है। डागी, रेहढ, छाँहग, शिप्पी, चनाल, थावी, बाढ़ी, चनाअ, बेडा और डूमणों की तरह ये भी अधिकांश में ऋग्वैदिक से पूर्व की जातियों के वंशज हैं। कोलियों को अनेक विद्वान् आदिम कोल जाति से प्रसूत मानते हैं। देश के अन्य भागों में, जहाँ केवल जन-जातियाँ ही उन प्राचीन जातियों के अवशेष रह पाई हैं, हिमाचल में प्रायः सभी निम्नवर्ग की जातियाँ इस कोटि की हैं।

जैसा हमने पहले देखा है कि कोली आदिम कोल जाति नहीं है। महात्मा बुद्ध के काल तक उनकी गिनती खश-क्षत्रियों में होती रही है। लुंबनी के निकट बहने वाली रोहिणी नदी शाक्यों और कोलियों के राज्यों/जनपदों की सीमा बनाती थी। लुंबनी में ही शाक्य मुनि बुद्ध ने जन्म लिया था। हिमाचल में प्रचलित लोक-परंपरा के अनुसार राहू और कोली एक ही पिता की संतान कहे जाते हैं।

जहाँ तक शिप्पी, थावी, बाढ़ी-बढ़ई और बड़ोड़ी-बुनकर वर्ग का प्रश्न है, ऋग्वेद के अनुसार उनकी स्थिति इतनी गिरी हुई नहीं थी। थावी के साथ त्वष्टा, ऋभुगणों, मरुद्गणों और अश्विनी कुमारों का प्रायः उल्लेख आता है। ऋभुगण इंद्र के सखा हैं, मरुद्गण इंद्र-ज्येष्ठ हैं, इंद्र इनके नेता है। ऋभुगणों के कौशल की प्रशंसा बार-बार सु-हस्त या मँजा हुआ शिल्पी कहकर की जाती है। लेकिन यह भी दीखता है कि उपर्युक्त इन दस्तकारों की सामाजिक हैसियत को अपेक्षाकृत हीनतर माना जाता था किंतु इसके बावजूद उन्हें सामाजिक प्रतिष्ठा अर्थात् सोम-पान का अधिकारी भी समझा जाता था। यही स्थिति आज भी हिमाचली दस्तकारों की है। वर्ण-व्यवस्था में वे भले ही निम्न स्तर पर हों, किंतु उनकी दक्षता को स्वीकारा जाता है और उन्हें तद्नुरूप मान दिया जाता है।

tharahkardu.in

पंचम अध्याय

राजनीतिक इतिहास

सीमांत प्रदेश—प्रकृति ने भारत को एक संपूर्ण राष्ट्र के रूप में निर्मित किया है। तीन ओर से विशाल पर्वतशृंखलाएँ और चौथी ओर से अथाह सागर इसकी सीमा निर्धारित करते हैं। भूगोल की इस देन से भारतीय लोग आदिकाल से ही परिचित थे। यही कारण है कि समय-समय पर उन्होंने इस भौगोलिक तथ्य को राजनीतिक सत्य में ढालने का प्रयत्न किया है।

वेदों में राष्ट्र शब्द और उसके स्वरूप का अनेक बार उल्लेख हुआ है। इस राष्ट्र के अंतर्गत प्रागैतिहासिक काल से बड़े-बड़े साम्राज्य बनते-बिगड़ते आए। इन साम्राज्यों के चक्रवर्ती सम्राटों ने देश के अधिकांश राज्यों को अधीनस्थ कर अपना प्रभुत्व स्थापित किया था। पर प्रायः उनका उद्देश्य सर्वत्र एकतंत्र, एकराज स्थापित करना नहीं होता था। बहुधा वे अपने साम्राज्य को राष्ट्र का पर्यायवाची बनाना चाहते थे जिससे राष्ट्रीय एकता सुदृढ़ हो पाए।

परंपरा साक्षी है कि प्रायः सभी सम्राटों ने दिग्विजय की, अश्वमेध और राजसूय यज्ञ किए, साम्राज्य की सीमाओं का विस्तार किया, किंतु विजित राज्यों को समूल नष्ट नहीं किया। आंतरिक प्रशासन में उन्हें स्वतंत्र रहने दिया, जिससे वे अपनी परंपरा और प्रणाली के अनुरूप अपना विकास करते रहें। सम्राटों की इस प्रकार की नीति का एक लिखित उदाहरण इलाहाबाद प्रशस्ति में प्राप्त है, जिसमें ऐसे सीमांतक राज्यों एवं जनपदों का उल्लेख है जिन्होंने बिना युद्ध किए ही गुप्त सम्राट् समुद्रगुप्त का प्रभुत्व स्वीकार कर लिया था। इस प्रकार के राज्यों में समतट, देवक, कामरूप, नेपाल, कर्तृपुर आदि हिमालयवर्ती क्षेत्र थे। जनपदों में मालव, अर्जुनायन, यौधेय, माद्रक, आभीर, प्रार्जन, सनकानिक, काक, खरपरिक आदि मुख्य थे।

जैसा कि हम कह चुके हैं, समुद्रगुप्त ने स्वयं इन राज्यों और जनपदों पर आक्रमण नहीं किया, किंतु अपनी शक्ति का आभास उन्हें अन्य उपायों से खूब कराया। अप्रत्यक्ष रूप से उसने उनके सम्मुख दो विकल्प रखे। उनकी ओर से अवज्ञा अथवा अवहेलना पर संबंधित राज्य या जनपद का सैनिक शक्ति द्वारा नाश अन्यथा उसका राजाधिराजत्व स्वीकार कर शांति, समृद्धि तथा आंतरिक स्वतंत्रता का पूर्ण

Digitised by
Tharah Kardu

आश्वासन।

हिमाचल प्रदेश आरंभ से ही सीमांत प्रदेश रहा है। अभी तक प्राप्त सामग्री से ज्ञात होता है कि जब कभी देश में बड़े साम्राज्य बने, यह प्रदेश उनका भाग बना, अथवा उनके आधिपत्य में आया, किंतु जब वे विश्रृंखलित हो समाप्त हो गए, तो यह स्वाधीन हो गया। किंतु इसका कदापि यह तात्पर्य नहीं कि यह समूचा भूखंड कभी एक इकाई था।

हिमाचल के संबंध में, अंतर्साक्ष्य और बहिर्साक्ष्य, दोनों से यह लगता है कि यहाँ आदिकाल से छोटे-छोटे राज्य, जनपद या प्रशासनिक इकाइयाँ रहीं, जो कभी परतंत्र, कभी किसी बड़ी शक्ति के अधीन और कभी दो-चार पड़ोसियों को आत्मसात् कर स्वयं प्रभुतासंपन्न बन गईं। इन राज्यों, जनपदों और इकाइयों की संख्या इतनी अधिक है कि सबको एक सूत्र में पिरोना दुष्कर है। इस पहाड़ी भूखंड के पाँच-छह हजार वर्षों के लंबे इतिहास को क्रमबद्ध रूप में प्रस्तुत करना लगभग असंभव है। इसका मुख्य कारण यह है कि जिन तंतुओं को लेकर इतिहास की रूपरेखा निश्चित की जाती है, उनका प्रायः सर्वथा अभाव है। इन सूत्रों के नाम पर प्राचीन ग्रंथों में इक्के-दुक्के संदर्भ, विदेशी यात्रियों का विहंगम अवलोकन तथा वंशावलियों का सामान्य अतिरंजित चित्रण ही उपलब्ध है। कुछ सिक्के अवश्य मिले हैं, किंतु उनसे भी काल-विशेष और जनपद-विशेष का ही ज्ञान होता है। अभिलेख तथा ताम्रपत्र हजार-दो हजार वर्ष से पुराने नहीं हैं। ऐसी परिस्थिति में ऐतिहासिक मान्यताएँ निर्धारित करने और निष्कर्ष निकालने में दोष रह सकता है।

ऐतिहासिक सामग्री—उपलब्ध ऐतिहासिक सामग्री को सुविधा के लिए हम दो भागों में विभक्त कर सकते हैं—अंतर्साक्ष्य और बहिर्साक्ष्य। अंतर्साक्ष्य में इस प्रदेश से प्राप्त होने वाली वंशावलियों, अभिलेखों और सिक्कों को गिना जा सकता है। परंतु इनसे भी अधिक महत्त्वपूर्ण स्रोत लोक-परंपरा, लोक-गाथा और किंवदंतियों का है। इतिहास की ठोस सामग्री के अभाव में ये जनश्रुतियाँ ही हमें हिमाचल के अतीत का एक फीका-सा, मद्धिम-सा, अस्पष्ट किंतु कुछ-कुछ नियोजित चित्र बनाने में सहायक होती हैं। इस स्रोत का सर्वोत्कृष्ट उदाहरण 'दियाउड़ी' मेला है। हमने देखा कि इसने वेद जैसे ग्रंथों में वर्णित कतिपय घटनाओं की सुस्पष्ट व्याख्या तथा सत्यता की स्थापना में बड़ा योग दिया है। इसी प्रकार विभिन्न राज्यों के संस्थापकों से संबंधित गाथाओं, रानी-राजा के बलिदान का विरुद तथा नूरपुर के राजा जगतसिंह और रामसिंह पठानियाँ जैसे ऐतिहासिक व्यक्तियों के देशप्रेम और शौर्य का वर्णन भी हमें लोक-साहित्य से ही उपलब्ध होता है। नाटी गीत प्रायः सभी ऐतिहासिक व्यक्तियों से संबंधित हैं। अतः हिमाचल के संदर्भ में इन उत्सव, गीत और गाथाओं का उतना

tharahkardu.in

ही महत्त्व है, जितना अन्यत्र लिखित साहित्य का है।

साधारणतया जितने भी छोटे-बड़े राज्य इस प्रदेश में उन्नीसवीं और बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध तक थे, उन सभी के पास वंशावलियाँ थीं, जिनमें से अनेक गोरखा आक्रमण, आंतरिक कलह या भयंकर आग में नष्ट हो गईं। इन वंशावलियों में वंशा-विशेष के राजाओं संबंधी तथ्य हैं, जो बहुत कुछ प्रक्षिप्त हैं। राजाओं के नामों की इस प्रकार की सूचियाँ हरिद्वार, गया, प्रयाग और कुरुक्षेत्र जैसे तीर्थस्थानों के पंडों के पास भी उपलब्ध हैं। इन सूचियों से मिलान करने पर वंशावलियों के ऐतिहासिक महत्त्व को परखा जा सकता है।

शिलालेख, ताम्रपत्र, काष्ठलेख, मुखोट, मीहरें, मूर्तियाँ और मुद्राएँ (सिक्के) ठोस सामग्री हैं। इन सबमें आधिक्य ताम्रपत्रों का है, जिनमें से लगभग 150 अकेले चंबा में हैं। ये ताम्रपत्र नवीं-दसवीं शताब्दी के बाद के हैं। ताम्रपत्रों में प्राचीनतम निरमंड के परशुराम मंदिर का है। ऐतिहासिक दृष्टि से भी यह ताम्रपत्र सर्वाधिक महत्त्व का है, क्योंकि इससे चौथी-पाँचवीं शताब्दी में देश के सीमांत क्षेत्र की राजनीतिक स्थिति की जानकारी मिलती है कि किस प्रकार यह क्षेत्र तब एक पुराने भारतीय राज्य का केंद्रीय भाग था। ऐतिहासिक मूल्य की मूर्तियाँ भ्रमौर और चत्राढ़ी में शक्ति देवी, नृसिंह और लक्षणा देवी की हैं। इन मूर्तियों को सातवीं शताब्दी में राजा मेरुवर्मन ने स्थापित किया था। इन पर अंकित यह सूचना हमें उस समय के इतिहास के प्रति अति मूल्यवान सूत्र उपलब्ध कराती है। इन मूर्तियों के अतिरिक्त पनिहारों पर खुदे अभिलेख, जिनका भी चंबा में बाहुल्य है, लगभग छह-सात सौ वर्षों का फीका-सा चित्र प्रस्तुत करते हैं।

शिलालेख काँगड़ा में धर्मशाला से चार मील दूर कन्हियारा और आगे नौ मील पठ्यार, कुल्लू में निरमंड, मंडी में ममेल-काव और सलानू तथा शिमला में हाटकोटी में मिले हैं। वैजात का लेख, जिसमें वैद्यनाथ मंदिर के निर्माण के तथ्य दिए हैं, इस दृष्टि से उल्लेखनीय है। ब्राह्मी लिपि में लिखा निरमंड का लेख इतना अस्पष्ट है कि पढ़ने में कठिनाई आती है। कन्हियारा के दोनों शिलालेख किसी कृष्णनयस द्वारा पहली-दूसरी शताब्दी ईसवी में बौद्ध विहार (आराम) बनाने का उल्लेख करते हैं और पठ्यार (तीसरी-दूसरी शताब्दी ईसा पूर्व) का लेख वायुला द्वारा पुष्करिणी (जलाशय) बनाए जाने का। ये तीनों लेख ब्राह्मी और खरोष्टी लिपियों में हैं। मंडी में सालड़ी के निकट सलानू के शिलालेख के अनुसार वत्सकुल के महाराजा ईश्वर हस्तिन् के पुत्र महाराजा चंडेश्वर हस्तिन् ने रज्जिल बल को पराजित कर सलीपुरी नगरी की स्थापना की थी।

इन शिलालेखों, ताम्रपत्रों आदि से धार्मिक स्थिति का अधिक ज्ञान होता है,

Digitised by
Tharah Kardu

इतिहास की जानकारी कम होती है। इनमें अनुदान का धार्मिक पक्ष प्रबल है। दूसरी कठिनाई उनके काल-निर्धारण की है, क्योंकि उन पर जिन वर्षों का उल्लेख है, उनका संवत्सर अव्वल तो दिया ही नहीं है, यदि कहीं है तो वे प्रायः विविध संवत्सर हैं। कहीं शास्त्रीय संवत्सर है, तो कहीं ऋषि या शक संवत्।

प्राचीनतम सिक्के हमें ईसा से दो-तीन सौ वर्ष पूर्व के मिलते हैं। इनमें औदुंबर जनपद के ताँबे और चाँदी के गोल अथवा चौकोर सिक्के होशियारपुर, गुरदासपुर, पठानकोट, नूरपुर, ज्वालामुखी और हमीरपुर से मिले हैं। इन सिक्कों में औदुंबर के शिवदास, रुद्रदास और घरघोष तथा रुद्रवर्मा, आर्यमित्र, विश्वमित्र, महिमित्र, भानुमित्र और महाभूतिमित्र राजाओं के नाम मिलते हैं। रुद्रवर्मा की एक मुद्रा पर 'विजय रानी वेमकिस रुद्रवर्मस' अंकित है। कुल्लू के किसी विरायस राजा की एक मुद्रा मिली है। ईसा पश्चात् पहली या दूसरी शताब्दी की इस मुद्रा पर 'राजनः कुलूतस्य विरायसस्यि' ब्राह्मी में लिखा है। उसी में खरोष्ठी लिपि में 'राना' शब्द भी उल्लिखित है।

ज्वालामुखी, हमीरपुर (तपा मवो), अंबाला, सहारनपुर और गढ़वाल में कुलिंद जनपद के अमोघमूर्ति राजा की चाँदी और ताँबे की मुद्राएँ प्राप्त हुई हैं। कुलिंदों के ही चत्रेश्वर के सिक्के भी मिले हैं। विश्वास किया जाता है कि ये सिक्के ईसा पूर्व 150 वर्ष से लेकर दूसरी शताब्दी ईसा पश्चात् तक प्रचलित थे।

बहिर्साक्ष्य से इधर-उधर बिखरे उद्धरण, हमें ऋग्वेद, ब्राह्मण ग्रंथ, महाभारत, रामायण, पाणिनी की अष्टाध्यायी, मनुस्मृति, विष्णु पुराण, मार्कंडेय पुराण, बौद्ध ग्रंथ, वृहत्संहिता, कल्हण की राजतरंगिणी, बाण की कादंबरी, हर्षचरित और विशाखदत्त के मुद्राराक्षस नामक नाटक में मिलते हैं। ऋग्वेद से दिवोदास-शंबर युद्ध का पता लगता है, महाभारत से हमें तात्कालिक राजनीतिक इकाइयों और उनके शासकों का ज्ञान होता है। महाभारत के बाद की स्थिति का आभास हमें अष्टाध्यायी से मिलता है। पुराण जहाँ जनपदीय प्रणाली के संबंध में हमें थोड़ा बहुत बतलाते हैं, वहाँ राजतरंगिणी में दो-चार उद्धरणों से कश्मीर के संदर्भ में त्रिगर्त, चंबा और कुलूत की स्थिति के बारे में मालूम होता है। स्थल पुराण, परोहड़ से हमें सतलुज नदी के किनारे सरस्वती-सिंधु सभ्यता के अवशेष रूप पाँच जीवित बस्तियों की सूचना मिलती है। यह परोहड़ आठवीं शती ईसवी में रचा गया है।

कतिपय विदेशी पर्यटकों और इतिहासकारों ने भी इस प्रदेश का जहाँ-तहाँ संक्षिप्त-सा जिकर किया है। ईसा पूर्व की दूसरी पहली शताब्दी से लेकर ईसा के बाद की दो-तीन शताब्दियों तक के समय पर मद्धिम-सी प्रकाश-किरण ग्रीक इतिहासकार प्लीनी और लेटिन लेखक ताल्मी की पुस्तकों से पड़ती है। सातवीं शताब्दी में त्रिगर्त और कुल्लू की स्थिति की सुविस्तृत जानकारी हमें प्रसिद्ध चीनी यात्री युवानच्वांग और

tharahkardu.in

आठवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में त्रिगर्त की असफलताओं की झलक कोरियाई यात्री ह्यी-चो से मिलती है। मुस्लिम इतिहासकार फरिश्ता, अलबरूनी और उत्बी से ग्यारहवीं शताब्दी के प्रथम दशक के आसपास की अवस्था का परिचय मिलता है, जब महमूद गजनवी ने सन् 1009 में नगरकोट (काँगड़ा) पर आक्रमण किया था। पिछले छह-सात सौ वर्षों के इतिहास को समझने में दिल्ली के सुलतानों और मुगल बादशाहों के पट्टे परवाने और फरमान, अंग्रेज और फ्रांसीसी पर्यटकों और सरकारी कर्मचारियों के यात्रा-वर्णन एवं सिख इतिहासकारों की रचनाओं से थोड़ी बहुत सहायता मिलती है।

प्रारंभिक रूपरेखा—उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट हो जाता है कि यह सारी सामग्री असंबंधित, खंडित और नितांत अपर्याप्त है, किंतु प्रदेश के इतिहास की प्रारंभिक रूपरेखा तो स्थिर करनी ही होगी। अभी तक की खोज के आधार पर जो चित्र बनता है, वह इस प्रकार है।

नाग और खश दोनों पशुपालन और कृषि का काम करते थे। उन दिनों न तो जनसंख्या अधिक थी, और न ही खेती-बाड़ी के लिए उपयुक्त विस्तृत भूमि उपलब्ध थी। जहाँ कहीं अच्छी चरागाह, उपजाऊ भूमि और जल-व्यवस्था सुलभ होती, वहीं ये लोग अपनी बस्तियाँ बसा लेते थे।

बरींद—स्वाभाविक रूप से ये बस्तियाँ प्रायः एक-दूसरी से अलग-थलग होती थीं। प्रत्येक बस्ती में केवल एक ही परिवार आकर नहीं बसता था, अपितु एक से अधिक परस्पर संबंधी परिवार वहाँ रहते थे। इस प्रकार के परिवार-समूह को 'बरींद' कहा जाता था। आज भी कई स्थानों में एक ही संबंधित परिवार के सदस्य बरींद कहलाते हैं। इन बरींदों का मुखिया सभी परिवारों का वृद्धतम पुरुष, सयाणा, होता था, जबकि अकेले परिवार का मुखिया पिता या पितामह होता था। ये बरींद एक इकाई होते थे और मिलकर कार्य करते थे। जब किसी कारण एक स्थान से दूसरे स्थान के लिए प्रस्थान करना होता था, तब भी समूचा बरींद ही अपना अन्न, धन लेकर जाता था। आंतरिक मामलों में परिवार स्वतंत्र था, किंतु अंतर्बरींद समस्याओं के लिए वे बरींद मुखिया के अधीन थे। बरींद सामान्यतः आत्मनिर्भर हुआ करता था।

खूँद—ऐसे भी अनेक अवसर आए, जब एक बरींद ने अन्यत्र जा किसी दूसरे बरींद की भूमि और बस्ती पर अधिकार करने का प्रयत्न किया। ऐसी स्थिति का सामना करने के लिए आसपास बसे बरींदों का एक सुरक्षात्मक संगठन बना। इन संगठनों को खूँद या गढ़ कहा जाता था। गाँव यदि बरींद के उदाहरण हैं, तो परगना या कोठी खूँद के ही रूप हैं। रामपुर बुशैहर, चूँड़ और बिलासपुर में इन खूँदों की

Digitised by
Tharah Kardu

परंपरा आधुनिक काल तक बनी हुई थी। कालांतर में यही खूँद ठकुराइयाँ बन गई थीं। जहाँ कई खूँद एकत्रित हुए, वहाँ उन्होंने राज्यों का स्वरूप लिया था। संस्कृत साहित्य में संभवतः यही खूँद जनपद कहलाए। देश के मैदानी भागों में इन जनपदों का आकार काफी बड़ा था, किंतु हिमाचल के पवर्तीय क्षेत्र में घूँड जैसे भी जनपद रहे, जिसका क्षेत्रफल सन् 1948 में विलय के समय केवल नौ वर्गमील था और जनसंख्या दो हजार थी।

जिस प्रकार सभी बरींद परिवारों का वयोवृद्ध पुरुष उस बरींद का नेता होता था, ठीक उसी प्रकार खूँद के सभी बरींदों में वृद्ध व्यक्ति खूँद या गढ़ नेता होता था। खश-खूँदों में उन्हें प्रायः मावी अथवा मुवाणा/मुआणा कहा जाता रहा है। संभव है अपने प्राथमिक स्वरूप में ये खूँद संबंधित बरींदों के ही रहे हों, जो शांतिकाल में तो अपनी-अपनी बस्तियों में पूर्ण स्वतंत्र थे, किंतु आपत्काल में या युद्ध के अवसर पर मिलकर अपनी रक्षा करते और एक-दूसरे की सहायता करते थे। सुरक्षा के लिए उन्होंने गढ़ों या कोटों का निर्माण किया होता था। ये गढ़ अथवा कोट युद्धनीति की दृष्टि से उपयुक्त स्थान पर बनाए जाते थे। बहुधा ये धारों की चोटियों पर स्थित होते थे, जहाँ से दूर-दूर तक चारों दिशाओं पर नजर रखी जा सके। इस प्रकार के अनेक गढ़ों के भग्नावशेष बरामगढ़, नैरणगढ़, हरिगढ़, कोटगढ़ और सिरिगढ़ में मिलते हैं। नगरकोट, पठानकोट, रावाकोट और समरकोट जैसे स्थान कोटों से ही अपना नाम सार्थक करते हैं।

जनपद—आरंभ में परिवार, बरींद और खूँद ही राजनीतिक इकाइयाँ रही होंगी। ऋग्वेद काल में संभवतः यही स्थिति थी। शंबर खूँदों का मुखिया था, और उसी हैसियत से वह दिवोदास के विरुद्ध लड़ा होगा। ऋग्वेद के अनुसार शंबर के अधिकार-क्षेत्र में एक सौ गढ़ थे। युद्ध में शंबर की सहायता चुभुरि, कृष्णासुर, नमुचि, तुग्र, कुत्स, वरशिख, धुनि, शुण, अक्षुष और पिपु नामक नायकों ने की थी। ये सभी खूँदों के मुखिया रहे होंगे। आदि काल में सभी छोटी-बड़ी राजनीतिक इकाइयाँ जनतंत्रात्मक थीं, जिनमें सब परिवार, बरींदों अथवा खूँदों के कुल प्रतिनिधियों, बरींद मुखियों और खूँद नेताओं के समान अधिकार थे। तब इन सबमें गणतंत्रात्मक शासन-प्रणाली थी। किंतु समय बीतने पर एकराज-पद्धति ने जन्म लिया। इसका मुख्य कारण युद्ध जैसी संकटमय परिस्थिति का सफलता से सामना करने के लिए एक सर्वप्रमुख नेता की आवश्यकता रही होगी। ऐसा लगता है कि ऋग्वेद काल में शंबर के समय में ही काँगड़ा तथा निकटवर्ती इलाकों में राजा और राज्यों का बीज-रूप में जन्म हो गया था। बहुधा सर्वोच्च नेता के अधिकार-क्षेत्र के खूँद ही उसके राज्य की सीमा बन गए। इसका परिणाम यह हुआ कि राजनीतिक रूप से दो इकाइयाँ

tharahkardu.in

बनीं। एक पर राजा का शासन हो गया और दूसरी पूर्ववत् खूँद के नेताओं द्वारा संयुक्त रूप से शासित होती रही। दोनों प्रकार की इकाइयाँ जनपद कहलाती थीं। राजा के शासन वाला जनपद एकराज और खूँद नेताओं द्वारा शासित जनपद संघ या गणराज कहलाता था।

जनपदों के निवासियों का अपनी भूमि से प्रगाढ़ मोह और उसके प्रति मातृभाव था, अतः प्रत्येक खूँद या खूँद-समूह की भूमि उन लोगों की मातृभूमि बनी। धर्म, संस्कृति, भाषा और व्यवस्था की दृष्टि से ये जनपद उनके जीवन के केंद्रबिंदु बन गए। आश्चर्यजनक बात यह है कि खूँद पर आधारित जनपद के प्रति यह मोह इतना प्रबल रहा कि बीसवीं शताब्दी तक वर्तमान हिमाचल में चालीस से ऊपर पुराने राज्य थे।

खूँदों अथवा गढ़ों का नामकरण उनके निवासियों पर अथवा निवासियों का नामकरण खूँद-गढ़ विशेष के नाम पर होता था। त्रिगर्त एक जनपद का नाम था और वहाँ के लोगों का भी। कहीं-कहीं त्रिगर्त के निवासी कटोचों के नाम पर ही काँगड़ा को कटोच कहा जाने लगा था। उसी प्रकार कोटगढ़, सिरिगढ़, बरामगढ़ आदि खूँदों के नाम भी होंगे। एकराज जनपद का अधिपति राजा था। संघ शासन के प्रभावशाली ऐश्वर्य-संपन्न जितने कुछ थे, उन कुलों के प्रतिनिधि भी राजा के नाम से जाने जाते थे, और उनका एकराज जनपद के राजा के समान अभिषेक होता था। लिच्छवी जनपद के वैशाली संघ के राजाओं के संबंध में कहा जाता है कि उनके जितने कुल थे, सबके वृद्धों का अभिषेक होता था। उनके अभिषेक के लिए जल एक विशेष पुष्करिणी या कुंड से लिया जाता था। उस मंगल पुष्करिणी का जल राज्य के ऐश्वर्य का प्रतीक था, अतः जिन कुलों में प्रभुसत्ता परिनिष्ठित थी, उन्हें ही मंगल पुष्करिणी से अभिषेक के लिए जल पाने का अधिकार होता था। कुलपिता के अनंतर उसके पुत्र का मुर्धाभिषेक बड़े समारोहपूर्वक किया जाता था।

कुल प्रतिनिधियों के अभिषेक की प्रथा हिमाचल में आज भी जारी है। महात्मा बुद्ध के लिच्छवी संघ की तरह सतलुज उपत्यका में निरमंड प्राचीन संघ जनपद था। 'भूँड़ा' नामक महायज्ञ के अवसर पर यहाँ सन् 1982 तक कुल प्रतिनिधियों का अभिषेक होता रहा है। ये प्रतिनिधि गाहरी कहलाते हैं। पीढ़ी दर पीढ़ी ये गाहरी अपने अधिकार की रक्षा बड़ी सतर्कता से करते आए हैं। साथ में गाहरी प्रतिनिधि के गाहरीपन की भी पूरी तरह छानबीन की जाती है। साधारणतया अभिषेक के इच्छुक गाहरी की सात पूर्व पीढ़ियों तक देखा जाता है कि उसका रक्त शुद्ध गाहरी है।

'भूँड़ा' के समारंभ पर प्रत्येक गाहरी कुल और परिवार परशुराम मंदिर के कारदार

Digitised by
Tharah Kardu

और यज्ञ के अधिष्ठाता को सूचित करता है कि अमुक दिन उसके घर अभिषेक समारोह होना है। इस समारोह को 'टीका लगाना' कहते हैं। टीका सर्वप्रथम किसी नाग पुंडरीक ब्राह्मण को लगता है। प्रायः परिवार का ज्येष्ठ पुत्र ही टीका लगाने का अधिकारी होता है। निश्चित दिन पर देवी अंबिका का कलश अभिषेक के इच्छुक गाहरी के घर लाया जाता है। कलश की विधिवत् पूजा की जाती है। इस पूजा के लिए एक विशेष बावली से जल लाया जाता है। परंपरा के अनुसार केवल 'भूँड़ा' यज्ञ के अवसर पर ही इस बावली में पानी भरता है। ऐसा माना जाता है कि यह जल गंगाजल के समान पवित्र है। पूजा के समय गाहरी कुलों के प्रतिनिधि उपस्थित रहते हैं। उनके सामने कलश की कुशा से पवित्र बावली के जल द्वारा अभिषेक किया जाता है। उसके उपरांत अभिषिक्त व्यक्ति को परशुराम के सम्मुख ले जाया जाता है, जहाँ उसके मस्तक पर तिलक और पीठ पर केसर-चंदन से हाथ के पंजे का निशान लगाया जाता है।

त्रिगर्त—महाभारत में विभिन्न स्थलों पर कश्मीर से हरिद्वार और तिब्बत की सीमा से शिवालिक तक जिन जनपदों का उल्लेख हुआ है, उनमें त्रिगर्त, औदुंबर, कुलूत (उलूत), किंपुरुष, कीचक, मत्स्य और कुलिंद उल्लेखनीय हैं।

त्रिगर्त जनपद स्पष्ट रूप से काँगड़ा राज्य है। त्रिगर्त शब्द तीन दूनों के क्षेत्र की ओर इशारा करता है। ये दूने सतलुज, व्यास और रावी की घाटियाँ ही हैं। वैसे भी आज से सौ-दो सौ वर्ष पहले तक काँगड़ा को त्रिगर्त कहा जाता था। कुल्लू कुलूत जनपद का आधुनिक नाम है। कुछ विद्वानों का मत है कि किंपुरुष किन्नौर का इलाका, कीचक सतलुज के बाएँ किनारे महलोग से रामपुर तक का क्षेत्र और मत्स्य जनपद कालका से रोहड़ू तक का इलाका था। कुलिंद सतलुज और यमुना के बीच का पहाड़ी क्षेत्र था, जो अपने उत्थान के दिनों में व्यास से यमुना तक फैला था और जिसके अंतर्गत बिलासपुर और शिमला के भाग भी सम्मिलित थे।

महाभारत के सभा-पर्व में अर्जुन की उत्तर दिशा की यात्रा का वर्णन है। राज्य-विस्तार के लिए अर्जुन ने पहले कुलिंद देश के भूपालों को अपने वश में किया। तत्पश्चात् अंतर्गिरी, उपगिरि और वहिर्गिरि पर विजय प्राप्त की। फिर उनके नरेशों को साथ लेकर उलूक पर हमला किया। तब वहाँ वृहंत का शासन था। कतिपय अन्य राजाओं को जीतने के अनंतर अर्जुन ने धवलगिरि को लाँघकर किंपुरुष पर विजय-पताका फहराई।

त्रिगर्त के कई राजाओं का महाभारत में उल्लेख हुआ है। स्थानीय वंशावली के 234वें नरेश सुशर्मण ने महाभारत युद्ध में कौरवों का पक्ष लिया था। उसके चार भाई थे : सुरथ, सुधर्मा, सुधनु और सुबाहू। ये सभी युद्ध में मारे गए थे। इससे पूर्व कौरवों

tharahkardu.in

के कहने पर सुशर्मण ने मत्स्य नरेश विराट पर तब आक्रमण किया था, जब पांडव उसके पास अज्ञातवास का समय व्यतीत कर रहे थे। आक्रमण के लिए उसे उत्तर-पूर्व की ओर जाना पड़ा था। इस उद्धरण से अनुमान लगाया जा सकता है कि त्रिगर्त और मत्स्य पड़ोसी राज्य होंगे और मत्स्य राज्य के कालका और रोहड़ के बीच होने की स्थानीय परंपरा सत्य होगी। कहा जाता है कि हाटकोटी का क्षेत्र विराट की राजधानी था। यह भाग त्रिगर्त के ठीक उत्तर-पूर्व में है। राजस्थान का भरतपुर, अलवर का इलाका यदि मत्स्य जनपद रहा होता, तो वह त्रिगर्त से सैकड़ों मील दूर पूर्व-दक्षिण में स्थित था और बीच में अन्य शक्तिशाली जनपद थे। ऐसी अवस्था में त्रिगर्त के सुशर्मण को मत्स्यराज विराट पर आक्रमण करने के लिए कौरवों द्वारा प्रेरित किया जाना संभव नहीं मालूम होता है।

महाभारत में क्षेमकर नाम के एक अन्य त्रिगर्तराज का जिकर भी आता है जो सरस्वती नदी के किनारे काम्यक वन में पांडवों के हाथों मारा गया था। युधिष्ठिर के अश्वमेध यज्ञ के समय त्रिगर्त का राजा सूर्य वर्मा था। उसके, केतु वर्मा और धृत वर्मा, दो भाई थे। ऐसा संकेत मिलता है कि सूर्य वर्मा ने अश्वमेध के घोड़े को पकड़ा था। संभवतः तब त्रिगर्त जनपद का विस्तार काफी रहा होगा और ऊना, मंडी और सुकेत भी उसके भाग रहे होंगे। किंतु ये सभी अपने-अपने खूँदों में विभक्त रहे होंगे। ईसा से छह-सात सौ वर्ष पूर्व पाणिनि ने अष्टाध्यायी में त्रिगर्त के देश को आयुध-जीवियों का संघ कहा है। यहाँ सदा से छोटी-छोटी रियासतें रही हैं। पाणिनि के अनुसार तब यहाँ छह संघ राज्य थे। काशिका में इन संघ राज्यों के नाम कौंडोपरथ, दांडकि, कौष्टकि, जालमानि, ब्राह्मगुप्त और जानकि हैं। ब्राह्मगुप्त की पहचान आधुनिक भ्रमौर से की जा सकती है। अष्टाध्यायी में मंडमती शब्द संभवतः मंडी के लिए प्रयुक्त हुआ है। सुकेत प्राचीन सुकुट्ट ज्ञात होता है। सुकुट्ट का उल्लेख महाभारत के सभा-पर्व में कुलिंदों के साथ हुआ है। कुलिंदों का जनपद सतलुज से पूर्व की ओर लगता था।

त्रिगर्त क्षत्रिय संसप्तक या संशप्तक नाम से प्रसिद्ध थे। अमर ने वामलिंगानुशासन कोश में लिखा है कि संशप्तक लोग समय करके युद्ध करते थे और युद्ध से पीठ फेरकर लौटते नहीं थे। वे छह सुप्रसिद्ध आयुधजीवियों में से थे। युद्धकला में वे अत्यंत निपुण थे। ये गुण आज भी प्रचुर मात्रा में विद्यमान हैं। इसीलिए यहाँ के डोगरा अपनी वीरता के लिए विख्यात हैं।

त्रिगर्त में भृगुकुल के भार्गायण नाम का कोई इतना प्रसिद्ध व्यक्ति हुआ है कि पाणिनि ने उसके लिए एक सूत्र-विशेष की रचना की है।

अष्टाध्यायी से लगता है कि ईसा से एक हजार वर्ष पूर्व से पाँच सौ वर्ष पूर्व

Digitised by
Tharah Kardu

तक समूचे भारत में जनपदों का बोलबाला रहा। देश के एक सिरे से दूसरे सिरे तक जनपदों का ताँता लगा हुआ था। इन जनपदों की विस्तृत सूचियाँ भुवनकोश के नाम से संगृहीत हैं। महाभारत के भीष्म-पर्व के नौवें अध्याय में लगभग 250 जनपदों का उल्लेख है। जैसा कि हम हिमाचल के संदर्भ में देख चुके हैं, ये सभी जनपद राजनीतिक, सांस्कृतिक, भौगोलिक और भाषा की दृष्टि से पृथक्-पृथक् स्वाभाविक इकाई थे।

पाणिनि ने पश्चिमी हिमालय के जनपदों का उल्लेख उदीच्य वर्ग के अंदर किया है। उसके अनुसार इन पर्वताश्रयी जनपदों के दो समूह थे। एक समूह त्रिगर्त से दार्वाभिसार तक फैला था, दूसरा सिंध से कापिशी-कंबोज तक। त्रिगर्त से दार्वाभिसार तक के प्रदेश में त्रिगर्त, गब्दिका, युगंधर, कालकूट, भरद्वाज, कुलूत, कुलिंद आदि जनपद थे। इनमें से अधिकांश हिमालय क्षेत्रीय थे।

त्रिगर्त तो यहाँ का विशालतम एवं प्रमुख जनपद था ही, गब्दिका भी निश्चयात्मक रूप से चंबा का गद्दी प्रदेश था। तब यह इलाका आर्यावर्त की सीमा से बाहर माना जाता था, अतः यहाँ के निवासियों को निरबसित (देश से बाहर) कहा गया है।

देश के अन्य जनपदों की भाँति ये जनपद भी मौर्य शासन के प्रारंभिक दिनों तक स्वतंत्र रहे। बाद में इनमें से बहुत सारे मौर्य साम्राज्य के अंग बन गए। चंद्रगुप्त मौर्य ने पर्वत प्रदेश के एक राजा पवर्तक के साथ मैत्री-संबंध स्थापित किया था। जो इन जनपदों में से किसी एक का राजा रहा होगा। चंद्रगुप्त के प्रति नीति के प्रश्न पर संभवतः ये जनपद विभक्त थे। एक पक्ष उसके समर्थन के हक में था, दूसरा उसके प्रति विरोधात्मक नीति अपनाना चाहता था। दूसरे पक्ष में कुल्लू और कश्मीर राज्य रहे होंगे, क्योंकि कुल्लू के चित्रवर्मा और कश्मीर के पुष्काराक्ष ने सक्रिय रूप से चंद्रगुप्त का विरोध किया था।

राज्य सुदृढ़ हो जाने के उपरांत चंद्रगुप्त मौर्य ने लद्दाख, लाहुल, स्पिति और किन्नर प्रदेश सहित सारे हिमाचल को अपने आधिपत्य में ले लिया था। इसका अनुमान इस बात से लगाया जा सकता है कि नेपाल से लेकर कश्मीर तक सारा हिमालय भूखंड अशोक के साम्राज्य का भाग था, जबकि अशोक ने स्वयं कलिंग देश को जीता था। मौर्य सम्राट् इन सीमांत प्रदेशों में विशेष रुचि लेते रहे। अशोक ने कालसी में शिलालेख लिखवाया और कुल्लू में एक स्तूप बनाया। सातवीं शताब्दी में भारत आने वाले चीनी यात्री युवान च्वांग ने इस स्तूप का जिकर किया है। हाल की खोजों से मालूम होता है कि अशोक ने आचार्य माजिम थेर को चार सहयोगियों के साथ इस प्रदेश में धर्म-प्रचार के लिए भेजा था। आचार्य थेर के सहयोगी कस्सपगोत, दुंदभिसर, सहदेव तथा मूलकदेव थे। महावंश के अनुसार इन्होंने पाँच राज्यों में

tharahkardu.in

धर्म-प्रचार किया। संभावना यह है कि इन प्रचारकों का कार्यक्षेत्र यमुना, सतलुज और व्यास की भूमि रही होगी। कुल्लू (कुलूत) तब काफी महत्त्वपूर्ण जनपद रहा होगा, क्योंकि अशोक के स्तूप के लेखानुसार स्वयं भगवान् बुद्ध अपने शिष्यों के साथ यहाँ धर्म-प्रचार के लिए आए थे।

सन् 185 ईसा पूर्व में मौर्य साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो गया था। दूर-दूर के भाग पृथक् हो चुके थे। मगध में मौर्य वंश के अंतिम नरेश वृहद्रथ को उसी के सेनापति पुष्यमित्र ने कुछ वर्ष पहले मार डाला था। जब पुष्यमित्र अपने शासन को सुव्यवस्थित करने में लगा था, तो भारत की पश्चिमी सीमा पर ग्रीक यवन सक्रिय हो रहे थे। दिमेत्र पंजाब तक आ गया था और उसने मद्र देश की राजधानी शाकल (स्यालकोट) पर अधिकार कर लिया था।

जातीय सम्मिश्रण—मौर्य साम्राज्य के पतन तथा गुप्त साम्राज्य के उत्थान के बीच की पाँच-छह शताब्दियों में एक अद्भुत जातीय सम्मिश्रण हुआ। सहस्राब्दियों के उपरांत एक बार पुनः देशज और नवागंतुक जातियों के बीच संघर्ष चला, किंतु थोड़े समय के उपरांत उनमें सौहार्द बढ़ा। फलस्वरूप संपूर्ण समाज का ढाँचा ही बदल गया। नए मानदंड स्थापित हुए। नई मान्यताएँ बनीं। समाज-व्यवस्था बदली, राजनीतिक प्रणाली में कुछ परिवर्तन आया। बौद्धिक, सामाजिक, सांस्कृतिक और धार्मिक जीवन में फेरबदल हुआ। समाज ने वह स्वरूप धारण किया जो आज भी कायम है। इसी अवधि में पुराने चले आए जनपद अधिक शक्तिशाली बने। त्रिगर्त, औदुंबर, कुल्लू, बुशैहर तथा कुलिंद जनपदों में नई स्फूर्ति आई।

ईसा पूर्व पहली शताब्दी में शकों ने पश्चिमोत्तर भारत को कई प्रतापी वंश दिए। शकों से पूर्व ग्रीक यवन आ चुके थे। इन्हें भारतीय समाज ने अपने में पूर्ण रूप से आत्मसात् कर लिया था। बौद्ध मत के प्रसार में इन्होंने बड़ा काम किया। स्वयं महाराजा मिलिंद बौद्ध धर्म का अनुयायी था। आज भी 'मिलिंद पन्ह' नामक पुस्तक प्राप्त है जिसमें मिलिंद द्वारा बौद्ध मत के सिद्धांतों की चर्चा की गई है।

कनिष्क—कनिष्क शकों का महान् सम्राट् था। शक शासन उस समय काबुल, गांधार, मध्य एशिया, सिंध, कश्मीर तथा मध्य प्रदेश तक था। हिमाचल का पहाड़ी क्षेत्र भी कनिष्क के मंडलेश्वरों के अधिकार में था। कनिष्क बौद्धों का उतना ही आदर करता था, जितना अशोक। उसी के शासनकाल में 100 ई० के लगभग बौद्धों की चतुर्थ परिषद्, जिसे संगीति कहा जाता है, आयोजित हुई थी। इसी संगीति में पहली बार बौद्ध धर्म की पुस्तकों के लिए संस्कृत भाषा का प्रयोग स्वीकार किया गया था। तब तक सारे बौद्ध ग्रंथ पाली भाषा में हुआ करते थे। कनिष्क ने बौद्ध पिट्टकों पर भाष्य लिखाए, और सुत्तपिटक भाष्य, विनाविभाषा तथा अभिधर्म विभाषा

Digitised by
Tharah Kardu

उसी के शासनकाल में लिखे गए। अभिधर्म विभाषा का संकलन तो चतुर्थ संगीति में ही हुआ था।

कतिपय इतिहासकारों का मत है कि संगीति की बैठक कश्मीर में हुई थी, किंतु विद्वानों की एक बड़ी संख्या यह मानती है कि बैठक त्रिगर्त के जालंधर प्रांत में 'कुवन विहार' में हुई थी। त्रिगर्त के क्षेत्र को बौद्धों की इस महान् परिषद् का आतिथ्य करने का सौभाग्य मिला, इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है। अशोक द्वारा आयोजित तीसरी संगीति के तुरंत पश्चात् से काँगड़ा और कुल्लू बौद्ध धर्म के महत्त्वपूर्ण केंद्र चले आ रहे थे। इन दोनों जनपदों में बहुत बड़े विहार थे, जिनमें सैकड़ों भिक्षु निवास करते थे। काँगड़ा के विहार में तो सातवीं शताब्दी में युवान च्वांग ने आचार्य चंद्रवर्मा के पास चार महीनों तक बौद्ध ग्रंथों का अध्ययन और अनुशीलन किया था। निरमंड में परशुराम कोठी के बाहर का चौतड़ा बौद्धकालीन अवशेष है।

राणा—हिमाचल प्रदेश में शक भीतरी भागों तक गए होंगे, इसका अनुमान निरत के सूर्य-मंदिर और काँगड़ा की सूर्य-प्रतिमा से लगता था। वैसे भी शकों-कुषाणों का शासन मंडलेश्वरों की पद्धति पर आधारित था। शक-कुषाण नेताओं अथवा सरदारों को मंडलों का शासक नियुक्त किया जाता था। मंडी में सलानू के शिलालेख के वत्स-कुल का चंडहस्तिन कोई शक-कुषाण मंडलेश्वर ही होगा, जिसने स्थानीय शासक रज्जिल बल को परास्त कर अपना राज्य स्थापित किया था। ऐसा दीखता है कि हिमाचल का बड़ा क्षेत्र कुछ समय तक इन शक-कुषाण मंडलेश्वरों के अधिकार में रहा होगा। शक सत्ता के ह्रास पर ये मंडलेश्वर पुरातन काल से चले आए खूँदों और जनपदों के प्रतिनिधियों में ही घुलमिल गए हों और फलस्वरूप इस प्रदेश को शासकों का वह वर्ग दे गए हों, जिन्हें राणा कहा जाता है। शक-कुषाण नवागंतुक मंडलेश्वर तथा खश, मुआणा-ठाकुर कालोपरांत राणा कहलाए और उनके मंडल राहणू। प्राचीन खूँद ठकुराइयाँ कहलाए और उनके शासक ठाकुर। इस बात की पुष्टि कुल्लू की मुद्रा और औदुंबरों के सिक्कों से होती है। राणा शब्द का व्यवहार हमें लिखित रूप में सर्वप्रथम औदुंबर जनपद के सिक्कों में हुआ मिलता है। इस जनपद की ईसा पूर्व पहली शताब्दी की ताँबे और चाँदी की मुद्राओं पर 'विजय रानो वेमकिस रुद्रवमस' अंकित है। दूसरा प्राचीन उल्लेख कुल्लू के वीरयस राजा की मुद्रा में हुआ है, जो अनुमानतः ईसा की पहली-दूसरी शताब्दी की है। इस मुद्रा में ब्राह्मी लिपि में लिखे 'राजनः कूलूतस्य वीरायसस्यि' के साथ खरोष्ठी लिपि में 'राणा' शब्द भी लिखा मिलता है।

अतः हम कह सकते हैं कि कुछ एक राणा वे यवन, शक, कुषाण और पल्लव सरदार भी थे जिन्हें सजातीय राज्यों के दिनों में मंडलेश्वर का उत्तरदायित्व सौंपा गया

tharahkardu.in

था। एक विशेष बात यह है कि राणाओं का उल्लेख केवल उन्हीं प्रदेशों में है जो कभी शक-कुषाण राज्यों के भाग थे। पश्चिमी पाकिस्तान में हजारा में वर्तमान काल तक राणाओं का जिकर होता रहा। हिमाचल प्रदेश में तो आज भी अनेक नए-पुराने खश-राणाओं के वंशज विद्यमान हैं। उस काल में कहीं तो उन नवागंतुक सरदारों ने नए मंडल स्थापित किए, किंतु बहुधा पहले से चले आए खश-खूँदों अर्थात् ठकुराइयों पर ही अधिकार कर लिया। सहस्रों वर्षों तक राणा-ठाकुर संवर्ष इस बात का प्रमाण है कि आरंभ में मंडलेश्वर राणाओं ने ठाकुरों को अपनी ठकुराइयों से वंचित किया था।

इस प्रदेश के जनपद ईसा पूर्व दूसरी शताब्दी से अपनी संभावनाओं के अनुकूल विकसित होने लगे थे। जब पश्चिम से विदेशी शासकों ने उन्हें अपने अधीन करना चाहा, तो जनपद-निवासियों ने वैसा ही तीव्र संघर्ष किया, जैसा हजारों वर्ष पूर्व नाग कर चुके थे, अंतर केवल यह था कि भूत में शासन की इकाई खूँद छोटा था और अपनी सुरक्षा करने में प्रायः असमर्थ था, जबकि उत्तर मौर्यकाल तक आते-आते ये प्रशासनिक इकाइयाँ बड़ी बन गईं और जनपद काफी शक्तिशाली हो गए। बाह्य शक्तियों के साथ संघर्ष में कुछ जनपद तो समाप्त हो गए, किंतु जो बचे रहे उन्होंने केवल आधिपत्य मान अपनी आंतरिक स्वतंत्रता सुरक्षित रखी। एक ध्यान देने वाली बात यह है कि जनपदों की सीमाएँ स्थायी नहीं थीं, वे बदलती रहती थीं। हाँ, जनपदों की मूल इकाई, खूँद की सीमाएँ सामान्यतः अपरिवर्तनीय थीं, क्योंकि ये छोटे-छोटे होते थे। नदी, नाले, पर्वत और धारें सीमा का निर्धारण करते थे। खूँदों की सीमा कई बार दो नाले अथवा नदी या धारों की छोटी-मोटी शृंखला बनाती थी।

औदुंबर—ईसवी सन् के आरंभ में इस प्रदेश में त्रिगर्त सक्षम जनपद था। इसके अतिरिक्त औदुंबर और कुलिंद गणराज्य काफी महत्त्वशाली बन गए थे। अपने वैभव काल में औदुंबर जनपद की सीमा के अंतर्गत होशियारपुर, गुरदासपुर, हमीरपुर और ऊना के क्षेत्र थे। चंबा गब्दिका का भाग था और व्यास उपत्यका में कुल्लू और मंडी, कुलूत में थे। महाभारत काल का कीचक जनपद बुशैहर एकराज में अंतर्भुक्त हो गया था, जबकि मत्स्य क्षेत्र कुलिंद में समा गया था।

संस्कृत साहित्य के अनुसार औदुंबर गणराज्य कुलूत और कुनिंदों अथवा कुलिंदों के निकट था। इसका दक्षिणी पड़ोसी पूर्व ग्रद देश था। स्यालकोट का इलाका सत्रहवीं शताब्दी तक मद्र देश के नाम से जाना जाता रहा है। राजन्य समूह में पाणिनि ने औदुंबर का जिकर किया है। काफी अर्से तक इस पर विवाद होता रहा कि औदुंबर संघ कहाँ स्थित था। महाभारतकार औदुंबरों को उत्तर का निवासी मानता है, किंतु वृहत्संहिता में उन्हें मध्य देश का बताया गया है। चंद्रवर्ती में औदुंबरों का

Digitised by
Tharah Kardu

उल्लेख मद्रों के साथ हुआ है, और काशिकावृत्तिकार औदुंबर देश को उदेम्बर वृक्षों से भरा मानता है।

अब इतिहासकार इस बात पर सहमत हो गए हैं कि औदुंबर व्यास और रावी घाटी में स्थित था। इसकी पुष्टि पठानकोट, नूरपुर और हमीरपुर में प्राप्त औदुंबर मुद्राओं से भी होती है।

औदुंबर विख्यात योद्धा शल्वों की छह उपजातियों में से एक थे। वे अपने आपको विश्वामित्र के वंशज मानते थे। प्राप्त सामग्री के अनुसार उनकी राजधानी गुरदासपुर के निकट व्यास में मिलने वाली नदी के किनारे थी। ईसा से दो शताब्दियों पहले और एक शताब्दी बाद के तीन सौ वर्षों के बीच के समय की इस गणराज्य की कुछ मुद्राएँ उपलब्ध हुई हैं, जिनसे पता लगता है कि औदुंबर शैव थे, क्योंकि सभी पर महादेव भगवान् शिव की आकृति अंकित है। यहाँ तक कि जब औदुंबर शासकों ने मथुरा के राजा उत्तमदत्त को पराजित किया, तो उसके सिक्कों के ऊपर भी महादेव की छाप अंकित की। कुछ एक सिक्कों पर प्राकृत भाषा में भागवत महादेवस्य राजर्यस्य लिखा हुआ है। मुद्रा चलाने वाले राजाओं में दहरघोष, शिवदास और रुद्रदास का नाम आता है। ये सभी राजा स्वतंत्र रहे होंगे, तभी उन्होंने अपनी मुद्राएँ चलाईं। मुद्राओं की एक ओर घेरे में वृक्ष तथा हाथी की आकृति के साथ महादेव रानों की उपाधि सहित खरोष्ठी लिपि में राजा का नाम है। दूसरी ओर ब्राह्मी लिपि में राजा का नाम है।

चाँदी की मुद्राओं पर यवन प्रभाव है। इनमें से एक पर 'महादेवस राजा घरघोषस औदुंबरिस' लिखा है तो दूसरी पर 'विजय रानों वेमकिस रुद्रवर्मन' है। इनके अतिरिक्त राजो अज़मितस और महिमित्र, भानुमित्र तथा महाभूति मित्र की मुद्राएँ भी प्राप्त हुई हैं।

इन मुद्राओं से मालूम पड़ता है कि इस लंबी अवधि में औदुंबर पर तीन वर्ग के शासकों का प्रभुत्व रहा। आरंभ में इस संघ के नेता शिवदास, रुद्रदास आदि रहे होंगे। उनके पश्चात् घरघोष और रुद्रवर्मन का पृथक् वंश आया होगा। घरघोष संभवतः मिलिंद के समान योनक अर्थात् यवन रहा होगा। ईसा पूर्व पहली शताब्दी के अंत में एक नए वंश ने जोर पकड़ा होगा, जिसमें अभिमित्र, महिमित्र, आर्यमित्र, भानुमित्र और महाभानु मित्र राजा उल्लेखनीय हैं। संभवतः मित्र राजा शक-कुषाण होंगे। ईसा की पहली शताब्दी ही कनिष्क का राज्यकाल थी। धर्म के क्षेत्र में यह युग अत्यंत उदारता का था। कनिष्क का पूर्वज कुजुलकसस बौद्ध था, किंतु उसका उत्तराधिकारी कुजुलकसस द्वितीय शैव था। कनिष्क की मुद्राओं पर शिव, बुद्ध, सूर्य तथा अग्नि की आकृतियाँ हैं। संघ में सबको धार्मिक स्वतंत्रता थी। औदुंबर राजधानी

tharahkardu.in

बौद्धमत का बड़ा केंद्र थी।

गुप्त काल में यह संघ अपना अस्तित्व खो बैठा। उत्तर गुप्त काल में त्रिगर्त ने इस ऐतिहासिक संघीय जनपद का क्षेत्र अपने राज्य में मिला लिया, जिससे उसकी दक्षिणी सीमा एक बार जालंधर तक पहुँच गई। हर्ष के काल तक यहाँ त्रिगर्तों का प्रभुत्व रहा, किंतु सन् 727 के आसपास जब कोरियाई यात्री ह्यी-चो जालंधर से गुजरा, तब मध्य प्रदेश का यशोवर्मन और कश्मीर का ललितादित्य इस प्रांत पर आँख गड़ाए बैठे थे। उनके दबाव के कारण राजा को पहाड़ों पर जाकर शरण लेनी पड़ी। ह्यी-चो का इशारा प्रांतीय शासक की ओर होगा, क्योंकि उसके अनुसार राजा के पास कुल एक सौ घोड़े थे। अन्य सरदारों के पास तीन से पाँच सौ तक घोड़े थे। त्रिगर्त राजा की इतनी दुर्दशा का उल्लेख अन्यत्र नहीं। यद्यपि जालंधर प्रांत पर संकट था, किंतु काँगड़ा प्रांत तो उसके पूर्ण अधिकार में था, जहाँ से उसे पर्याप्त मात्रा में माल, धन प्राप्त हो सकता था।

कुलिंद—औदुंबरों के पौर्वात्य पड़ोसी कुलिंद महाभारत काल से अपना अस्तित्व बनाए हुए थे। मौर्य काल में कुछ समय के लिए यह संघीय जनपद अपनी पृथक् सत्ता खो बैठा था, किंतु उपयुक्त अवसर पर यह पुनः जीवित हो गया था।

कुलिंद, जिसे कुनिंद भी कहा जाता है, अपने उत्कर्ष के दिनों में दूर तक फैला था। तब यह संघीय जनपद शिवालिक क्षेत्र में पूर्व में टोंस से लेकर पश्चिम में व्यास तक था। इसके पश्चिम में त्रिगर्त और कुलूत जनपद थे, दक्षिण में अंबाला, सहारनपुर और सुगह नगर। पूर्व में गढ़वाल इसकी सीमा बनाता था। तब नालागढ़, बिलासपुर, निचला शिमला और सिरमौर इसके अंतर्गत थे।

महाभारत के अलावा वृहत्संहिता और पुराणों में भी इस जनपद का जिकर आता है। यहाँ के शासक अन्य पहाड़ी राजाओं की तरह महाभारत युद्ध में कौरवों के पक्ष में लड़े थे। पाणिनी ने कुलिंदों को क्षत्रिय की श्रेणी में रखा है। विद्वानों के एक वर्ग का यह भी मत है कि कुल्लू, मंडी, शिमला और सिरमौर के कनैत संभवतः इन्हीं कुलिंदों की संतान हैं। कुलिंद मूलतः खश थे।

अभी तक केवल दो कुलिंद शासकों की मुद्राएँ प्राप्त हुई हैं। ये मुद्राएँ ज्वालामुखी, हमीरपुर से लेकर अंबाला, सहारनपुर और गढ़वाल तक मिली हैं, जिससे इस गणराज्य के सीमा-विस्तार का कुछ अंदाजा हो सकता है। संभवतः त्रिगर्त में हमीरपुर और ज्वालामुखी कुलिंद के भाग न रहे हों और वहाँ मुद्राएँ उनके प्रसिद्ध व्यापारिक केंद्र होने के कारण मिली होंगी।

इन मुद्राओं से हमें अमोधभूति और छत्रेश्वर नामक दो संघाधिपतियों का पता चलता है। अमोधभूति ने अपने आपको महाराजा की पदवी से विभूषित किया है।

Digitised by
Tharah Kardu

यह माना जाता है कि ईसा पूर्व पहली शताब्दी में अमोधभूति ने कुलिंद देश को यवनों से मुक्त कराया। इस विजय के उपलक्ष्य में उसने अपने सिक्के चलाए थे। इसकी इन मुद्राओं पर खरोष्ठी लिपि में 'राज्ञौं कुणिदस अमोधभूति महरजस' या 'अमोधभूतस महरजस राज्ञकुणदस' लिखा है।

छत्रेश्वर के सिक्के कुषाण शैली के हैं। उन पर शिव की आकृति है। इससे यह अनुमान लगाया जाता है कि अमोधभूति के पश्चात् कुछ समय के लिए कुलिंद पर शकों-कुषाणों का आधिपत्य हुआ होगा, जिनसे मुक्ति छत्रेश्वर ने दिलाई हो। छत्रेश्वर अपने को महात्मन् और भागवत कहलाता था। उसके सिक्कों पर आर्य युद्ध देवता कार्तिकेय की मूर्ति है। यौधेय सिक्कों से मिलान करने पर प्रतीत होता है कि पंजाब और हिमाचल के शिवालिक भाग से विदेशी आक्रांताओं को खदेड़ने में कुलिंदों का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा होगा।

कुछ विद्वानों का मत है कि अमोधभूति और छत्रेश्वर दो विभिन्न जातियों के नायक थे। उन दोनों के मध्य दो-तीन शताब्दियों का अंतर है।

समुद्रगुप्त की इलाहाबाद प्रशस्ति में कुलिंदों का उल्लेख नहीं है, जिससे मालूम होता है कि उन्हें चंद्रगुप्त पहले ही अपने राज्य में मिला चुका था। एक-दो इतिहासकार यह भी कहते हैं कि कुलिंदों को कुलूतों ने निर्णयात्मक हार दी, और थोड़े समय के उपरांत वे स्वयं गुप्तों से पराजित हो गए। जो भी हो, गुप्तकाल में इस गणराज्य का अंत हो चुका था।

कुलिंद संघ को तो चंद्रगुप्त ने ही गुप्त राज्य का अंग बना दिया था, किंतु त्रिगर्त और औदुंबर पर गुप्त आधिपत्य चंद्रगुप्त विक्रमादित्य ने स्थापित किया था। विक्रमादित्य इन प्रदेशों के राजाओं से वैसे भी रुष्ट था, क्योंकि उनमें से शकराज ने उसके बड़े भाई रामगुप्त की महारानी ध्रुवस्वामिनी (ध्रुवदेवी) को अपनी रानी बनाने का प्रयत्न किया था। विशाखदत्त ने 'देवीचंद्रगुप्तम्' में इस घटना की चर्चा की है।

कुछ इतिहासकार यह मानते हैं कि त्रिगर्त और औदुंबर शासकों ने समुद्रगुप्त की मृत्यु के उपरांत गुप्तों का आधिपत्य स्वीकार करने से इनकार कर दिया था। इस पर समुद्रगुप्त का उत्तराधिकारी रामगुप्त एक विशाल सेना लेकर इन विद्रोहियों को दबाने के लिए निकल पड़ा था, किंतु अनेक प्रयत्न करने पर भी वह इन पहाड़ी राजाओं के सुरक्षात्मक व्यूह को नहीं छेद सका। भारी सैनिक हानि उठाकर रामगुप्त पीछे हटने पर बाध्य हुआ। परिस्थितियों को अपने अनुकूल देख शकराज और उसके सहयोगियों ने गुप्त सेना का पीछा किया। रामगुप्त ने अपने परिवार सहित एक गढ़ में शरण ली। सेना अलग थी और सम्राट् अपने परिवार और थोड़े-से सैनिकों के साथ अपरिचित गढ़ में था। सामरिक दृष्टि से रामगुप्त की यह बहुत बड़ी भूल थी। अपनी मुक्ति के लिए

tharahkardu.in

उसे यह शर्त माननी पड़ी कि ध्रुवस्वामिनी तथा राजपरिवार की अन्य स्त्रियों को वह शकराज के हवाले कर दे।

इस विकट स्थिति में राजकुमार चंद्रगुप्त ने ध्रुवस्वामिनी का भेष धारण कर शकराज का उसके ही शिविर में वध किया था। राजसत्ता सँभालने पर उसने समूचे प्रदेश को अपने प्रभुत्व में ले लिया था।

चंद्रगुप्त विक्रमादित्य ने भी समुद्रगुप्त की सीमांत नीति का अनुसरण किया। जिन राज्यों को शस्त्रों से जीता, उन्हें अपने साम्राज्य में अंतर्भुक्त कर लिया; जिन राजाओं ने आधिपत्य स्वीकार किया, उन्हें तथा उनके राज्यों को पूर्ववत् रहने दिया। जहाँ कहीं सीमांत प्रदेश में उसने अपने सैनिक एवं राजनीतिक प्रतिनिधि भी प्रशासक के तौर पर नियुक्त किए थे।

निरमंड ताम्रपत्र—इस संदर्भ में हिमाचल के प्राचीनतम ताम्रपत्र से कुछ सहायता मिल सकती है। निरमंड का यह ताम्रपत्र अनेक रोचक विकल्प प्रस्तुत करता है। परंपरा इस ताम्रपत्र को विक्रमादित्य प्रदत्त मानती है, किंतु पत्र पर गुप्तों का जिकर तक नहीं है। इस ताम्रपत्र द्वारा महासामंत महाराजा समुद्रसेन ने शूलिशग्राम और उससे संलग्न ऊसर, जोहड़ भूमि तथा जंगल निरमंड अग्रहार के अथर्ववेदी ब्राह्मणों को अग्रहार के रूप में अनंत काल तक के लिए दिए, जिससे उसकी माता परमदेवी महाभट्टारिका मिहिरलक्ष्मी का कपालेश्वर मंदिर में मिहिरेश्वर की पूजा का धार्मिक उद्देश्य पूरा होता रहे। लेख के अनुसार कपालेश्वर मंदिर को महाराजा सर्ववर्मन ने बनाया था, किंतु उसमें मिहिरेश्वर की स्थापना परमदेवी मिहिरलक्ष्मी ने की थी।

महासामंत महाराजा समुद्रसेन रविसेन का पुत्र था, रविसेन संजयसेन का और संजयसेन वरुणसेन का पुत्र था। रविसेन, संजयसेन और वरुणसेन सभी महासामंत महाराजा थे। इस प्रकार इस ताम्रपत्र में चार महासामंत महाराजा और एक केवल महाराजा का उल्लेख हुआ है।

अब ये महासामंत कौन थे, कहाँ के थे और कब थे, ताम्रपत्र से कुछ पता नहीं चलता है। उसमें न तो इन महासामंतों महाराजाओं के राज्य का नाम दिया है और न संवत्सर ही है। दानपत्र की तिथि शुदी दस, वैसाख मास, संवत् छह है। यह संवत् छह कौन-सा है, इसकी केवल कल्पना की जा सकती है। इसी अनिश्चितता के कारण कन्निघम इस ताम्रपत्र को बारहवीं शताब्दी का मानता है और दानकर्ता मंडी के राजाओं को। अपना मत सिद्ध करने के लिए कन्निघम ने राजाओं के नाम तक उलट-पुलट दिए हैं। त्रिपाठी का कहना है कि लेख हर्षकालीन है। भंडारकर समझते हैं कि यह ताम्रपत्र स्पिति के सेन वंश ने दिया है, जो जालंधर के अधीन था।

Digitised by
Tharah Kardu

डॉ० फ्लीट भाषा और शैली को ध्यान में रखते हुए इसे सातवीं शताब्दी का मानते हैं और कहते हैं कि यह सेन वंश स्पिति का था। ये सभी मत संभावनाएँ ही हैं, निश्चयात्मक ढंग से अन्य संबंधित सामग्री मिलने पर ही कहा जा सकता है। इस ताम्रपत्र का मूल लेख और अनुवाद सन् 1877 में सबसे पहले बाबू राजेंद्रलाल ने प्रकाशित किया था। उसके अनुसार यह ताम्रपत्र चौथी या पाँचवीं शताब्दी का है।

एक तथ्य की ओर इन विद्वानों ने विशेष ध्यान नहीं दिया है। जहाँ ताम्रपत्र में उल्लिखित महासामंत महाराजा सेनवंशीय है, वहाँ महाराजा वर्मन कुल का है। विशाखदत्त ने 'मुद्राराक्षस' में लिखा है कि कुल्लू का महाराजा चित्र वर्मन, नंद के मुख्यमंत्री राक्षस के उन पाँच म्लेच्छ सहायकों में से था, जिन्होंने मौर्य सम्राट् चंद्रगुप्त का विरोध किया था। क्या यह संभव है कि मौर्य काल में कुल्लू में कोई वर्मन वंश शासन करता था और निरमंड के ताम्रपत्र में चर्चित सर्ववर्मन उसी वंश का राजा हो ? भ्रमौर में भी पाँचवीं-छठी शताब्दी से एक वर्मन वंश का उल्लेख है जो चंबा में सोलहवीं शताब्दी तक शासन करता रहा। उस वंश की वंशावली में सर्ववर्मन का नाम नहीं है। दसवीं शताब्दी में कीर के आक्रमण को रोकने में चंबा नरेश साहिल वर्मा की सहायता त्रिगर्त और कुल्लू के राजाओं ने की थी। साहिल वर्मा के ताम्रपत्र में चंबा और कुल्लू के राजाओं को स्वकुल्य कहा गया है। स्पष्टतः दोनों राजा एक ही कुल के थे, और यह कुल वर्मन था।

यदि साहिल वर्मा के ताम्रपत्र और विशाखदत्त के 'मुद्राराक्षस' की साक्षी ली जाए तो कुल्लू और भ्रमौर में ईसा पूर्व चौथी शताब्दी से कोई वर्मन वंश अधिपति होना चाहिए। दोनों प्रदेशों के राजा एक ही कुल के वंशज रहे होंगे, तभी यह संभव हुआ होगा। किंतु इसमें एक प्रमुख अड़चन यह आ जाती है कि वर्मन नामधारी राजा मुख्यतः शक हुए हैं और शक मौर्यकाल में भारत में आए ही नहीं थे। इसलिए कुल्लू के चंद्रगुप्त विरोधी राजा का कोई और नाम रहा होगा। विशाखदत्त ने चंद्रगुप्त के काल से लगभग एक हजार वर्ष बाद अपना नाटक लिखा। अतः इस बात की पूरी संभावना है कि नाटककार ने कुल्लू राजा के नाम लिखने में गलती की हो।

जहाँ तक चंबा और निरमंड के ताम्रपत्र हैं, उनका लेख सर्वथा मान्य है। इन दोनों ताम्रपत्रों को दृष्टि में रखते हुए यह कहा जा सकता है कि ईसा की पहली-दूसरी शताब्दी से चंबा, लाहुल, स्पिति, कुल्लू और बुशैहर अर्थात् हिमाचल के सुविस्तृत उत्तर और उत्तर-पश्चिमी सीमांत क्षेत्र में शक वर्मनों का राज्य था। इसकी पुष्टि बुशैहर के किन्नर क्षेत्र में मिली ईसवी की प्रारंभिक शताब्दियों की कब्रों से हो जाती है। इन कब्रों में मृत शरीर के साथ दैनिक जीवन की वस्तुएँ भी रखी मिली हैं। इस प्रकार की कब्रों का प्रचलन भारत-प्रवेश के समय शकों-कुषाणों में था। संभवतः यही

tharahkardu.in

कारण है कि हिमाचल प्रदेश के इस उत्तरार्द्ध में राणाओं और राहणुओं की अधिकता है। प्रदेश के दक्षिणार्द्ध में त्रिगर्त, औदुंबर और कुलिंद के शक्तिशाली जनपद थे, किंतु उत्तरार्द्ध में इन शक-कुषाणों को खूँद स्वामी ठाकुरों को अधिक संख्या में अपदस्थ करने में सफलता मिली हो।

इस आधार पर हम कह सकते हैं कि चंबा भ्रमौर का पंद्रह-सोलह सौ वर्षों तक निरंतर राज करने वाला वंश शक है। निरमंड के कपालेश्वर मंदिर का निर्माता सर्ववर्मन भी स्पिति का शक राजा ही होगा, जिसके वंश को चौथी-पाँचवीं शताब्दी में सेन वंश ने पदच्युत कर दिया था।

प्रश्न यह रह जाता है कि ये महासामंत महाराजा समुद्रसेन और उसके पूर्वज कौन थे ? शकराज सर्ववर्मन निर्मित कपालेश्वर मंदिर में ही सेनवंश की परमदेवी मिहिरलक्ष्मी द्वारा अपने इष्टदेव मिहिरेश्वर की मूर्ति की स्थापना यह जाहिर करती है कि ये दोनों वंश सजातीय होंगे। क्या शूलिशग्राम और शूलपाणि मंदिर से यह संभावना नहीं उत्पन्न होती कि शूलिशग्राम के दानकर्ता शूलिक राजा ही हों ? शूलिक अनुमानतः हूणों से पहले किंतु शक, कुषाण और पल्लवों के पश्चात् भारत में आए। वे शकों, कुषाणों के ही भाई-बंधु थे। यह सभी जातियाँ पूर्णरूपेण हिंदू समाज के अभिन्न अंग बन चुकी थीं। शिव का शूलपाणि रूप कुषाणों को प्रिय था, अतः संभव है कि शूलिशग्राम शूलिश जाति की बस्ती और शिवशूलपाणि और कपालेश्वर उनके आराध्य देवता रहे हों।

स्पिति के सेनवंशीय राजा राजेंद्र सेन ने सन् 600 के लगभग कुल्लू पर आक्रमण कर उसे अपने राज्य में मिला लिया था। पचास वर्षों तक कुल्लू पर इस वंश का अधिकार रहा। निरमंड ताम्रपत्र में राजेंद्र सेन का उल्लेख नहीं है। सन् 650 के लगभग कुल्लू के राजा ने स्पिति-नरेश चेतसेन को रटांग दर्रे के निकट हराया। उसके कुछ वर्षों बाद लद्दाख और कुल्लू के राजाओं ने मिलकर चेतसेन को पराजित किया। उसे जागीर दी गई, और स्पिति के तीन ग्राम कुल्लू को मिले, शेष भाग लद्दाख के हिस्से में आया। इस प्रकार सातवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में स्पिति में इस सेन वंश के शासन का अंत हुआ। यदि ये तिथियाँ ठीक हैं, तो समुद्रसेन का काल सन् 600 से पूर्व का होना चाहिए। बाद के पचास-साठ वर्षों में तो छह सेन हो नहीं सकते। इससे जाहिर है कि निरमंड का ताम्रपत्र चौथी-पाँचवीं शताब्दी का है। कम से कम वह सातवीं शताब्दी का नहीं हो सकता। अनुमानतः वरुणसेन सेन वंश का संस्थापक था। ताम्रपत्र के अनुसार उसने अनेक सामंतों को अपने अधीन किया था।

इस क्षेत्र में सामंतों का यह सर्वप्रथम उल्लेख है। आठवीं शताब्दी में तो चंबा में राजा मेरुवर्मन के किसी अषाढ़ नामक सामंत का अभिलेख प्राप्त है, जिसमें उसने

Digitised by
Tharah Kardu

एक मंदिर-निर्माण की चर्चा की है।

मनुस्मृति और याज्ञवल्क्यस्मृति में सामंत शब्द दो ग्रामों के सीमा-विवाद को सुलझाने वाले व्यक्ति के लिए प्रयुक्त हुआ है। जातकों के अनुसार सामंत का अर्थ पड़ोसी है। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में सामंत पड़ोसी खेतिहर है। अशोक के अभिलेखों में इसका व्यवहार पड़ोसी राजा के लिए हुआ है। ईसा की पाँचवीं शताब्दी तक आते-आते सामंत का प्रयोग अधीनस्थ राजा के लिए होने लगा था। कालिदास ने रघुवंश में सामंत उस पड़ोसी राजा को कहा है, जिसे अधीनस्थ कर लिया गया हो।

महासामंत शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग गुप्त सम्राटों के गुनेधर (507 ई०) ताम्रपत्र में हुआ है। यों सन् 482 में सेंद्रक निकुम्माल्लशक्ति के कसेरे पत्र में राज सामंत विषय भौगिक का उल्लेख है। कदंब राजा कृष्णवर्मन को भी देवगिरि पत्र में सामंत-राज विशेषरत्न कहा गया है। गुनेधर के पत्र में महाराज श्री महासामंत विजयसेन का नाम है जो महाप्रतिहार, महासेनापति, महापीलूपति और पंचाधिकरणोपरिक (पाँच जिलों का प्रशासक) था।

स्पिति के सेन राजाओं की महासामंत उपाधि से दो संभावनाएँ सामने आती हैं। ये महासामंत गुप्त साम्राज्य के अन्य महासामंतों की तरह सम्राट् द्वारा नियुक्त सैनिक और प्रशासनिक अधिकारी हो सकते हैं, जिन्होंने मगध का नियंत्रण ढीला हो जाने पर अपने नाम से दानपत्र देने आरंभ कर लिए। दूसरी संभावना यह कि ये राजा पहले स्वतंत्र रहे हों, किंतु गुप्तों की शक्ति को देख उन्होंने नाम मात्र गुप्त प्रभुत्व स्वीकार कर लिया हो। महाराजा तो वे थे ही, महासामंत की उपाधि उन्होंने यह प्रदर्शित करने के लिए धारण की हो, कि गुप्तों का बलशाली साम्राज्य भी उनसे मैत्रीपूर्ण संबंध रखता है और उन्हें पड़ोसी राज्य स्वीकार करता है। उस युग में जब अनेक राज्य गुप्तों ने समाप्त कर दिए हों, तथा उतने ही राजाओं को अपना करदाता बनाया हो, पृथक् स्वतंत्र अस्तित्व बनाए रखना वस्तुतः गौरव की स्थिति रही हो। अतः यह कह सकते हैं कि स्पिति का यह सेन वंश शूलिकों का था और गुप्त साम्राज्य उसे पड़ोसी राज्य मानता था, यही कारण है कि ताम्रपत्र में गुप्तों का उल्लेख नहीं। लोक चेतना में इसका विक्रमादित्य द्वारा दिया जाना इस कारण बना हो कि सेन शासक गुप्तों के मित्र थे और ताम्रपत्र विक्रमादित्य के शासन के दिनों में प्रदान किया गया हो।

स्पिति राज्य—वस्तुस्थिति जो भी रही हो, यह ऐतिहासिक तथ्य है कि सातवीं शताब्दी से पूर्व सैकड़ों वर्षों तक स्पिति जैसे सीमांतक क्षेत्रों में सशक्त भारतीय राज्य था, जिसके अधिकार-क्षेत्र में हिमाचल का उत्तरी भाग तो था ही, अपितु जिसकी सीमाएँ तिब्बत में कैलाश मानसरोवर को छूती थीं। कैलाश मानसरोवर के साथ हिमाचल का सदा गहरा संबंध रहा है और ये दोनों स्थान यहाँ के लोगों के लिए उसी

tharahkardu.in

प्रकार तीर्थस्थान थे जैसे हरिद्वार और प्रयाग। आज भी पूर्व में हाटकोटी, उत्तर में कल्पा चीनी और पश्चिम की ओर कुल्लू में खीर गंगा के मार्ग कैलाश-यात्रा के मुख्य मार्गों के रूप में प्रसिद्ध हैं। इन मार्गों द्वारा प्रति वर्ष सैकड़ों की संख्या में भारतीय यात्री कैलाश-मानसरोवर जाया करते थे। बुशैहर की बाणासुर लोकगाथा इस तथ्य को सिद्ध करती है। इस लोकगाथा के अनुसार प्राचीन काल में जब मानसरोवर में ब्रह्मपुत्र नदी का जल गिरता था, तब हिमाचल के इस नायक ने ही उसका बहाव पश्चिम की बजाय पूर्व की ओर किया था। इससे संकेत मिलता है कि बाणासुर उन दिनों इस प्रदेश का अधिपति रहा होगा जब प्राकृतिक कारणों से ब्रह्मपुत्र का बहाव बदल गया।

सातवीं-आठवीं शताब्दी में हर्षवर्धन के साम्राज्य के पतन, कलिंद और औदुंबर जनपदों के अंत और कन्नौज के यशोवर्मन और कश्मीर के ललितादित्य के आक्रमणों से जर्जरित त्रिगर्त की निर्बलता के फलस्वरूप सारे हिमाचल में एक बार फिर राहणू और ठकुराइयाँ बल पकड़ गईं। कई विद्वान् इस कारण सातवीं से ग्यारहवीं शताब्दी के समय को राणा-ठाकुर युग कहते हैं। इनमें से कुछ राहणू और ठकुराइयों को ग्यारहवीं शताब्दी में नए राजवंशों ने समाप्त किया। बहुत सारी ठकुराइयाँ और राहणू सोलहवीं-सत्रहवीं शताब्दी में ही दबाई जा सकीं। इस पर भी सतलुज उपत्यका में क्योंथल, ठियोग, कोटरवाई, खनेटी, कुम्हारसेन, बलसन, दरकोटी, देलठ आदि राहणू और ठकुराइयाँ उन्नीसवीं-बीसवीं शताब्दी तक अपना पृथक् अस्तित्व उसी रूप में बनाए रख पाईं।

छठी-सातवीं शताब्दी में राजस्थान की ओर से राजपूत गुर्जरों का इस प्रदेश में आगमन हुआ। उन्हीं दिनों बुंदेलखंड तथा देश के मैदानी भागों से कतिपय साहसी राजकुमार पुराने कुलिंद क्षेत्र में आए। उनमें से एक ने बिलासपुर के कहलूर राज्य की स्थापना की। ग्यारहवीं सदी में सिरमौर की स्थापना जैसलमेर से आए राजकुमार ने की बताई जाती है। अपुष्ट आधार पर बिलासपुर राज्य की नींव बुंदेलखंड से आए वीरचंद नामक चंदेरी राजकुमार ने सन् 697 ई० के आसपास रखी। इसी वंश के एक अन्य राजकुमार ने नालागढ़ (हिंदौड़) राज्य की स्थापना की। सातवीं शताब्दी के आसपास सुकेत और बाघल के राज्यों की अपने आधुनिक स्वरूप में नींव रखी जा चुकी थी, क्योंकि बिलासपुर वंशावली के अनुसार वीरचंद ने इन दो राज्यों तथा बेजा, धामी और क्योंथल की ठकुराइयों को भी जीता था। सिरमौर के प्रथम राजवंश की स्थापना भी सातवीं-आठवीं शताब्दी के मध्य हो चुकी थी।

पहाड़ी समाज में पिछले एक हजार वर्षों में जातीय सम्मिश्रण और समीकरण के फलस्वरूप एक नई चेतना का आभास मिलता है। त्रिगर्त संपन्नता के शिखर पर

Digitised by
Tharah Kardu

था। उसका सहयोग मध्यदेश से कश्मीर तक के शासक प्राप्त करने में लगे थे। इस प्रदेश के शासकों का देश के राजपरिवारों के साथ संपर्क बढ़ गया था। एक-दूसरे के यहाँ आना-जाना था। परिणाम यह हुआ कि समूचा पहाड़ी समाज नए स्वप्न देखने लगा। उसे भविष्य सुनहरा लगने लगा। इस वातावरण में कला ने पंख पसारे। हिमाचल के एक कोने से दूसरे कोने तक, स्पिति-लाहुल से ऊना-नालागढ़, बिलासपुर तक, सिरमौर, डोडराक्वार से चंबा तक सृजन का क्रम आरंभ हो गया, जिसने हमें कला के कुछ-एक उत्कृष्ट नमूने दिए हैं। आज भी स्पिति के कई मठों की दीवारों पर, लाहुल के मुर्कूला देवी के मंदिर में, भ्रमौर में लक्षणा और शक्ति देवी के मंदिरों और मूर्तियों में, जगतसुख, बिलासपुर, निरत और हाटकोटी, बैजनाथ, बिजौरा, त्रिलोकपुर और काँगड़ा में भव्य मंदिर, सुंदर मूर्तियों और मनोहर चित्रकला के दर्शन होते हैं।

इन कलाकृतियों का सृजन इस बात का साक्षी है कि उस युग में राजनीतिक परिस्थितियाँ यहाँ के लोगों के अनुकूल रही होंगी। किंतु यह स्थिति अधिक दिनों तक नहीं रही। त्रिगर्त को दुर्दिनों का सामना करना पड़ा और उसके हाथ से बहुत सारा इलाका छिन गया। दसवीं-ग्यारहवीं शताब्दी में देश के अन्य भागों से राजपूत कुमारों ने आकर सत्ता के लिए दीर्घकालीन संघर्ष छेड़ दिया। राणा-ठाकुरों के विरुद्ध इन राजपूत राजकुमारों का कलहपूर्ण संघर्ष आने वाली छह-सात शताब्दियों तक थोड़े-थोड़े अंतर पर चलता रहा और राजा केवल सोलहवीं-सत्रहवीं शताब्दी में जाकर राणा-ठाकुरों की सत्ता को निर्णयात्मक रूप से समाप्त करने में सफल हो पाए।

राजाकाल—ग्यारहवीं-बारहवीं शताब्दी को हम राजायुग का आदिकाल कह सकते हैं। इस बीच लगभग सारा प्रदेश राजा-रजवाड़ों के प्रभुत्व में आना आरंभ हो गया था। जो प्रवृत्ति प्रागैतिहासिक काल में त्रिगर्त जैसे गणराज जनपदों के एकराज जनपद में परिवर्तित होने से शुरू हुई थी, वह इस युग में पूरी हुई। कुम्हारसेन, जुब्बल, नूरपुर, कुटलेहर जसवान, मंडी आदि राज्य इसी काल में स्थापित हुए।

काँगड़ा—परंपरा मानती है कि काँगड़ा (त्रिगर्त) संभवतः संसार का प्राचीनतम तथा चिरकालीन राज्य था। वंशावली के अनुसार इस राज्य के लगभग 500 राजा हुए हैं। महाभारत में जिस सुशर्मण का उल्लेख है, वह वंशावली का 234वाँ राजा है। इसका अर्थ यह है कि त्रिगर्त वंश के आधे राजा महाभारत से पूर्व राज कर गए थे, तथा महाभारत के उपरांत उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध सन् 1828 तक, जब त्रिगर्त राज्य सदा के लिए समाप्त हो गया, उसके 260 राजाओं ने शासन किया। यदि एक राजा का राज्यकाल हम सामान्य 20 वर्षों के बजाय औसतन पंद्रह वर्ष भी मानें तो त्रिगर्त राज्य 500×15 = 7,500 वर्षों तक बना रहा। इस गणना के आधार पर

tharahkardu.in

महाभारत का समय 266×15 = 3,990 वर्ष पूर्व ठहरता है। मोटे तौर पर हम कह सकते हैं कि काँगड़ा वंशावली के अनुसार महाभारत का युद्ध ईसा से लगभग दो हजार वर्ष पूर्व हुआ है।

त्रिगर्त ने अपने सुदीर्घ जीवन में कई उथल-पुथल देखे, भाग्य के विभिन्न चक्रों का सामना किया। कभी राज्य का इतना विस्तार हुआ कि समूचा सतलुज, व्यास और रावी प्रदेश उसमें समा गया, तो कभी वह भी समय आया जब राज्य केवल काँगड़ा दुर्ग की चारदीवारियों तक ही सीमित रहा, और कई बार दुर्ग से भी हाथ धोने पड़े। किंतु एक बात सदा रही, त्रिगर्त वीरों ने युद्ध में अपनी कुशलता आदिकाल से स्थापित की। त्रिगर्तों ने सहज में किसी की पराधीनता स्वीकार नहीं की, और यदि साम्राज्यों की अतुल शक्ति के आगे झुकना भी पड़ा, तो पहला अवसर मिलने पर अपना अधिकार और आधिपत्य पुनः स्थापित किया। त्रिगर्तों की कहानी ही, एक अर्थ में हिमाचल के दक्षिणार्द्ध की अपनी कहानी है, इस राज्य के विकास और पराभव का काल उस क्षेत्र के उत्थान और पतन का दर्पण है।

कुल्लू—त्रिगर्त जैसा दूसरा प्राचीन राज्य कुलूत (कुल्लू) रहा है। महाभारत युग में यह राज्य क्रियाशील था, बौद्धकाल के प्रारंभिक वर्षों में स्वयं महात्मा बुद्ध यहाँ आए थे। त्रिगर्त के विपरीत, किंतु बुशैहर और चंबा जैसे अन्य पुरातन राज्यों की तरह कुल्लू, जिसे कुल्लूत कहा जाता रहा है, भारतीय सम्राटों की गणना में सीमांतक राज्य था, अतः छुटपुट विसंगतियों को छोड़ यह प्रदेश देश के सीधे केंद्रीय शासन से मुक्त रहा। स्थानीय रूप में भले ही चंबा, स्पिति, मंडी, बुशैहर जैसे पड़ोसियों ने इसके ऐश्वर्य को अनेक बार आघात पहुँचाया हो। वर्तमान काल में प्राप्त वंशावली में 100 के करीब राजाओं का उल्लेख है, जिसमें स्पष्टतया दूसरे प्राचीन वंशों के राजाओं की सूची नहीं है।

बुशैहर—कुल्लू के पूर्वी पड़ोसी, बुशैहर राज्य की उपलब्ध वंशावली में 122 राजाओं की गणना है। पंद्रहवीं-सोलहवीं शताब्दी से बाद के राजाओं के शासनकाल के अनुसार इस राजवंश के प्रत्येक राजा का औसतन शासनकाल 22 वर्ष का ठहरता है। इस लिहाज से बुशैहर के राजवंश का प्रथम राजा लगभग 2,700 वर्ष पूर्व हुआ है। परंपरा मानती है कि महाभारत काल में यहाँ बाणासुर नामक राजा का शासन था, जिसकी पुत्री ऊषा से कृष्ण के पौत्र अनिरुद्ध का विवाह हुआ था। सोलहवीं शताब्दी ईसवी में केहरीसिंह राजा ने तिब्बत के शासक को करारी हार देकर तिब्बत में बुशैहर के व्यापारिक अधिकारों को सुरक्षित किया था।

इन राज्यों की वंशावलियों की सत्यता सिद्ध करने के लिए यद्यपि अन्य लिखित सामग्री का अभाव है, किंतु चंबा का राज्य ऐसा रहा कि उसके वर्मन राजवंश के

Digitised by
Tharah Kardu

सोलह-सत्रह सौ वर्षों तक के लंबे शासनकाल की पुष्टि पुस्तकों, अभिलेखों, ताम्रपत्रों और पनिहारों से होती है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि काँगड़ा के कटोचवंशीय गुलेर, सिबा और दातारपुर राज्यों को छोड़, जो पंद्रहवीं-सोलहवीं शताब्दी में स्थापित हुए, अन्य सभी राज्य तीन-चार सौ वर्ष पूर्व बन चुके थे। मुगल साम्राज्य के अंतिम दिनों में हिमाचल प्रदेश में चंबा, काँगड़ा, गुलेर, जसवान, सिबा, दातारपुर, कुटलहर, नूरपुर, मंडी, बंगाहल, कुल्लू. सुकेत, बिलासपुर, नालागढ़, सिरमौर, रामपुर बुशैहर, देलठ, ढाडी, कुम्हार, सैन, साँगरी, खनेटी, दरकोटी, जुब्बल, रावीगढ़, थरोच, बलसन, धूँड, रतेश, ठियोग, मधान, कोटी, क्योंथल, भज्जी, धामी, कुनिहार, अर्की (बाघल), सोलन (बघाट), महलोग, मांगल, कुठार और बेजा जैसी इकतालीस रियासतें थीं।

दिल्ली आधिपत्य—चौदहवीं शताब्दी से अठारहवीं शताब्दी के मध्य तक इन रियासतों के शासकों का कार्यकलाप दिल्ली के सुलतानों और मुगल बादशाहों को खिराज देना, वार्षिक नजराना अथवा पेशकश पेश करना, उनके फरमानों, आदेशों का पालन करना, गद्दी सँभालने पर खिलत और मनसब प्राप्त करना, मुगलों के दरबार में राजकुमार या अन्य निकट संबंधी को जमानत के तौर पर रखना, अपने राज्य को सुदृढ़ तथा स्थायी बनाने के लिए दुर्ग बनाना, ठाकुरों और राणाओं से युद्ध करना और राज्य-विस्तार के लिए पड़ोसी राज्यों पर आक्रमण करना रहा है। जब कभी शाही हुक्म आया तो मुगल सेना की सहायता करना भी उनका कर्तव्य था। जहाँगीर के दरबार में एक समय 22 पहाड़ी राजकुमार जमानत के रूप में रहते थे। यद्यपि पठान और तुर्की सुलतानों ने इन राजाओं की भूमि अपनी सल्तनत में शामिल नहीं की, परंतु अकबर ने अपने आधिपत्य में आए पहाड़ी राजाओं के राज्यों के उपजाऊ भाग अपने साम्राज्य में मिला लिए थे। अकबर के प्रसिद्ध माल मंत्री, राजा टोडरमल ने काँगड़ा घाटी का उपजाऊ भाग मुगल साम्राज्य में शामिल कर लिया था। सतलुज के पश्चिमी भाग के अन्य राज्यों से भी इसी प्रकार का बर्ताव किया गया था। कहा जाता है कि भूमि का इस प्रकार निपटारा करने के बाद टोडरमल ने अकबर को कहा था कि "मैं मांस-मांस काट साथ लाया हूँ और हड्डियाँ रहने दी हैं।"

अकबर ने काँगड़ा किले को जीतने का भी प्रयत्न किया था, किंतु वह सफल नहीं हुआ। इस कार्य में सफलता उसके पुत्र जहाँगीर को मिली, जिसने सन् 1619-20 में इसे अपने अधिकार में कर लिया। तब से सन् 1783 तक काँगड़ा राज्य की प्रभुता और संपन्नता का प्रतीक यह दुर्जेय किला मुगलों के अधिकार में रहा।

औरंगजेब के सत्तारूढ़ होते ही दिल्ली के साथ इन राज्यों के संबंधों में तनाव आ गया। शाही फरमानों की खुल्लमखुल्ला अवहेलना की जाने लगी, विशेषकर उन

tharahkardu.in

फरमानों की जिनमें मंदिरों को गिरा देने का आदेश दिया गया था। इस प्रकार की आज्ञाएँ, इस प्रदेश के शासकों और प्रजा के आत्मसम्मान पर कठोर प्रहार था। फल यह हुआ कि त्रिगर्त ने विद्रोह कर दिया। चंबा के राजा चतरसिंह ने मंदिरों को गिराने के बजाय उन पर सोने के कलश लगवाए।

सन् 1707 में औरंगजेब की मृत्यु, उसके 32 वर्ष बाद नादिरशाह के आक्रमण, अफगान और मरहठों का दिल्ली पर प्रभुत्व के लिए संघर्ष तथा सन् 1752 में अहमदशाह दुर्रानी के हमले से उत्पन्न अराजकता ने हिमाचल के शासकों को न केवल चैन से साँस लेने का अवसर दिया, अपितु उनमें अपने परंपरागत वैभव को पुनः प्राप्त करने का मोह भी आया।

पंजाब अहमदशाह अब्दाली के अधिकार में आ गया था और सन् 1758 में काँगड़ा के महाराणा घमंडचंद को उसने जालंधर का गवर्नर नियुक्त कर लिया था। अठारहवीं शताब्दी में समूचे हिमाचल क्षेत्र के लोगों में एक नया उत्साह था और त्रिगर्त जैसे बड़े प्राचीन राज्य पंजाब पर अधिकार करने की योजना बना रहे थे। महाराजा संसारचंद के दरबार में अभिवादन ही 'लाहौर प्राप्त' कहकर किया जाता था। किंतु ऐसा लगता है कि वह अपने क्षेत्र से बाहर की राजनीति से भली भाँति परिचित नहीं था।

संसारचंद—जब संसारचंद सन् 1775 में दस वर्ष की आयु में त्रिगर्त-सिंहासन पर बैठा तो पूर्व की ओर नेपाल में गोरखा शक्ति का उदय हो चुका था। पंजाब में सिख सत्ता सुदृढ़ हो रही थी। संसारचंद साहसी और महत्त्वाकांक्षी युवक था। वह अपने राज्य को एक बार पुनः मैदान और पहाड़ में फैलाना चाहता था। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए उसने सेना की संख्या बढ़ाई, इसके संचालन में सुधार किया और अफगान सैनिकों को भी भरती किया।

सन् 1786 में 166 वर्षों बाद काँगड़ा का किला उसके अधिकार में आ गया। इससे उसकी शक्ति और प्रतिष्ठा में पर्याप्त अभिवृद्धि हुई। संसारचंद ने आसपास के छोटे-मोटे राज्यों को अपने अधीन करना आरंभ किया और पहाड़ी इलाकों पर अपना पूर्ण प्रभुत्व स्थापित करने के लिए उसने चंबा, मंडी, सुकेत, कहलूर और सिरमौर पर आक्रमण कर उन्हें पराजित किया।

संसारचंद की महत्त्वाकांक्षा और लगातार चढ़ाइयों से पहाड़ी राजाओं पर आतंक छा गया था। उनके सौभाग्य किंतु प्रदेश के दुर्भाग्य से सन् 1803 में नेपाल की गोरखा सेना पश्चिम की ओर राज्य-विस्तार के लिए चढ़ रही थी। उस वर्ष नेपाल ने गढ़वाल पर विजय प्राप्त कर ली थी। तब बिलासपुर के राजा ने गोरखों को संसारचंद पर आक्रमण करने में सहायता देने का आश्वासन दिया। सन् 1805-6 के

Digitised by
Tharah Kardu

जाड़ों में जब गोरखा सेना सतलुज को पार कर सुकेत आई, तो बिलासपुर, बसोहली और काँगड़ा के आसपास के राजाओं ने दस हजार के लगभग सैनिक गोरखा सेनापति को दिए। संसारचंद सम्मिलित गोरखा और राजपूत सेना का मुकाबला नहीं कर सका और शरण लेने के लिए उसे काँगड़ा किले में आ जाना पड़ा। गोरखों ने तीन साल तक काँगड़ा राज्य को लूटा। परिणाम यह हुआ कि "काँगड़ा की उपजाऊ घाटी में खेती के नाम पर कोई पत्ती नजर नहीं आती थी। शहरों में घास उग आई थी और मैदान के बाजारों में सिंहनियाँ बच्चे देने लगी थीं।" संसारचंद ने गोरखों के विरुद्ध महाराजा रणजीतसिंह से सहायता माँगी। ज्वालामुखी में दोनों राजाओं की भेंट हुई और एक संधि-पत्र पर हस्ताक्षर हुए, जिसके अनुसार किले और उसके चहुँ ओर के क्षेत्र का अधिकार रणजीतसिंह को दिया गया और बदले में रणजीतसिंह ने काँगड़ा राज्य की रक्षा करना मान लिया। सन् 1809 में रणजीतसिंह की सेना ने गोरखों पर आक्रमण किया और उन्हें सतलुज के पार खदेड़ दिया। किले पर रणजीतसिंह का अधिकार होने से तथा संसारचंद की शक्ति खत्म हो जाने से सारे पहाड़ी राज्यों पर सिखों का प्रभुत्व स्थापित हो गया। इस प्रकार लगभग एक सौ वर्षों के भीतर यह प्रदेश फिर स्वतंत्रता खो बैठा।

सन् 1846 में प्रथम सिख-ब्रिटिश युद्ध के परिणामस्वरूप लाहौर दरबार ने जालंधर, दोआब, व्यास और सतलुज के बीच का काँगड़ा, कुल्लू, लाहुल, स्पिति का इलाका अंग्रेजों के अधिकार में दे दिया। सतलुज के पूर्वी किनारे की रियासतों को अंग्रेजों ने सन् 1814 में गोरखों को पराजित करने के पश्चात् अपने संरक्षण में ले लिया था। कोटगढ़ जैसे सामरिक महत्त्व के थोड़े-से स्थानों को अपने कब्जे में रख बाकी का इलाका उन्होंने वहाँ के राजा-राणाओं को लौटा दिया था। चंबा सन् 1848 में अंग्रेजों के आधिपत्य में आया, जहाँ उन्होंने स्थानीय राजा को ही मान्यता दी।

15 अगस्त, 1947 को भारत में अंग्रेजी राज की समाप्ति के साथ-साथ इन रियासतों पर से विदेशियों का प्रभुत्व हटा। 15 अप्रैल, 1948 को चंबा, मंडी, सुकेत, सिरमौर और रामपुर बुशैहर समेत 30 रियासतों का हिमाचल प्रदेश के नाम से एक संघ स्थापित हुआ। सन् 1954 में बिलासपुर राज्य का भी इस संघ में विलय कर दिया गया। सन् 1966 में पंजाब के पुनर्गठन के कारण काँगड़ा, कुल्लू, लाहुल, स्पिति तथा नालागढ़ और ऊना भी हिमाचल में शामिल हो गए। इन सबका सम्मिलित रूप ही वर्तमान हिमाचल प्रदेश है।

प्रशासन—हम देख ही चुके हैं कि अपने गणतंत्रात्मक स्वरूप में हिमाचल प्रदेश खूँदों, ठकुराइयों और जनपदों अथवा राज्यों पर आधारित था, किंतु उसकी प्रशासनिक व्यवस्था कैसी थी और उसका विकास कैसे हुआ ? जनता की स्थिति क्या थी, शासन

tharahkardu.in

और जनता का पारस्परिक संबंध क्या था, इसकी पर्याप्त जानकारी सुलभ नहीं है।

जहाँ तक गणतंत्रात्मक व्यवस्था का प्रश्न है, हमें कुछ सूत्र आज भी मिलते हैं। इन सूत्रों में महत्त्वपूर्ण है मलाणा गाँव और डोडराक्वार तथा किन्नौर, शिमला, सिरमौर और कुल्लू में संथांग परंपरा।

मलाणा—कुल्लू की पार्वती घाटी में लगभग आठ हजार फुट की ऊँचाई पर प्राचीन गाँव मलाणा में गणतंत्र की मौलिक व्यवस्था आज भी उसी रूप से कार्य कर रही है, जैसे तीन-चार हजार वर्ष या उससे भी पहले। समूचे हिमाचल में यह एक गाँव ही क्यों उदाहरणस्वरूप रह गया, इसका एक प्रमुख कारण उसकी अगम्यता और अलगाव है। वहाँ के मार्ग विकट हैं और निकट में कोई अन्य बस्ती नहीं है। जरी के सामने पहाड़ी पर 'चौकी' गाँव है। वही मलाणा का सुगमतम प्रवेश-द्वार है। वहाँ से लगभग सात मील चट्टानों की दुरूह भयावह चढ़ाई है।

यह मलाणा गाँव कब बसा, वहाँ के निवासी कौन हैं, उनकी भाषा क्या है, इस पर अधिकारपूर्वक कुछ नहीं कहा जा सकता। यह पृथक् सुव्यवस्थित खोज का विषय है। किंतु अभी तक जो अनुमान लगाए गए हैं, उनके अनुसार मलाणा आदि नागों के गाँव हैं, भोटों किन्नरों की कोई बस्ती है, अथवा खशों की प्रारंभिक अवस्था की यादगार है। यहाँ की 'कणोश' या 'कणांशी' भाषा में किसी को भोटी के चिह्न मिले और किसी विद्वान् को मुंडा बोली के तत्त्व दिखाई दिए। इन्हीं अनुमानों के अनुसार इस गाँव की प्राचीनता भी चार हजार वर्षों से हजार-दो हजार वर्षों या इससे भी कम ठहरती है।

यदि एक विशेषता निर्विवाद है, तो वह है यहाँ की शासन-प्रणाली, जो संभवतः पूरे भारतवर्ष में अपना पृथक् स्थान रखती रही होगी। इस गाँव की संपूर्ण व्यवस्था 'जमलू' नामक देवता के इर्द-गिर्द घूमती है। वह यहाँ का सार्वभौम शासक है। 'जमलू' के तीन प्रतिनिधि हैं—कारदार, गूर और पुजारी। गूर द्वारा जमलू अपने आदेश और निर्णय सुनाता है। पुजारी पूजा-पाठ के लिए जिम्मेदार है। कारदार इन दो प्रतिनिधियों के सुचारु रूप से कार्य करने का जिम्मेदार है। इसके अतिरिक्त वह गाँव का मुखिया भी है और स्थानीय गणतंत्र का प्रधान भी।

मलाणा में शासन के दो मुख्य सदन हैं—एक का नाम है 'जेठरा' और दूसरे का नाम 'बारी' या 'कोरम' है। जेठरा के लिए मलाणा के आठ छद्दियों (आरंभिक वंशों) से एक-एक प्रतिनिधि चुना जाता है। इन आठ प्रतिनिधियों में से एक का देहांत हो जाने पर सबों का दोबारा निर्वाचन होता है, अतः जेठरा की अवधि उसके प्रतिनिधियों की आयु पर निर्भर है। जेठरा के कारदार, गूर और पुजारी सहित ग्यारह सदस्य होते हैं। 'बारी' में मलाणा के प्रत्येक परिवार का एक वयस्क पुरुष सदस्य

Digitised by
Tharah Kardu

होता है। ये सदस्य प्रति वर्ष बदलते रहते हैं।

गाँव की सभी सामाजिक, धार्मिक और राजनीतिक अथवा प्रशासनिक समस्याओं पर जेठरा और बारी, दोनों में विचार होता है और निर्णय सर्वसम्मति से होते हैं। मतभेद की स्थिति में अंतिम निर्णायक 'जमलू' देवता होता है, जो अपने 'गूर' द्वारा अपने अभिमत से जेठरा और बारी को सूचित करता है। उसका निर्णय सर्वमान्य होता है। मिल-बैठकर आपस में ही सब विवादों को निपटाने और समस्याओं को सुलझाने का यह अनूठा उदाहरण है और यही कारण है कि किसी मलाणा-निवासी को कभी अदालतों-कचहरियों में जाते नहीं देखा गया।

डोडराक्वार—पूर्व में डोडराक्वार मलाणा जैसा ही अगम्य स्थान है। डोडराक्वार उत्तर में 13,000 फुट ऊँचे छिरांगचा पर्वत, दक्षिण में उत्तरांचल के टिहरी जिले के पंचगाई प्रदेश से, पूर्व में 11,500 फुट माँझी काँठे से और पश्चिम में 14,500 फुट चांगसिल पर्वत से घिरा है। प्रवेश-द्वार केवल छह महीने के लिए खुला रहता है। डोडराक्वार में परिवार का योग्यतम व्यक्ति बिरादरी की पंचायत के लिए चुना जाता है। यह पंचायत बिरादरी और परिवार के अंदरूनी झगड़ों को निपटाती है। सामाजिक जीवन का आधार यह बिरादरी पंचायत ही है। जो फैसले पंचायत न कर सके, उसे 'क्वार जाख' देवता, जो मलाणा के जमलू की तरह जातीय देवता है, तय करता है, उसका निर्णय सर्वमान्य है। 'क्वार जाख' कई बार परिवारों को उनके मकान, जमीन और जायदाद तक से बेदखल कर लेता है।

पुराने जमाने में भी संभवतः ठीक यही स्थिति रही होगी। प्रत्येक खूँद का नेता उसका वास्तविक शासक होता होगा, जिसको सलाह देने के लिए संपन्न-प्रभावशाली परिवारों के सदस्यों की एक समिति होती होगी।

संथांग—यह समिति विचार-विमर्श करने के लिए जिस स्थान पर बैठती थी, उसे किन्नौर में संथांग, ऊपरी शिमला में थौड़, सिरमौर में भोज, सतलुज उपत्यका में थाँणी या धाठ कहते हैं। संथांग को चौगान और 'शना' का पर्यायवाची भी कहा जा सकता है। विशेषतः वहाँ जहाँ इसका उपयोग सामाजिक, धार्मिक और सांस्कृतिक उत्सव मनाने के लिए किया जाता है। किन्नौर में साधारणतया देवता के मंदिर के साथ का खुला मैदान 'संथांग' कहलाता है। 'संथांग' में बैठकर देवता दीवानी और फौजदारी मामलों तक का निर्णय करता था, अपराधियों को दंड देता था तथा आधिव्याधि में लोगों की सहायता करता था।

ऐसा लगता है कि संथांग वस्तुतः संस्कृत साहित्य का संथागार ही है। बौद्ध युग में जनपदों के लोगों को एकत्रित होने और बैठने के स्थान को 'संथागार' कहा जाता था। ये सामुदायिक जीवन के केंद्र थे। कपिलवस्तु में बुद्ध के महानिर्वाण के तुरंत बाद

tharahkardu.in

एक संथागार के निर्माण का उल्लेख मिलता है।

इन संथागारों में भी प्रायः पत्थरों का बना एक विशेष गोल स्थान होता था, जो देवता की गद्दी या सिंहासन भी माना जाता था। आज भी अनेक पुराने गाँव में इस प्रकार के पत्थरों के गोलाकार अवशेष हैं, जिन पर बड़े-बड़े पत्थर बिछाए गए हैं। डोर की ओर पत्थर की पीठिकाएँ हैं, जिनके सहारे ग्राम अथवा खूँद प्रतिनिधि बैठा करते थे। कुल्लू की सतलुज उपत्यका में इन्हें 'थाँणी' या 'चौतड़ा' कहते हैं। इन चौतड़ों-थाणियों पर बैठकर ये प्रतिनिधि कुछ वर्ष पहले तक मंदिर, धर्म और समाज संबंधी निर्णय करते रहे हैं।

यद्यपि आज ये चौतड़े, थौड़ या थाँणी अपना सामाजिक, धार्मिक और प्रशासनिक महत्त्व खो चुके हैं, किंतु इनके पीछे जो पवित्रता, शुचिता, दैवीपन और आदर की भावना थी, वह बनी हुई है। यदि कोई व्यक्ति इस पर खड़ा होकर अपने निरपराध होने की सौगंध खा ले, तो उसे निर्दोष समझा जाता है। सामान्य लोगों में धारणा यह है कि थौड़, थाँणी, चौतड़े आदि पर न तो कोई झूठ बोल सकता है न कोई दुष्कर्म कर सकता है। इसके विपरीत आचरण करने वाले को कठोर, भयावह फल भुगतना पड़ता है। मालूम होता है कि इन संथांग, थाणियों या थाँण का प्रचलन उसी क्षेत्र में रहा है, जहाँ कभी खशों और उनसे पहले की अन्य जातियों की प्रमुखता रही है और बाद में बौद्ध प्रभाव।

समूचे प्रदेश में आरंभिक दिनों में जनपदात्मक गणतंत्रीय शासन-व्यवस्था रही। यह कब बदली, निश्चित तिथि का निर्धारण तो असंभव है, किंतु प्रतीत होता है कि देश के मैदानी क्षेत्र के संपर्क से अथवा सुरक्षा की विवशताओं से संघीय गणतंत्र एकाधिपति एकराज में परिवर्तित होते गए। यह परिवर्तन ईसा की पाँचवीं-छठी शताब्दी में पूरा हुआ। तब से शासन की छोटी से छोटी इकाई, खूँद से लेकर त्रिगर्त जैसे बड़े राज्यों में एक ही व्यक्ति का प्रभुत्व रहा है। खूँद भी बदलकर ठकुराइयाँ बनीं, खूँदों के प्रतिनिधियों का नेता ठाकुर बन गया। राणाओं की राहणुएँ बनीं और ठकुराइयों और राहणुओं की नींव पर त्रिगर्त, कुल्लू, बुशैहर जैसे पुराने राज्य तथा सातवीं से बारहवीं शताब्दी के बीच प्रदेश के अन्य क्षेत्रों के राज्य बने। खूँदों के सब अधिकार ठाकुर को मिल गए। अब मौलिक इकाई में देवता और ठाकुर, राहणू में देवता और राणा तथा राज्य में देवता और राजा, इन शासक-द्वय के हाथ में सारी शक्ति केंद्रित हो गई।

राजा देवता—शासक और देवता के इस सम्मिश्रण से बहुधा राजा, राणा में ही लौकिक तथा दैविक और धार्मिक सत्ता का समाहार हो गया और कहीं देवता ही शासक बना और कहीं शासक ही देवता भी बना। क्योंथल रियासत में राजा ही

Digitised by
Tharah Kardu

देवता भी बन गया किंतु कुल्लू और मंडी में राज्य देवता का रहा और राजा केवल उसका कारदार अथवा प्रतिनिधि बनकर राज करता रहा। राजा और देवता का एकीकरण इस सीमा तक हुआ कि देवता राजा कहलाने लगे और राजा देवता। राजा के अभिवादन के लिए 'जयदेआ' (जयदेव) शब्द स्पष्टतः इसका प्रमाण है। उसके स्वागत के लिए देवता की धार्मिक छड़ी, चँवर, छत्र और वाद्य-यंत्र प्रयुक्त होते रहे हैं।

संभवतः देवता और राजा के एकीकरण का मुख्य कारण भूमि का आधिपत्य या स्वामित्व था। आरंभ में वरींदों ने जब बस्तियाँ बसाई थीं, तो व्यक्ति-विशेष या परिवार-विशेष का भूमि पर अधिकार नहीं था। वह सबकी साँझी थी, उस पर सबका बराबर का अधिकार था। इस स्थिति को बनाए रखने के लिए संभवतः भूमि का स्वामित्व वरिंद के कुलदेवता, देऊ या देवी को दिया गया, जिससे सभी के अधिकार सुरक्षित रह सकें, भूमि साँझी बनी रहे।

भूमि पर देवता के इसी स्वामित्व ने राजा और देवता को एक स्वरूप करने में सहायता पहुँचाई। आरंभ में भूमि ही महत्त्वपूर्ण थी। उस काल की आर्थिक व्यवस्था का केवल मात्र यही आधार था। यदि राजा का भूमि पर अधिकार नहीं, तो उसका शासन कैसा ? देवता के साथ एकाकार हो जाने से राजा ने दैवी गुणों को भी अपने में समाविष्ट कर लिया। फलस्वरूप राजा भूपति भी बना और धर्म-संस्थापक भी।

भूमि और धर्म का नियंता हो जाने से अब उस व्यक्ति की ही पूजा होने लगी। अपनी प्रजा के आदर-सम्मान, भक्ति और सेवा का केवल मात्र वह पात्र बना। वह अपनी प्रजा के भाग्य का विधाता बना। प्रजा की सामाजिक स्थिति और भौतिक अवस्था सब उसी की इच्छा पर निर्भर हो गए। वह खश को ब्राह्मण भी बना सकता था, राहू अथवा कनैत को ठाकुर और राणा की गद्दी पर बैठा सकता था और ब्राह्मण को क्षत्रिय और राणा-ठाकुरों को सामान्य नागरिक में भी परिवर्तित कर सकता था। यदि राजा की कृपादृष्टि है तो उसका कृपापात्र जागीर प्राप्त कर सकता था, यदि दृष्टि वक्र हो गई, तो पुश्तों से जमा धन-दौलत, जमीन-जायदाद सभी छिन भी जाते थे। राजा सभी अधिकारों का स्रोत बन गया। अपनी-अपनी ठकुराई और राहणू में यही स्थिति ठाकुर और राणा की थी, अतः जहाँ भी राजा का उल्लेख हुआ है, उसी के अंतर्गत ठाकुर और राणा भी आ जाते हैं।

इस प्रकार की असीम शक्ति हाथ में केंद्रित हो जाने से यह स्वाभाविक था कि ये राजा-राणा निरंकुश हो जाएँ और समाज के प्रति अपने उत्तरदायित्व को भूल केवल व्यक्तिगत सौख्य और वैभव के लिए राज्य की संपदा तथा प्रजा की सामर्थ्य का प्रयोग करें। उनका काम पास-पड़ोस के अन्य शासकों से, राजाओं से सतत संघर्ष करना रह गया था। मत्स्य-न्याय के अनुरूप बड़ा राज्य सभी छोटे राज्यों को निगल

tharahkardu.in

जाना चाहता और जब उस बड़े राज्य में स्वयं कमजोरी आ जाती तो कोई अन्य महत्त्वाकांक्षी राजा उसे छिन्न-भिन्न कर आत्मसात् कर लेता। जीतने और हारने का यह क्रम उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध तक चलता रहा। इस स्थिति में प्रजा की सुख-सुविधा का ध्यान उन्हें कैसे आता ?

राजा भूपति था। सारी भूमि पर उसका अधिकार था। लोगों का भूमि पर कोई स्वामित्व नहीं था, वे केवल मुजारे थे, खेतिहर थे, भूमि से अन्न उत्पादक थे। हाँ, वे लोग जब तक राजा को कर देते रहते थे, उस खेती का पुश्त-दर-पुश्त उपभोग कर सकते थे। यदि किसी परिवार के सभी सदस्य बिना किसी उत्तराधिकारी के मर गए, तो उसकी भूमि पुनः राजा को लौट जाती थी। राजा भूमि को प्रायः पट्टे पर देता था और यदि किसी कारणवश वह अप्रसन्न हो गया, तो पट्टा मनमूख भी कर देता था। भूमि का कर साधारणतया उपज का एक-तिहाई भाग होता था, जिसकी उगाही के लिए वजीर, विष्ट अथवा चौधरी नियुक्त होते थे। किंतु कई बार ये कर उगाहने वाले निर्धारित मात्रा से अधिक भी वसूल कर लेते थे, जिसके कारण साधारण कृषक को अत्यधिक कठिनाई का सामना करना पड़ता था। सामान्यतः जनता का कर्तव्य राजा को कर देना, उसकी चाकरी करना, उसकी बेगार भरना और युद्ध के समय सेना में भरती होना होता था। राजा स्वयं बड़ा जमींदार होता था। उनकी खेती का काम लोगों को बेगार में करना होता था। कतिपय प्रभावशाली परिवारों को छोड़, सभी कुटुंबों को बेगार निभानी पड़ती थी। इसके बदले में लोगों को कमाने के लिए भूमि मिलती थी। अन्यथा गाँव वालों का जीवन स्वावलंबी था। परंपरा से चली आई मिलजुलकर निर्वाह करने की भावना बलवती थी। सहकारिता के आधार पर मकान बनाने जैसे बड़े काम किए जाते थे। सारा गाँव पत्थर, सलेट आदि उपलब्ध कराने में मकान बनाने वाले की सहायता करता था। इसी प्रकार सिंचाई के लिए 'कुल्हें' या छोटी नहरें भी प्रायः लोग स्वयं खुदवाते थे। ग्राम-जीवन वस्तुओं के अदल-बदल के आधार पर चलता था। शासन का कार्य केवल राजा के हितों की रक्षा करना ही रह गया था।

लोककथाओं के अनुसार मध्ययुगीन राणा और ठाकुरों का शासन क्रूर था। प्रजा को लूटना-खसोटना इनका मनोरंजन था। इनका वचन ही कानून था और ये जब चाहते, जिसे चाहते, मौत के घाट उतार देते थे। यही नहीं, लोगों के धन-धान्य को ये अपना ही माल समझते थे। इस प्रकार के अनेक प्रसंग हैं कि ठाकुरों, राणाओं का जब जी चाहता, अपने आदमी भेजकर किसी के घर से कोई भी वस्तु उठवा लाते थे।

यदि इन कथाओं को सच्चा मानें, तो इनमें से कई शासकों का स्वभाव कठोर

Digitised by
Tharah Kardu

था, इनकी प्रकृति दुष्ट थी और मनोरंजन के साधन तथा आहार-विहार एकदम राक्षसी। इस प्रकार के वृत्तांतों की कमी नहीं है, जिनमें बताया गया है कि किसी राणा या ठाकुर को शिशु-मांस का भोजन प्रिय था, तो किसी अन्य की रुचि स्त्रियों के स्तनों को भूनकर खाने की थी। लगता है, गाय का दूध अनेक शासकों को अरुचिकर था और उन्हें केवल नारी का दूध पचता था।

संभव है, यह केवल मात्र अतिरंजित चित्रण हो, जिसे ठाकुर-राणा के साथ संघर्ष के दिनों में प्रजा की सहानुभूति प्राप्त करने के लिए राजाओं ने प्रचारित किया हो और जनता की अवचेतना में सत्य बनकर बैठ गया हो; किंतु इसमें संदेह नहीं कि विश्व-भर में निरंकुश शासन में जनता की स्थिति सुखद नहीं रही। यदि राणा और ठाकुरों ने ये अत्याचार न भी किए हों, तो भी उनके तथा राणा के कर्मचारियों के अविवेकी और क्रूर होने के आधुनिक काल तक उदाहरण मिलते रहे हैं। कर उगाहने वाले, बेगार लेने वाले तथा परगने, टप्पे और कोठी के अधिकारी वर्ग को जनता को लूटकर अपना स्वार्थ पूरा करने की सदा फिकर रहती थी। राजधानी से दूर के कर्मचारी प्रायः निरंकुश होते थे। उन्हें राजा को निश्चित मात्रा में कर देना होता था, किंतु स्वयं वे उससे कहीं अधिक इकट्ठा करते थे। कर उगाहने में प्रायः वे अमानुषिक व्यवहार करते थे। किसी अन्य व्यक्ति की समृद्धि उन्हें खलती थी। यही कारण है कि कुछ साल पहले तक धनी-मानी कुटुंबों का यह कायदा था कि धन द्रव्य को दबाकर रखा जाए, घर में कोई मूल्यवान चीज खुली न रहे और खान-पान और वेशभूषा में भी कोई ऐसी बात न हो, जिससे उनकी संपन्नता प्रकट हो जाए। वैभव गिने-चुने परिवारों तक ही सीमित था, जिनमें राजपरिवार के सदस्य, राणा, ठाकुर, मियाँ आदि राजा के रिश्तेदार तथा वजीर, कायथ और माहतो जैसे ऊँचे-नीचे राजकर्मचारी शामिल थे। लोगों का जीवन इस वर्ग के हाथ में था। लगता है, मनुष्य के जीवन का कोई विशेष मूल्य नहीं था।

डूम—राजा का सीधा शासन राजधानी और उसके आसपास के इलाके तक ही सीमित रहता था, अन्यत्र राजकर्मचारी ही शासक थे। साधारण जनता का राजा के साथ सीधा संपर्क नहीं था। वह दूर था, अतः उसके स्वभाव और प्रकृति की उसे जानकारी नहीं थी। दूसरे देवत्व का आरोपण हो जाने से वह आदरणीय और पूज्य भी बन गया था। वह पितातुल्य था, जो कोई गलत काम नहीं कर सकता था। यही कारण है कि सामान्यतः प्रजा विद्रोह नहीं करती थी। कहावत थी कि 'राम और राज के आगे किसका जोर चलता है', किंतु जब उसके दुर्दैन्य की पराकाष्ठा हो जाती थी, शोषण सहनशक्ति से आगे बढ़ जाता था, भविष्य अंधकारपूर्ण बन जाता था और छुटकारे की संभावनाएँ नष्ट हो जाती थीं, केवल तब प्रजा विद्रोह करती थी।

tharahkardu.in

यह विद्रोह साधारणतया अहिंसात्मक असहयोग का रूप लेता था। इसके तीन रूप थे : (1) वैयक्तिक विद्रोह, (2) डूम, और (3) देवी-देवताओं के माध्यम द्वारा। वैयक्तिक विद्रोह और डूम का प्रयोजन प्रशासन की त्रुटियों को सुधारना होता था, जबकि देवी-देवताओं की सहायता राजा को ही बदलने के लिए ली जाती थी।

वैयक्तिक विद्रोह आत्मोत्सर्ग का ही दूसरा नाम था। इसमें व्यक्ति अपने को अग्नि को भेंट कर शासक वर्ग की सुप्त आत्मा को जगाने का प्रयास करता था। मुख्यतः इसके लिए कोई ब्राह्मण आगे आता था, ताकि 'ब्रह्महत्या' का गंभीर पाप राजा या उसके कर्मचारियों को लगे और उन्हें प्रायश्चित्त के लिए अपनी-अपनी क्रूरताएँ कम करनी पड़ें, जिससे साधारण जनता को राहत मिल सके।

डूम सामूहिक विद्रोह था। जनता जब राजा का ध्यान किसी विशेष शिकायत की ओर दिलाना चाहती थी, तो लोग अपने घरों को छोड़ जंगलों में चले जाते थे। बेगार देना बंद कर देते, राज-आज्ञा नहीं मानते थे। फसलें बरबाद हो जातीं और राजकाज रुक जाता था। वे गाँव और घर तभी लौटते जब माँगें पूरी हो जाती थीं। उन्नीसवीं तथा बीसवीं शताब्दी में कुठार (1857), रामपुर बुशैहर (1859), सुकेत (1862 तथा 1876), सिरमौर (1871-72), नालागढ़ (1876-77), बिलासपुर (1885), चंबा (1895), बाघल (1904), मंडी (1909) तथा रामपुर बुशैहर (1906) में डूम हुए थे।

जब सभी शांतिमय उपाय असफल हो जाते, वैयक्तिक विद्रोह और डूम से भी राजा के कान पर जूँ तक न रेंगती, तो प्रजा राजदेवता या कुलदेवता की शरण में जाती तथा अपने उद्धार की प्रार्थना करती। राज्य के किसी प्रत्याशी का पक्ष प्रजा ले लेती और राजा को पदच्युत करने में उसकी सहायता करती। मध्य युग में जितने नए राज्य स्थापित हुए, या पुराने राज्यों में नए वंशों ने शासन-डोर सँभाली, प्रायः उन सब नए राजाओं ने राजदेवता की तुष्टि कर प्रजा का सहयोग प्राप्त किया था और स्वयं प्रजा ने उन्हें राणा और ठाकुरों के पंजों से उद्धारक के रूप में स्वीकार किया था।

Digitised by Tharah Kardu

षष्ठ अध्याय

सांस्कृतिक पर्यवेक्षण

संस्कृति इंद्रधनुष की भाँति रहस्यमयी है। वर्षा के बाद आकाश में इंद्रधनुष बड़ा सुंदर और आकर्षक लगता है। पकड़ में न आने के कारण उसकी मनोहरता और भी बढ़ जाती है। किंतु इंद्रधनुष का प्रकट होना, उसका लोप, उसकी बनावट, प्रकृति और सभी कुछ एक रहस्य-सा है। यही स्थिति संस्कृति की भी है।

संस्कृति शब्द बड़ा व्यापक है। इसका स्वरूप निर्धारित करने में विद्वान् एक मत नहीं हैं। समाजशास्त्री, साहित्यकार, इतिहासकार और नृतत्त्व वैज्ञानिक भिन्न-भिन्न परिभाषाएँ प्रस्तुत करते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि वे सभी उन अंधों के समान हैं जिन्हें हाथी की रूपरेखा और आकार का ब्योरा देने का काम सौंपा गया हो। छूने से जिसे जो स्थिति मालूम हुई, उसके अनुसार हाथी का स्वरूप वैसा ही बन गया।

संस्कृति का अभिधेयार्थ सम्यक् कृति, अच्छा करना, श्रेष्ठतर बनाना, सुधारना, संशोधित करना अथवा परिमार्जित करना माना गया है। इस प्रकार संस्कृति का अर्थ मन का विकास, रुचि का सुधार, आचार-विचार का परिमार्जन और विवेक का संवर्धन है।

यह परिभाषा स्पष्टतः यह मानकर चलती है कि संस्कृति किसी पूर्व अवस्था में लाए गए सुधार का परिणाम है। फलतः संस्कृति से पहले और संस्कृति के बाद के दो विभिन्न स्तर बनते हैं, जिसके अनुसार किसी व्यक्ति या समूह की संस्कृति का मानदंड उसका ज्ञान, उसका साहित्य, संगीत एवं कला से प्रेम या व्यवहार के संस्कार हैं। या यों कहें कि संस्कृति उन व्यक्तियों के समूह के कलात्मक तथा बौद्धिक विकास का नाम है।

किंतु संस्कृति से पूर्व और संस्कृति के उपरांत की पृथक् अवस्थाओं को मानना उचित नहीं है। संस्कृति मानव के ऐतिहासिक विकास में जीवनयापन की रीति का नाम है, जिसकी न तो कोई पहले की स्थिति होती है और न बाद की परिमार्जित अथवा परिष्कृत स्थिति ही। जीवन को उसका वास्तविक मूल्य प्रदान करने वाले तत्त्व संस्कृति हैं, अतः मानव के वे सब संस्कार जो लौकिक और पारलौकिक उन्नति के मार्ग को प्रशस्त करते हुए समाज के सर्वांगीण जीवन का निर्माण करते हैं, संस्कृति

tharahkardu.in

के अंग हैं। यदि सरल शब्दों में कहें, तो हम क्या करते हैं, क्यों करते हैं, कैसे करते हैं, हमारे कार्य किन विचारों, भावों, इच्छाओं और उद्देश्यों से प्रेरित हैं और हम किस प्रकार जीते हैं, अर्थात् हमारे सोचने और करने के सारे व्यवहार-प्रकार संस्कृति हैं। इसमें व्यक्ति, देश, समाज और जाति की आत्मा निहित है, उनके चिंतन-मनन, रहन-सहन, वेशभूषा, कला-कौशल, सभी का समावेश है। हमारे वेदन, भावना, अनुभूति, अभिव्यक्ति, आस्था, निष्ठा, आकांक्षा, इच्छा और कार्य संस्कृति द्वारा प्रेरित हैं। हम इसी से ज्ञान, विश्वास, कला, आचार-विचार, विधि-विधान और रीति-रिवाज को ग्रहण करते हैं। इस प्रकार संस्कृति जन्म-प्रसूत भी है और ज्ञान-प्रसूत भी। वह वैयक्तिक भी है, वर्गगत और जातिगत भी है।

संस्कृति के निर्माण में भूगोल और इतिहास का बहुत बड़ा हाथ रहता है। मूल रूप में संस्कृति समस्त संसार में एक समान है। क्योंकि जैसा वेस्टर मार्क ने कहा है, "अंततः मनुष्य एक ही जीव श्रेणी का प्राणी है। मनुष्य का चित्त एकरूप है, उसकी अवगतियाँ और उदात्तीकरण की वृत्तियाँ समान मार्ग से चलती हैं। उसकी अबनॉर्मल (Abnormal) और सबनॉर्मल (Subnormal) अवस्थाएँ निश्चित परिस्थितियों में समान रूप से क्रियाशील होती हैं। जीव तात्त्विक संवेग समान भाव से सर्वत्र मानस सूक्ष्म-बोधों को उकसाते हैं, अतः व्यक्तिगत स्तर पर वैविध्य होने पर भी मानव चित्त एक है। मनुष्य चाहे पूर्व का हो या पश्चिम का, वह भले ही जापान, चीन का निवासी है, या अमेरिका और यूरोप का, वह मिस्र में रहता है या आस्ट्रेलिया में, वह अदृष्ट दैवी शक्ति से भयभीत है, अनागत का उसे डर है, अतीत के प्रति उसमें अगाध श्रद्धा है और रूढ़ियों में उसे विश्वास है किंतु भौगोलिक और ऐतिहासिक कारणों से उसमें वैविध्य भी काफी आ गया है और ज्यों-ज्यों जो वर्ग और समुदाय विज्ञान और टेक्नोलॉजी के क्षेत्र में अधिक उन्नति करता है, उसका सांस्कृतिक स्तर अन्य वर्गों और जातियों से उसी अनुपात में भिन्न होता जाता है।"

भारतवर्ष अपने में एक महाद्वीप है। इसकी संस्कृति को सामान्यतः तीन भागों में बाँटा जाता है : (1) पार्वतीय सीमांतक, (2) सिंधु-गांगेय प्रदेशीय तथा (3) दक्षिणी। इन तीन क्षेत्रों की मूल संस्कृति का एक स्वर है, एक स्रोत है, किंतु भौगोलिक और ऐतिहासिक विभिन्नता के अनुरूप इन उप-संस्कृतियों में थोड़ा-बहुत अंतर भी है और प्रत्येक की अपनी-अपनी विशेषताएँ भी हैं। आश्चर्य की बात यह है कि इन तीन उप-संस्कृतियों की जो प्रमुख विशेषताएँ हैं, वे सभी किसी न किसी रूप में हिमाचल से मिलती हैं। जैसा कि हम पूर्व अध्यायों में देख चुके हैं, जातीय और राजनीतिक इतिहास की दृष्टि से हिमाचल अपने आपमें लघु भारत है। भारत की प्रायः सभी जातियों का आगमन यहाँ हुआ। देश के सभी राजनीतिक परिवर्तनों में यह प्रदेश

Digitised by
Tharah Kardu

भागीदार रहा और उसके सभी सांस्कृतिक और धार्मिक आंदोलनों से यह किसी न किसी रूप में प्रभावित होता रहा। इसके बावजूद इसका अपना पृथक् अस्तित्व और विशिष्ट व्यक्तित्व बना रहा है। सही अर्थों में हिमाचल प्रदेश एक शीतागार (कोल्ड स्टोर) की तरह है, जिसमें जो वस्तु भी रखी गई, वह सही-सलामत अपनी पूर्व अवस्था में पड़ी रही है। यही कारण है कि समूची भारतीय संस्कृति अपने पूर्ण वैभव में इस क्षेत्र में उपलब्ध है। यहाँ पर लोक संस्कृति का लगभग वही रूप वर्तमान है जो तमिलनाडु में है, असम की पहाड़ियों में है, गंगा के किनारे और पंचनदीय क्षेत्र में है। कलात्मक अभिव्यक्ति के विभिन्न माध्यमों ने मुक्त वातावरण में निर्बाध ढंग से यहाँ विकास के अवसर पाए हैं। यहाँ अनुपम, अनूठे चित्र चित्रित किए गए, भव्य मूर्तियों का निर्माण हुआ और संगीत की विशिष्ट स्वरलहरी से देश का वायुमंडल गुंजारित किया गया है। इसके अतिरिक्त हिमाचली संस्कृति की कतिपय अपनी विशेषताएँ हैं, जिसने समग्र रूप में अखिल भारतीय संस्कृति को गौरव प्रदान किया है। हिमाचली संस्कृति की पृथक् चर्चा करने का अभिप्राय इन क्षेत्रीय विशेषताओं को दिखाना है।

समूचे देश की भाँति हिमाचल प्रदेश को भी तीन भागों में बाँटा जा सकता है—

(1) सीमांत क्षेत्र, जिनके अंतर्गत लाहुल-स्पिति और किन्नौर आते हैं।

(2) मध्य खंड, इसमें सिरमौर, शिमला, सुकेत, मंडी, कुल्लू, काँगड़ा का पूर्वोत्तरी भाग और चंबा के इलाके हैं।

(3) शिवालिकीय पट्टी प्रदेश में नालागढ़, बिलासपुर, ऊना और काँगड़ा का दक्षिणी-पश्चिमी भाग सम्मिलित है।

सीमांत प्रदेश में भारतीय संस्कृति का सीमांत रूप मिलता है। लाहुल-स्पिति और किन्नौर में किन्नर-किरात-भोट तत्त्वों के ऊपर हिंदू एवं लामा बौद्ध परंपराओं का सम्मिश्रण हुआ है। वहाँ पर हिंदू और बौद्ध मान्यताएँ और जीवन-पद्धतियाँ इस प्रकार घुलमिल गई हैं कि यह कहना कठिन हो गया है कि मूल रूप में कौन किससे प्रेरित है। मलाणा में किसी प्राचीन संस्कृति के अवशेष आज भी प्राप्य हैं।

मध्य खंड में अर्धपौराणिक, अर्धवैदिक और अर्धलोक-संस्कृति की अपूर्व खिचड़ी है। यहाँ का एक व्यक्ति यदि सीताराम राधेश्याम के नामोच्चारण को अपशकुन समझ यह कहता है कि—

'गीआ न लामणू
झझोटी न वामणू,
दोती दोती राधेशाम सीताराम,
ऐहा कौरी तेरे पारी पांडो भाई छेओ
एबे रोहो होऊँ छेणों।'

fharahkardu.in

(भाई, तुम यह करते क्या हो, प्रातः उठकर न गीत गाते हो न लामण, झझोटी और बामणू जैसे अन्य प्रेम गीतों का गान करते हो। पहला काम तुम राधेश्याम सीताराम को जपने का करते हो। तुम्हारे इसी परंपरा-विरुद्ध कार्य करने के फलस्वरूप सामने के मकान में रहने वाले भाई की मृत्यु हो गई, अब क्या तुम यह चाहते हो कि मेरा भी अंत हो जाए ?' तो दूसरा व्यक्ति भक्ति भाव से विभोर होकर उन्हीं राधेश्याम या सीताराम से अनुनय-विनय कर कहता है कि–

'भीलणी दे कोकणु बी मिट्ठे करी चखी गेया,
ब्राह्मण सुदामा कच्चा भत्त खाई तारेया,
कोबणु दी मरी गई छोई की ज्वाल दित्ती,
हाथिए की तंदुए दे ग्राहे ते निकाले या,
थम्मणे की फाड़ी परल्हादुए की लाज राखी,
दैते हरनाकशे की नक्खाँ संग फाड़ेया,
इयाँ मिज्जो देखुए की तार गाजे जदुनाथ,
ताँ तिज्जो जाणा मैं मोर मुकुट वालेया।'

(हे मोर-मुकुट वाले यदुनाथ, मैं तुम्हें तारनहार तभी मानूँगा यदि तुम मुझे भी भीलनी, सुदामा, गज और प्रह्लाद की तरह अपना लो।)

शिवालिकीय क्षेत्र पर सिंधु-गांगेय प्रदेशीय संस्कृति की अपेक्षाकृत अधिक छाप है, जो नृत्य के प्रति दृष्टिकोण से स्पष्ट हो जाती है। नृत्य हिमाचल प्रदेश के सीमांत और मध्य खंड के मानव का स्वभाव है। मंडलाकार नाच अथवा नाटी उसकी सांस्कृतिक परंपरा का प्रमुख बाह्य प्रकाशन है, जबकि शिवालिकीय पट्टी का हिमाचली नाटी से उतना लगाव नहीं रखता। उसके मेलों में मनोरंजन के अनेक साधन हैं, किंतु नाच का, नाटी का नितांत अभाव है। इसी प्रकार उसके मेलों में देवता अपने दलबल सहित रथ पर आरूढ़ हो उपस्थित नहीं होता। वह अपने मंदिर के एकांत में अपनी समाधि में कहिए चाहे अपने देवत्व की गरिमा में मग्न रहता है। वह जनता के सामाजिक जीवन के प्रति निर्लिप्त-सा है, उसमें भाग नहीं लेता है।

प्रागैतिहासिक एवं ऐतिहासिक काल में इस क्षेत्र ने देश के अन्य भागों की राजनीतिक, आर्थिक, धार्मिक और सामाजिक उथल-पुथल में कंधे से कंधा मिलाकर बराबर का भाग लिया। यह इसीलिए संभव हुआ कि जालंधर तक का इलाका लंबे अर्से तक उसका ही एक भाग था।

इस प्रकार हम देखते हैं कि देश के बाकी प्रांतों की तरह हिमाचल प्रदेश में भी संस्कृति यह मानती है कि उसके द्वारा मनुष्य अपनी स्वाभाविक प्रवृत्तियों को

Digitised by
Tharah Kardu

नियंत्रित कर अपने आपको सामाजिक आचार चेतना के अनुरूप ढालता है। इसकी प्राप्ति के लिए ज्ञान, इच्छा और क्रिया, तीनों का संतुलित सामंजस्य आवश्यक है। ज्ञानयोग का विस्तार होता है, और भक्तियोग इच्छाओं और आकांक्षाओं पर नियंत्रण करता है। कर्मयोग उसे सत्य-अनुसरण और निष्काम कर्म करने के लिए प्रेरित करता है।

कठोपनिषद् के अनुसार इच्छा के दो भेद हैं—श्रेय और प्रेय। श्रेय आत्मा के कल्याण की ओर ले जाती है जबकि प्रेय सांसारिक, भौतिक सुखों की उपलब्धि को अपना चरम लक्ष्य समझती है। अपने उच्च स्तर पर भारतीय संस्कृति का आदर्श श्रेय रहा है। यह अनेक पौराणिक और औपनिषदिक गाथाओं से सिद्ध होता है। गौतम बुद्ध, मैत्रेयी और नचिकेता की वार्ताओं से यह शिक्षा मिलती है कि श्रेय सदा प्रेय से श्रेष्ठ है। बालक नचिकेता ने यमराज से मृत्यु और जीवन का रहस्य जानना चाहा था। यमराज ने उसे समझाया कि वह अबोध है, इस रहस्य को समझने की अपेक्षा वह यह वरदान ले ले कि उसे संसार के सारे सुख और वैभव प्राप्त हों। नचिकेता ने इसे यह कहकर ठुकरा दिया कि सुख-समृद्धि के इन साधनों से उसकी आत्मा की तृप्ति नहीं हो सकेगी। इसी प्रकार मैत्रेयी ने भी पति महर्षि याज्ञवल्क्य के वानप्रस्थ धारण करने के उपरांत दिए गए धन-दौलत के उपहार को स्वीकार करने से इनकार कर दिया था। उसने स्पष्ट शब्दों में कहा था कि उसकी आत्मा भी अमरत्व के लिए उसी तरह लालायित है जैसी कि उसके पति की।

इसी श्रेय और प्रेय के प्रति दृष्टिकोण से शिष्टवर्गीय और लोक-आधारित संस्कृति का विभाजन हो सकता है। राजाओं-राणाओं द्वारा विशाल मंदिरों, भव्य मूर्तियों और धार्मिक चित्रों का सृजन जहाँ श्रेय के लिए कराया गया प्रतीत होता है, वहाँ हिमाचल में साधारण लोगों को केवल प्रेय अभीष्ट है। उसे भौतिकता के प्रति आकर्षण है, उसे इस संसार में सुलभ होने वाले सुखों का अधिक मोह है। मोक्ष उसकी गणना में गौण स्थान पर है। उसकी भक्ति मुक्ति के लिए नहीं है, आराध्य के साथ तादात्म्य स्थापित करने के लिए नहीं है। उसका ज्ञान परलोक या इहलोक के प्रति अधिक जिज्ञासा उत्पन्न नहीं करता है। उसकी भक्ति, उसका कर्म, उसकी इच्छा इस लोक की सुख-समृद्धि को प्राप्त करने के लिए है। ऐसा जान पड़ता है कि आत्मा अथवा मस्तिष्क की अपेक्षा उसे अपने शरीर और मन की अधिक चिंता है। भौतिकता उसका आराध्य है, आध्यात्मिकता के प्रति वह उदासीन है।

इस प्रकार हिमाचल प्रदेश में हमें संस्कृति की दो समान धाराएँ परिलक्षित होती हैं। एक धारा समाज के सुसंस्कृत, शिष्ट अथवा तथाकथित उच्च वर्गों में प्रवाहित है, जिसे शास्त्रसम्मत कहा जा सकता है, दूसरी शेष वर्गों में, जिसको लोकाश्रित कह

tharahkardu.in

सकते हैं। हरमन गोयतज जैसे कलाविदों ने जातियों के आधार पर ही हिमाचली संस्कृति का वर्गीकरण किया है और उसकी चार तहों में से दो तहें कोलियों की, तीसरी कनैतों की और चौथी राजपूतों और ब्राह्मणों की मानी है, किंतु इस प्रकार का वर्गीकरण स्पष्टतः भ्रामक है। जैसा हम देख चुके हैं, सभी आदि प्राचीन और अर्वाचीन जातियों, समुदायों और वर्गों का यहाँ पर इस प्रकार समन्वय हुआ है कि कोई भी वर्ग अपने आपको अछूता नहीं कह सकता है। यदि वर्ग समन्वित हैं, तो उनकी संस्कृति भी समन्वित ही होगी।

इस समन्वित संस्कृति के दो धरातल हैं। एक धरातल पर लगभग समूची जनता खड़ी है, दूसरे धरातल पर कतिपय वे वर्ग जो शासन अथवा धर्म के साथ निकट से संबंधित रहे। इसी दूसरे वर्ग को हम शिष्ट वर्ग कह सकते हैं, क्योंकि इसने इच्छा, क्रिया और ज्ञान द्वारा अपने संस्कारों का परिमार्जन किया है। इन वर्गों के कुछ-एक महत्त्वपूर्ण केंद्र हैं, जिन्हें आसपास के प्रदेश से सुगमता से पृथक् किया जा सकता है। धार्मिक एवं कलात्मक दृष्टि से निम्नांकित केंद्र प्रमुख हैं :

(1)	नगरकोट, काँगड़ा	(काँगड़ा)
(2)	टीरा सुजानपुर	(काँगड़ा)
(3)	भ्रमौर	(चंबा)
(4)	नग्गर-जगत सुख	(कुल्लू)
(5)	निरमंड	(कुल्लू)
(6)	कोठी	(किन्नौर)
(7)	हाटकोटी	(शिमला)
(8)	रेणुका	(सिरमौर)
(9)	उदयपुर	(लाहुल)
(10)	ममेल-काव	(मंडी)

उपर्युक्त सभी स्थान काफी प्राचीन हैं। टीरा सुजानपुर को छोड़, अन्य सभी केंद्र कम से कम हजार-दो हजार वर्षों से इस समूचे भूखंड में वैदिक और पौराणिक संस्कृति के उत्स रहे हैं। इन्हीं केंद्रों से भारत की श्रेयमयी संस्कृति का अन्य स्थानों में प्रसार हुआ है, ये सभी जगह संभवतः देश के अन्य भागों से आए लोगों की बस्तियाँ भी रही हों। यही कारण है कि इतर जनसंख्या आज भी इन केंद्रों की ओर श्रद्धा की दृष्टि से देखती है और नगरकोट, भ्रमौर एवं निरमंड जैसे स्थान 'पहाड़ी काशी' कहलाते हैं। इन नगरियों की भौगोलिक स्थिति महत्त्वपूर्ण है। वे एक ओर सामरिक दृष्टि से सुरक्षित क्षेत्र में हैं, दूसरी ओर वहाँ आना-जाना भी सुगम है। अतः

Digitised by Tharah Kardu

एक ने इन्हें चिर स्थायित्व दिया, तो दूसरी भौगोलिक सुविधा ने इन्हें निकटवर्ती जनता के लिए आकर्षक बिंदु बना दिया है। लंबे समय तक ये शास्त्रीय शिक्षा-दीक्षा और कर्मकांड के अत्यंत प्रभावशाली स्थल रहे हैं।

नगरकोट सात-आठ शताब्दियों तक बौद्ध धर्म का प्रमुख केंद्र रहा है। यहाँ का विहार देश के गिने-चुने विहारों में गिना जाता था, और दूर-दूर से विद्यार्थी और भिक्षु यहाँ शिक्षा ग्रहण करने आते थे। नग्गर जगतसुख भी ईसा पूर्व दो-तीन शताब्दियों से लेकर सातवीं शताब्दी ईसवी तक बौद्ध धर्म का इस पहाड़ी इलाके में महत्त्वपूर्ण क्षेत्र रहा है। बाद में नगरकोट और नग्गर दोनों निरमंड, भ्रमौर, हाटकोटी और कोठी की तरह शिव और शक्ति की पूजा के अग्रणी स्थान बन गए। उदयपुर बौद्ध, वैष्णव तथा शैव, भारत के तीनों प्रमुख धार्मिक आंदोलनों का मिलन-स्थल है, जहाँ वे आज भी एक-दूसरे के साथ पूर्ण सद्भाव से वर्तमान हैं।

इसी प्रकार भूतपूर्व रियासतों की राजधानियाँ चंबा, नूरपुर, हरिपुर, गुलेर, काँगड़ा, टीरा सुजानपुर, मंडी, सुकेत, सुलतानपुर, रामपुर, कोटखाई, जुब्बल, नाहन, बिलासपुर और नालागढ़ भी शास्त्रसम्मत संस्कृति के गढ़ रहे हैं। जैसा हम अगले अध्याय में देखेंगे, इन्हीं स्थलों पर हिमाचली कला के उत्कृष्ट नमूने मिलते हैं। इन्होंने इस प्रदेश में अभिजात वर्ग की संस्कृति का विस्तार करने में प्रकाश-स्तंभ का काम किया है।

संस्कृति के धरातल और धाराओं की चर्चा करते हुए हमें सदैव यह ध्यान रखना होगा कि उन सबका मूल एक ही है, भूमि समान है। जो शिष्ट वर्ग भी हैं, उनके अंतर्मानस में भी वे संस्कार हैं जो सामान्य जनता अथवा लोक में हैं। भले ही वे श्रेय की प्राप्ति पर जोर दें, किंतु प्रेय को भी वे किसी न किसी रूप में प्राप्त करना चाहते हैं। विष्णु और शिव के विशाल मंदिरों में जाकर वे पूजा-अर्चना करते हैं, किंतु आवश्यकता पड़ने पर स्थानीय देवता और नाग को रिझाना भी वे अपने अस्तित्व के लिए मंगलकारी समझते हैं। यों भी अभिजात संस्कृति लोक-संस्कृति में गुंफित होती है, उससे प्रस्फुटित होती है, पैदा होती है। लोकाचार, स्त्री-आचार आदि का केवल मात्र स्रोत तो लोक-संस्कृति ही है। अतः यह कहना उचित नहीं है कि अभिजात वर्ग की संस्कृति लोक-संस्कृति से ऊँची है और लोक-संस्कृति उससे हीन है। सच्चाई यह है कि एक ही समाज के उच्च और निम्न वर्ग, नागरिक और ग्रामीण संस्कृति के विभिन्न स्तर पर एक-दूसरे के पूरक हैं और एक-दूसरे को संबल प्रदान करते हैं।

संस्कृति का प्रतिबिंब धर्मोपासना में झलकता है। हिमाचल में शास्त्रसम्मत धर्म और लोक धर्म दोनों की परंपराएँ समान रूप से अपना अस्तित्व बनाए हुए मिलती हैं। इस बात को अस्वीकार नहीं किया जा सकता है कि पूजा, व्रत, त्योहार,

tharahkardu.in

धार्मिक संस्कारों आदि दृष्टि से यहाँ हिंदू धर्म तथा शास्त्रीय पद्धति का अनुसरण किया जाता है, किंतु लोक में अनेक ऐसी धार्मिक प्रवृत्तियाँ भी विद्यमान हैं जो शास्त्रीय पद्धति से असंबंधित हैं। इन्हीं प्रवृत्तियों के उद्दीपन और संवर्धन के लिए कतिपय उपकरणों की उद्भावना की गई है, जिनमें मंदिर, देवी देऊ के देहरे, जातरें, जाच और त्योहार-उत्सव प्रमुख हैं।

विभिन्न धर्मों और मतों के प्रचार और प्रसार में साधु, संतों, योगियों, वैरागियों, सिद्धों और नाथों ने यहाँ बहुत काम किया है। ये सिद्ध महात्मा देश-भ्रमण, कैलाश-यात्रा, हिमालय-दर्शन और तप-तपस्या के सिलसिले में इस प्रदेश में आते-जाते रहे, और अपने प्रवचनों, सत्संगों और चमत्कारों के द्वारा जनजीवन को प्रभावित करते रहे हैं। उपर्युक्त सांस्कृतिक केंद्रों से तो आज भी देश के अन्य भागों के योगियों और साधुओं का घनिष्ठ संबंध है, जहाँ वे ग्रीष्मकाल और चातुर्मास्य में आते रहते हैं।

खालसा—परंपरा के अनुसार देश के प्रसिद्ध धर्माचार्यों और प्रवर्तकों में से परशुराम, बुद्ध, आचार्य मजिम थेर, शंकराचार्य, गोरखनाथ, मत्स्येंद्रनाथ, चरपटनाथ, कबीर, कृष्णदास, पेयहारी बाबा, नानक और दूसरे सिख गुरुओं ने यहाँ आकर धर्म-प्रचार का कार्य किया। गुरु गोबिंदसिंह ने तो पांवटा साहिब में रहकर ग्यारह वर्ष बिताए और अपनी प्रमुख कृतियों की रचना की। कहा जाता है कि गुरु ने 'देही शिवा वर मोहे एही, शुभ करमण तों कबहिं न टरों' पंक्तियों वाले प्रसिद्ध शिव स्तोत्र को हिमाचली भूमि पर लिखा था। गुरु रामदास के आगमन की स्मृति को बनाए रखने के लिए सिरमौर की पछाद तहसील के चौकी गाँव में अभी तक झंडा मेला मनाया जाता है जिसका उद्देश्य गुरु के संदेश का प्रचार करना है।

वास्तव में 'खालसा' का जन्म ही हिमाचल प्रदेश में हुआ। गुरु गोबिंदसिंह ने कहलूर राज्य के आनंदपुर नामक स्थान पर सर्वप्रथम दयाराम, साहिबराम, मोहकमचंद, धर्मदास और हिम्मतराय को खालसा में दीक्षित किया था और तभी अपना नाम भी गोबिंदराय से बदलकर गोबिंदसिंह रखा था। बिलासपुर, नालागढ़ और ऊना का क्षेत्र खालसा की शैशव अवस्था की क्रीड़ास्थली रहा है।

बौद्ध धर्म—बौद्ध धर्म के साथ इस प्रदेश का संबंध आरंभ से ही रहा है। मंडी का रिवालसर भारतीय एवं तिब्बती बौद्धों के लिए उतना ही पवित्र तीर्थस्थान है, जितने बुद्ध गया, कुशीनगर, लुंबिनी और सारनाथ हैं। काँगड़ा, कुल्लू, मंडी और सिरमौर में बौद्ध संस्कृति और धर्म के अनेक अवशेष प्राप्य हैं।

परंपरा यह बतलाती है कि भगवान् बुद्ध अपने देशाटन और धर्म-प्रचार के सिलसिले में इस प्रदेश में आए थे। त्रिगर्त और कुलूत में उनके आने के ऐतिहासिक प्रमाण भी कुछ लेखकों ने उद्धृत किए हैं। चीनी यात्री युवान च्वांग ने अपनी कुलूत-

Digitised by
Tharah Kardu

यात्रा का उल्लेख करते हुए लिखा है कि सम्राट् अशोक ने कुल्लू घाटी के मध्य में भगवान् बुद्ध के उस क्षेत्र में आगमन की पुण्य स्मृति में एक स्तूप बनवाया था। वह स्तूप सातवीं शताब्दी ईसवी तक, जब युवान च्वांग यहाँ आया था, विद्यमान था। इसी प्रकार का एक स्तूप काँगड़ा में धर्मशाला से लगभग छह मील दूर चेतरू में अब भी देखा जा सकता है। स्थानीय लोग इसे 'भीमटीला' कहते हैं। इस 'टीले' का घेरा 830 फुट है और यह माँजी और गुरलू नालों के संगम पर टूटे-फूटे हाल में है। इसी स्थान पर, कुछ वर्ष हुए, बुद्ध की मूर्ति और एक खंडित सिर भी प्राप्त हुए थे। चाड़ी के स्थान पर वाराहमुखी मारीची वज्रवाराही की मूर्ति मिली है। यह मूर्ति छठी शताब्दी की मानी जाती है। उसी की समकालीन अष्टधातु की एक फुट लंबी बुद्ध-मूर्ति नूरपुर में फतहपुर के स्थान पर मिली है। निरमंड की परशुराम कोठी में मथुरा शैली की बनी अत्यंत सुंदर अष्टधातु की मूर्ति है, जो प्रायः परशुराम की मूर्ति के साथ उस गुफा में रखी रहती है, जो उनकी तपस्या-स्थली है। यदा-कदा भूँडा अनुष्ठान के अवसर पर लोक-दर्शन के लिए गुफा से बाहर लाई जाती है। इसी कोठी में विष्णु की छठी-सातवीं शताब्दी की मानवाकार पाषाण मूर्ति है।

महावंश में उल्लेख है कि सम्राट् अशोक ने आचार्य मजिम थेर को चार सहयोगियों सहित इस प्रदेश में धर्म-प्रचार के लिए भेजा था। आचार्य थेर के ये सहयोगी कस्सपगोत, दुंदुभिसार, सहदेव और मूलक देव थे। कहा जाता है कि उन्होंने काँगड़ा, कुल्लू, सिरमौर और शिवालिक क्षेत्र में धर्म-प्रचार किया था।

ईसा पूर्व दूसरी-तीसरी शताब्दी के कनिहारा अभिलेख में जिस आराम का उल्लेख है, वह संभवतः बौद्ध विहार ही रहा होगा। यह बात इससे भी प्रमाणित होती है कि सातवीं शताब्दी में जब युवान च्वांग काँगड़ा आया तो उस समय यहाँ 50 बौद्ध मठ थे, जिनमें 2,000 भिक्षु रहा करते थे। च्वांग के अनुसार कुल्लू में 20 के लगभग बौद्ध संघ विहार थे, जिनमें 1,000 भिक्षु रहा करते थे। सुलतानपुर कुल्लू से कुछ मील उत्तर की ओर कपिल मुनि के मंदिर में आज भी अबलोकितेश्वर की पाषाण-मूर्ति की पूजा की जाती है।

पूर्व की ओर प्राचीन सिरमौर की राजधानी सिरमौरीताल में अन्य भग्नावशेषों में एक जीर्ण-शीर्ण बौद्ध मंदिर भी हे। युवान च्वांग के वर्णन से मालूम होता है कि तब यह क्षेत्र स्रुघ्न नाम से जाना जाता था। थानेसर से यह क्षेत्र 66 मील उत्तर-पूर्व की ओर स्थित था। इसका क्षेत्रफल तब 1,000 वर्ग मील था और इसकी पूर्वी सीमा गंगा को छूती थी। यमुना नदी इस प्रदेश के मध्य भाग में बहती थी। यहाँ पाँच बड़े विहार थे, जिनमें 1,000 भिक्षु निवास करते थे। कनिंघम के विचार में स्रुघ्न प्रदेश सिरमौर और गढ़वाल की पहाड़ियों में गिरि और गंगा नदियों के बीच के भूभाग में

tharahkardu.in

स्थित था और राजधानी कालसी के निकट संभवतः सिरमौरी ताल में ही थी। यह धारणा वहाँ प्राप्त बौद्ध अवशेषों से भी पुष्ट होती है। च्वांग ने एक अनुश्रुति का उल्लेख किया है कि यहाँ महात्मा बुद्ध स्वयं पधारे थे और शास्त्रार्थ में एक विद्वान् ब्राह्मण को हराया था, जिसके फलस्वरूप यह सारा प्रदेश बौद्ध धर्मानुयायी हो गया था। ऐसा प्रतीत होता है कि बुद्ध के महापरिनिर्वाण के थोड़े दिनों के उपरांत ही यह पुनः ब्राह्मण धर्मावलंबी बन गया। किंतु शीघ्र ही एक बार फिर बौद्ध धर्म के मूर्धन्य आचार्यों ने यहाँ अपने मत की स्थापना की।

काँगड़ा, कुल्लू और सिरमौर के बौद्ध विहारों में महायान और हीनयान के प्रकांड विद्वान् रहा करते थे। काँगड़ा के विहारों में बौद्ध धर्म की इन दोनों शाखाओं के पठन-पाठन की सुविधा थी, किंतु कुल्लू के विहार मुख्यतः महायानियों के अधिकार में थे और सिरमौर के मठों में हीनयानियों का जोर था। युवान च्वांग ने त्रिगर्त जालंधर के नगर धन विहार में आचार्य चंद्रवर्मा के पास चार महीने विद्याध्ययन किया था। सिरमौरी ताल क्षेत्र में उसने आचार्य जयगुप्त के पास शरद् ऋतु से लेकर वसंत ऋतु तक के छह मास शास्त्रों के अध्ययन में बिताए थे। उस समय यहाँ हीनयानियों का प्रमुख केंद्र था, जहाँ उनके मत के कुशल व्याख्याकार आचार्य रहा करते थे। देश-विदेश से इन गुरुओं के पास विद्वान्, जिज्ञासु और भिक्षु अपनी शंकाओं का समाधान करने के लिए आया करते थे।

त्रिगर्त का उदिल नाम का एक राजा बौद्ध धर्म में दीक्षित हो, उसका प्रबल संरक्षक रह चुका था। आठवीं शताब्दी में जब कोरियाई यात्री ह्यीचो जालंधर त्रिगर्त आया, तब तक इस क्षेत्र में महायान और हीनयान, दोनों फल-फूल रहे थे और उनके अनुयायियों के अनेक विहार थे।

बौद्ध धर्म के कतिपय अन्वेषकों के मत में महान् बौद्ध तांत्रिक पद्मसंभव का जन्म रिवालसर में हुआ था और इस कारण रिवालसर का तिब्बती भाषा का अर्थ पद्मा है। इनका कहना है कि सन् 747 ईसवी में तिब्बत ने उन्हें आने का निमंत्रण दिया। तिब्बत में तब निग्-मा-पा पंथियों का प्राधान्य था। ये लोग जादू-टोनों में विश्वास रखते थे। आचार्य शांतरक्षित जब तिब्बत पहुँचे, तो दुर्भाग्यवश वहाँ आँधी, तूफान और महामारी जैसी प्राकृतिक व्याधियों का प्रकोप हो गया। निग्-मा-पाओं ने इस स्थिति से लाभ उठा यह प्रचार किया कि शांतरक्षित और उसके धर्म पर स्वयं देवता क्रुद्ध हैं और ये व्याधियाँ उनके प्रकोप का फल हैं। इन सबकी जिम्मेदारी शांतरक्षित पर है और जब तक वह तिब्बत में रहेगा, देश की हानि ही होगी। उन्होंने शांतरक्षित को तिब्बत से निष्कासित करने का जोरदार अभियान आरंभ कर दिया।

खरी-स्रोङ-लुद-ब्चन् और शांतरक्षित परस्पर विचार-विमर्श के उपरांत इस निष्कर्ष

Digitised by Tharah Kardu

पर पहुँचे कि जादू-टोनों में विश्वास रखने वाली प्रजा केवल तांत्रिक विद्या के चमत्कार से प्रभावित हो सकेगी, अतः यह उचित होगा कि भारत के किसी प्रमुख तांत्रिक को निमंत्रण दिया जाए। फलस्वरूप तंत्रयान के प्रबल समर्थक, उत्तरपथ के महान् तांत्रिक पद्मसंभव को निमंत्रित करने का निर्णय किया गया। कतिपय विद्वान् पद्मसंभव की जन्मभूमि पश्चिम में स्वात नदी की उपत्यका मानते हैं, किंतु तिब्बती बौद्धों तथा लाहुल-स्पिति और अन्य सीमांतक भारतीय बौद्धों की रिवालसर के प्रति श्रद्धा को देखकर यह अनुमान लगाया गया है कि आचार्य पद्मसंभव का जन्म संभवतः रिवालसर में ही हुआ हो।

जनश्रुति यह भी है कि महात्मा बुद्ध मंडी बिलासपुर में नबाही, मौंही, देहरी और कुलवाड़ी स्थानों में कुछ दिन ठहरे थे। माना यह जाता है कि यदि नबाही, मौंही, नगरोटा (बलद्वारा) और मतौली जैसे ग्रामों में खुदाई की जाए तो पर्याप्त मात्रा में बौद्ध संस्कृति के अवशेष एवं चिह्न प्राप्त हो सकते हैं। मौंही में पत्थर पर उभारी गई एक मूर्ति मिली है जिसमें एक पुरुष ध्यान-मुद्रा में स्थित रथ पर बैठा है। पास में एक दीपधारिणी यक्षणी भी मिली है। स्थानीय लोगों के अनुसार रथवाली मूर्ति रिवालसर के देवता की है, जिससे इस संभावना को बल मिलता है कि वह पद्मसंभव की हो। तिब्बती मान्यताओं में गुरु रिम्पोछे (पद्मसंभव) उड़ने वाले घोड़े पर बैठकर ध्यान किया करते थे। यह भी कहा जाता है कि पद्मसंभव के जो भी चित्र या मूर्तियाँ मिली हैं, उनमें उन्हें हिमाचली टोपी पहने दिखाया गया है। टोपी की बात तो खैर कोई स्पष्ट प्रमाण नहीं है, क्योंकि प्राचीनकाल में सभी महात्मा, पंडित और सिद्ध पुरुष वर्तमान हिमाचली टोपी की आकृति की टोपियाँ पहना करते थे।

उपर्युक्त विवेचन से हम देखते हैं कि ईसा पूर्व छठी शताब्दी से लेकर ईसा उपरांत आठवीं शताब्दी तक के तेरह-चौदह सौ वर्षों में बौद्ध धर्म संपूर्ण हिमाचल प्रदेश में फलता-फूलता रहा है। इस अवधि में अनेक शासक बौद्ध धर्मानुयायी बने, सैकड़ों मठ और विहार बने और सहस्रों भिक्षुओं ने यहाँ रहकर ज्ञानोपार्जन किया है। युवान च्वांग व ह्वी-चो की साक्षी से काँगड़ा, कुल्लू और सिरमौर में बौद्ध और ब्राह्मण-हिंदू धर्म साथ-साथ विकसित रहे हैं। कुल्लू में जो 20 बौद्ध विहार थे, उनके आसपास ही अन्य संप्रदायों और जातियों के 15 मंदिर भी थे। इनके अतिरिक्त बड़ी संख्या में गुफाएँ थीं, जिनमें ऋषि रहा करते थे। युवान च्वांग ने यह भी लिखा है कि स्रुघ्न में पाँच बौद्ध विहारों के अतिरिक्त एक सौ देव मंदिर भी थे।

यह सुखद आश्चर्य की बात है कि बौद्ध धर्म अपने जन्म से लेकर आज तक के अढ़ाई हजार वर्षों में किसी न किसी रूप में हिमाचल प्रदेश में जीवित रहता चला आया है। यहाँ इस तथ्य का अवश्य ध्यान रखना होगा कि संभवतः किसी काल में

tharahkardu.in

भी बौद्ध धर्म इस प्रदेश का केवल मात्र धर्म नहीं रहा है। बौद्ध धर्म के गढ़ लाहुल, स्पिति और किन्नौर में भी हिंदू और बौद्ध धर्म एक साथ विद्यमान रहे हैं। किन्नौर के मध्य भाग में कोठी गाँव तो अबौद्ध देवी-देवताओं और मंदिरों के लिए आज भी प्रसिद्ध है। उधर लाहुल में केलांग के निकट ताँदी गाँव पौराणिक संस्कृति के लिए प्रख्यात है। वहाँ के निवासियों का कथन है कि जब पांडव बंधु अपने जीवन के अंतिम दिनों में हिमालयारोहण पर थे, तब द्रौपदी ने इस गाँव में अपना शरीर त्यागा था। यह भी माना जाता है कि भगवान् राम के गुरु ऋषि वसिष्ठ की अन्त्येष्टि इसी स्थान पर की गई थी।

किन्नौर, स्पिति और लाहुल में गेलुकपा, डुग्पा, निग्मापा और सस्यापा संप्रदायों का प्रभाव है, परंतु किन्नौर में मठ अधिकांशतः गोलुकपा संप्रदाय के ही हैं। स्पिति ही एक ऐसा क्षेत्र है जहाँ भगवान् विष्णु के दस अवतारों में से केवल बुद्ध अवतार की ही पूजा-अर्चना होती है। ताबो के प्रख्यात विहार के आठ मंदिरों में से केंद्रीय मंदिर में वैरोचन और अमिताभ सहित वज्र धातु मंडल की मानवाकार मूर्तियाँ हैं, यद्यपि दीवार पर मुरली मनोहर का एक भीति चित्र भी है। स्पिति में भी बौद्ध धर्म स्थानीय परंपराओं से प्रभावित है, इस कारण देवता और दानव पर्वतों, चट्टानों और वृक्षों पर तथा गुफाओं में रहते हैं और इनकी तुष्टि भेड़-बकरियों के बलि प्रदान से की जाती है। 'की' का विहार बौद्धस्थलों में अपना विशिष्ट स्थान रखता है।

स्पिति का जीवन एक प्रकार से गोम्पा द्वारा नियंत्रित एवं संचालित है और संघ के साथ पूर्ण रूप से गुंफित है। जन्म और मृत्यु से उसका संबंध है। परिवार में मृत्यु पर गोम्पा को पैसे, वस्त्र, बर्तन और भोजन सामग्री दी जाती है। जब फसल पककर तैयार होती है तो सर्वप्रथम भिक्षु को दान दिया जाता है। ऐसा मालूम पड़ता है कि यदि किसी कारण यहाँ के जीवन का गोम्पा के साथ निकट संबंध टूट जाए, तो सारी सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था ही छिन्न-भिन्न हो जाए। यदि मठ न रहें, तो ज्येष्ठतम पुत्र को छोड़ अन्य पुत्र कहाँ जाएँ ? सबसे बड़े बेटे को तो बाप की जायदाद मिल जाती है, किंतु अन्य बेटों का तो मठ को छोड़ दूसरा आलंबन ही नहीं है। यदि उन्हें भी पैतृक संपत्ति का भागीदार मान लिया जाए, तो बँटवारे के कारण समूची अर्थव्यवस्था खंडित हो जाएगी। हाँ, अब समय के साथ रोजगार के अन्य साधन उपलब्ध हो जाने से यह स्थिति बदल गई है।

यह कहा जा सकता है कि 'ओं मणि पद्मे हुम' यहाँ के जीवन का मूल मंत्र है, इसी के द्वारा यहाँ का जीवन चलता है। यह मंत्र भौतिक दुःखों से मुक्ति देता है, पापग्रहों का शमन करता है और राक्षसों से रक्षा करता है। यही नहीं, निर्वाण-प्राप्ति में यह सहायता देता है और परलोक में जाकर भी काम आता है। स्पष्टतया यही

Digitised by
Tharah Kardu

कारण है कि लाहुल-स्पिति में दीवारों, भीतियों और चोर्टनों पर 'ओं मणि पद्मे हुम' लिखा हुआ मिलेगा।

नाथ और सिद्ध—सातवीं-आठवीं शताब्दियों में देश के अन्य भागों की भाँति हिमाचल प्रदेश में बौद्ध धर्म पर तांत्रिक प्रभाव बढ़ता चला गया और कालांतर में उसका वज्रयानी स्वरूप नाथों, कापालिकों, तांत्रिकों और वाममार्गियों की संपत्ति बन गया। नवीं-दसवीं शताब्दियों में हिमाचल की तराई का पूर्व से लेकर पश्चिम तक समस्त भूभाग तांत्रिक मत का क्रीड़ास्थल रहा है।

नाथों और सिद्धों ने देश के धार्मिक जीवन में सुधार लाने का भीष्म प्रयत्न किया था। नाथों के सुप्रसिद्ध गुरु गोरखनाथ ने अपने अनुयायियों, कापालिकों और वज्रयानियों की अनैतिकता और अनाचार के विरुद्ध आवाज उठाई और उन्हें योग द्वारा आत्मसंयम की ओर प्रेरित किया था। ग्यारहवीं और बारहवीं शताब्दियों में नाथ संप्रदाय जनता में बड़ा प्रिय था। पूर्व में असम और बंगाल से लेकर पश्चिम में पंजाब, उत्तर में नेपाल और दक्षिण में गुजरात और महाराष्ट्र तक उनका प्रभाव था। इस संप्रदाय के साधु एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाते, चमत्कार दिखाते और अपने मत का प्रचार किया करते थे। आरंभ में नाथ नौ थे और बौद्धों के 84 सिद्धों में उनकी गिनती की जाती थी। नाथ सर्वत्र योगी या जोगी भी कहलाते रहे हैं।

हिमाचल प्रदेश में नाथों का बहुत गहरा प्रभाव रहा है। चंबा नगर के संस्थापक राजा साहिल वर्मा का गुरु चरपत्ति नाथ था। कुल्लू में कृष्णदास पयहारी को वैष्णव धर्म की प्रतिष्ठा स्थापित करने के लिए नाथों और सिद्धों से कठोर संघर्ष करना पड़ा था। कुल्लू चिरकाल तक नाथों और सिद्धों का अड्डा रहा है। यह इस कारण संभव हुआ कि यहाँ पहले से ही नग्गर के स्थान पर महायानी बौद्धों का जोर था। महायान समय पाकर वज्रयान में परिवर्तित हो गया जो स्वयं इन नाथों और सिद्धों के लिए अंतर्भुक्त करने में सुगम रहा। परंपरा यह मानती है कि सुलतानपुर का अखाड़ा बाजार मूलतः नाथ वैरागियों ने ही बनाया-बसाया था। मंडी में 'डूग्घे नाड़े रा सिद्ध', हमीरपुर में 'बाबादयोट सिद्ध', जोगिंदर नगर में बाबा बालकनाथ का स्थान, सुजानपुर के निकट बालकनाथ का मंदिर और काँगड़ा में बालकनाथ का टीला, इन नाथों के केंद्र रहे हैं। इनके अतिरिक्त प्रदेश के अनेक अन्य स्थानों पर सिद्धों और नाथों की मढ़ियाँ, उनके मंदिर और राजा भरथरी तथा गोपीचंद एवं रानी पिंगला और बिरमा के अत्यंत लोकप्रिय आख्यान, विशु, विर्शू, करयाला आदि लोकनाट्यों में नाथों और सिद्धों के चमत्कारों का उल्लेख इनके व्यापक प्रभाव के प्रमाण हैं। नाथ जोगी आज भी पौष मास के द्वितीय पखवाड़े में प्रदेश के कतिपय भागों में रात्रि के प्रथम प्रहर में द्वार-द्वार पर जाकर राजा गोपीचंद और भर्तृहरि के विरुद गाते मिलेंगे।

tharahkardu.in

वैष्णव धर्म—इस भूखंड में वैष्णव धर्म का प्रवेश गुप्तकाल में ही हुआ परिलक्षित होता है। भ्रमौर में छठी शताब्दी में नरसिंह के मंदिर की स्थापना हो चुकी थी। वहाँ के तत्कालीन राजा का नाम विष्णु वर्मा था। आठवीं शताब्दी में जब 'कीरों' ने भ्रमौर के प्राचीन राज्य को पराजित किया तो वहाँ का शासक वैष्णव आधार लिए लक्ष्मी वर्मन नाम का था। निरमंड में छठी-सातवीं शताब्दी में विष्णु का विशाल मंदिर था, जिसमें तीन मानवाकार भव्य, पंच महातत्त्व दर्शाती मूर्तियाँ स्थापित थीं। अब इनमें से दो मूर्तियाँ शिमला म्यूजियम में हैं और तीसरी निरमंड में ही परशुराम कोठी में रखी पड़ी है। सूर्य और कार्तिकेय की पूजा छठी और आठवीं शताब्दियों के बीच में प्रचलित हो गई थी। दसवीं शताब्दी में सूर्य-पूजा सूर्यनारायण या लक्ष्मीनारायण की पूजा में परिवर्तित हो गई थी। विशुद्ध वैष्णव मत के प्रसार में कश्मीर के ललितादित्य ने भी बहुत काम किया। त्रिगर्त पर जब उसका अधिकार हुआ तो देश के मैदानी भागों से लाकर विद्वान् और सामान्य लोग उसने इस पर्वतीय प्रदेश में बसाए। तब तक अन्यत्र वैष्णव धर्म समृद्धि उपलब्ध कर चुका था, फलतः नवागंतुक मुख्यतः इसी धर्म का पालन करने वाले थे।

विष्णु का कृष्णस्वरूप बारहवीं शताब्दी में लोकप्रिय हुआ और स्वयं कृष्ण का गोपाल वंशीधर रूप 16वीं शताब्दी में उभरकर सामने आया। लोक तक वह केवल 18वीं शताब्दी में ही पहुँच पाया, यद्यपि काँगड़ा के चितेरे राधिकावल्लभ-नंदगोपाल, मुरलीधर कृष्ण का चित्रण कुछ समय पूर्व से करने लग पड़े थे।

वैष्णव मत की रामभक्ति शाखा के अंतर्गत रघुनाथ अथवा रघुवीर की पूजा का प्रचलन मुख्यतः 17वीं शताब्दी में हुआ, यों 7वीं शताब्दी से 16वीं शताब्दी के बीच नए राज्यों की स्थापना के साथ यह मत यहाँ प्रविष्ट हो चुका था।

वैष्णव धर्म के संबंध में एक विचित्र-सी स्थिति सामने आती है। ऐतिहासिक दृष्टि से देखा जाए तो जब पंद्रहवीं-सोलहवीं शताब्दी में देश के अन्य भागों में राम और कृष्ण-भक्ति की लहर पूरे जोरों पर थी, हिमाचल प्रदेश में भी अधिकतर राजवंश वैष्णव मतावलंबी हो गए थे। यदि पूर्ण रूप से नहीं, तो कम से कम उनका अपना आराध्य देवता मुख्यतः विष्णु था, यही कारण है कि अनेक राजाओं ने विशाल वैष्णव मंदिर तथा मसरूर के विख्यात पाषाण परिसर का निर्माण किया, किंतु ठाकुर संरक्षित और प्रोत्साहित होने पर भी साधारण जनता में वैष्णव भक्ति अपने पाँव नहीं जमा सकी और विष्णु एक ओर यदि राजा का पूज्य देव बना रहा तो दूसरी ओर उसके पूजक समाज के केवल दलित वर्ग में ही मिल पाए। प्रजा के बहुत बड़े भाग ने उसे स्वीकार नहीं किया। कुल्लू के राज-परिवार ने सत्रहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में वैष्णव धर्म अपनाया, राज्य रघुनाथ के चरणों में समर्पित किया और राजा स्वयं उसका

Digitised by
Tharah Kardu

'छड़ी-बरदार' बना। 'छड़ी-बरदार' ने अपने 'स्वामी' रघुनाथ के प्रभुत्व को स्थापित करने का हरसंभव उपाय किया। उसने नियम बनाया कि राज्य का प्रत्येक देवता रघुनाथ की अधीनता स्वीकार कर दुशैहरे के अवसर पर उसका अभिवादन करे। गिनती के लिए 360 से ऊपर देवी-देवता राजा का आदेश पालन करते, किंतु इतनी बड़ी संख्या में एक भी शास्त्रीय देवता नहीं था। स्थानीय देवताओं में से भी जमलू और हिडिंबा ने रघुनाथ के प्रभुत्व को स्वीकार करने से साफ इनकार कर दिया। वे किसी भी मूल्य पर किसी के द्वारा अपनी सार्वभौमिकता पर प्रहार सहन नहीं कर सकते थे।

अब स्थिति यह है कि किन्नौर, शिमला, कुल्लू और मंडी में विष्णु और नारायण मुख्यतः हरिजनों के देवता बनकर रह गए हैं, यों नाम उनका 'बड़ा देऊ' है।

जान पड़ता है कि वैष्णव धर्म का सात्त्विक रूप हिमाचली मानव को अधिक आकृष्ट नहीं कर सका है, कारण संभवतः यहाँ की भौगोलिक परिस्थिति रही हो। यहाँ कठोर प्रकृति से प्रतिदिन का वास्ता है, संघर्ष का नाम ही जीवन है, ऐसी स्थिति में पुचकार तो आवश्यक है, थोड़ा-बहुत डराव भी अनिवार्य-सा लगता है। हिमाचली मानव को शायद महसूस हुआ हो कि सात्त्विकता को सर्वस्व मानकर कहीं वह निष्प्राण न बन जाए। दूसरे आदिकाल से यह क्षेत्र युद्धप्रिय लोगों का रहा है, नागों से लेकर आज के डोगरों तक सैनिक वृत्ति में उनकी रुचि रही है। तीसरे, मांस यहाँ के भोजन का विशिष्ट अंग रहा है और वैष्णव मत में मांस-भक्षण पर प्रतिबंध इन लोगों के जीवन और परंपरा के प्रतिकूल पड़ा होगा।

शैव धर्म—शैव और शाक्त धर्म प्रागैतिहासिक काल से इस प्रदेश के लोक-धर्म रहे हैं, और जनपदीय शासन के दिनों उन्होंने अधिक शक्ति ग्रहण की। शक और कुषाण तो शैव थे, कश्मीर का हूण राजा मिहिरकुल और थानेसर के सम्राट् हर्षवर्धन के पूर्वज भी शैव थे। स्पिति का सेन वंश, कुल्लू भ्रमौर के वर्मन शासक, औदुंबर, त्रिगर्त और कुलिंदों के राजागण सभी शैव थे। उनके सिक्के उनकी शिव-भक्ति के ज्वलंत उदाहरण हैं।

हम देख चुके हैं कि किसी देश की भौगोलिक स्थिति वहाँ के इतिहास और संस्कृति को विशेष दिशा देती है। धर्म के अध्ययन से यह बात और भी पुष्ट हो जाती है। अरब देश ने यदि असहिष्णु और अपरिवर्तनशील एकेश्वरवाद को जन्म दिया, इसका मुख्य कारण वहाँ की एकरंगी प्रकृति है, जहाँ सिवाय क्षितिज तक फैले रेगिस्तानी टीलों, इक्का-दुक्का नग्न चट्टानों और नीले पिघलते-से आकाश में से बरसती आग के कुछ नहीं है। इस स्थिति में मानव का अनायास एक ऐसी सर्वशक्ति-शालिनी सत्ता की उपस्थिति का आभास होता है जो सशक्त, क्रूर और कठोर हो, जो

tharahkardu.in

चाहती है कि उसके सामने सभी शीष झुकाएँ। दूसरी ओर भारत में जन्म लेने वाले धर्मों ने सर्वशक्तिशालिनी सत्ता को स्वीकार किया, किंतु उसमें असहिष्णुता और हिंसा के गुणों को नहीं देखा। उन्होंने सहिष्णुता, विश्वबंधुत्व और अहिंसा पर बल दिया। इस प्रकार की विचारधारा और कल्पना का सीधा संबंध यहाँ की प्रकृति से है, जो अनेकानेक रंग-रूप और स्वरों में मुखरित होती है। यहाँ की शस्य श्यामला भूमि, पुष्प और फलाच्छादित वृक्ष, मादक उषा तथा मनोहर संध्या ने मानव-मन पर एक इंद्रजाल-सा फेंका, किंतु साथ में उसे एक अनूठी सजीवता भी दी, जिससे वह अपनी वस्तु तो श्रेष्ठ मानता ही है, दूसरों की वस्तु को भी बुरा नहीं कहता हैं। वह अपने मत की पुष्टि करता है, उस पर विश्वास रखता है, किंतु दूसरे के मत और विश्वास का खंडन भी नहीं करता है। वह सहअस्तित्व के आदर्श का पालन कर उससे समझौता कर लेता है और उसे सनातनता प्रदान करता है।

पर्वतीय क्षेत्र में प्रकृति सभी रूपों में प्रकट होती है। उसका सुंदर लुभावना रूप भी और विकृत विकराल स्वरूप भी देखने को मिलता है। वस्तुतः यहाँ की प्रकृति विरोधी गुणों का सम्मिश्रण है, क्षण-क्षण में सुंदरता और भयानकता उसकी विशिष्टता है। मन के लिए वह अनुपम सौंदर्य का कोष है, परंतु शरीर के लिए क्रूर, कठोर, कुचल देने वाला तत्त्व बन जाती है। हिमाच्छादित शिखरों का सौंदर्य, हरी-भरी उपत्यकाएँ और चरागाहें, रंग-बिरंगे पुष्प, गहन जंगल, गहराई में गिरती फेनिल सरिताएँ, कलकल करते झरने और चहचहाते पक्षी यहाँ के मानव को प्रकृति के वैभव और मादकता का भागीदार बना देते हैं। दूसरी ओर कठोर जीवन, जीवन पर लदी कठोरता का भार, सीधी, तीखी रीढ़-सी पर्वत की चढ़ाई और वैसा ही सीधा-तीखा जीवन, हिंसक पशुओं की भरमार और प्रकृति की प्रचंडता और उसके क्रूर प्रभावों से संघर्ष, मानव का परिहास-सा करते दीख पड़ते हैं। इन विपरीत तत्त्वों को देख यहाँ का मानव प्रकृति के भयावह रूप से प्रभावित हो जाए, सहम जाए, तो आश्चर्य क्या ?

प्रकृति के कोमल रूप ने पहाड़ी मानव के मन को झंकृत किया और कठोरता ने उसमें पग-पग पर डर और निराश्रय के भाव को जन्म दिया। एक स्वरूप उसके कंठ की निर्झरिणी के बाँध को तोड़कर एक सरस, मधुर आह्लादकारिणी धारा से जनमन को आप्लावित करने में समर्थ हुआ, उसके अंग-प्रत्यंग को थिरकाने का कारण बना, तो दूसरे स्वरूप ने उसे भीरु बनाकर उसके मस्तिष्क को सदा सुरक्षा का माध्यम ढूँढ़ने पर बाध्य किया। उसकी अपरिष्कृत बुद्धि, उसकी अविकसित कल्पना आरंभ में किसी स्वतंत्र अस्तित्व वाले तत्त्व का सृजन न कर पाई; फलतः उसने प्रकृति के दृष्टिगोचर उपकरणों में ही इस माध्यम को ढूँढ़ने का प्रयत्न किया।

Digitised by
Tharah Kardu

इस प्रकार पर्वतीय मानव के मन में आनंद और डर के भाव ने साथ-साथ जन्म लिया। यह स्थिति स्वाभाविक ही थी। आनंद के भाव ने कालोपरांत किसी ऋषि के मुख से यह कहलवाया कि 'आनंदाद्धयेव खलू भूतानि जायंते' अर्थात् आनंद से ही भूतमात्र उत्पन्न होते हैं। जेमस जी० फ्रेजर, वेस्टर मार्क और एस० रैनेक जैसे प्रकृति के पाश्चात्य अन्वेषकों ने उल्लास को मानवीय अभिव्यक्ति का मूल कारण माना है। वे आदिम जातियों की रीति-नीति का निपुण अध्ययन करने पर इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं। उन्होंने महसूस किया कि अतिशय भावावेग की अभिव्यक्ति का प्रथम मानवीय प्रयत्न नृत्य के माध्यम से हुआ है। संगीत और भाषा के साथ नृत्य मानवीय अभिव्यक्ति का सर्वपुरातन प्रयत्न है। यह मजे की बात है कि जहाँ अन्यान्य कलाएँ क्रमशः विकसित होती गई हैं, वहाँ नृत्य अपनी आदिम अवस्था में ही चरम उत्कर्ष पर पहुँच गया मालूम पड़ता है। डॉ० कर्ब शेख्स ने 'वर्ल्ड हिस्ट्री ऑफ डांस' में कहा है कि "यह बात कुछ विचित्र-सी लगेगी कि प्रस्तर युग के बाद नृत्य-कला ने बहुत ही कम ग्रहण किया है। रचनात्मक नृत्य का इतिहास प्रागैतिहासिक काल में शुरू होता है।" एक अन्य विद्वान् सुसाली के० लैंगर ने 'फीलिंग एण्ड फार्म' नामक पुस्तक में कहा है कि "नृत्य वन्य जीवन का सर्वाधिक गंभीर बौद्धिक व्यापार है। देश और काल से परे किसी अज्ञात लोक के सम्मुखीन होने का प्रयास है। नृत्य एक ऐसी मानस धारणा है, जो व्यक्ति जनातीत है और जीवन और मृत्यु से व्यवहित होकर भी शेष प्रकृति से परिवेष्टित और पोषित है। इस दृष्टि से देखा जाए तो नृत्य का प्रागैतिहासिक मूल बिलकुल आश्चर्य की बात नहीं है। यह धार्मिक चिंतन की वह प्रक्रिया है जो संसार में अति मानव शक्तियों की धारणा उत्पन्न करती है। वस्तुतः नृत्य उन्हीं धारणाओं को संमूर्तित करने का प्रयास है। ये शक्तियाँ नृत्य द्वारा उत्पन्न नहीं की जातीं या उत्पन्न होती हुई अनुभूत नहीं होतीं, बल्कि नृत्य-क्रिया द्वारा उद्‌बोधित, समाहृत, प्रतिस्पर्द्धित या प्ररोचित हुआ करती हैं। आदिमानव की अतिमानवीय कल्पना के सामने ये यथार्थ हैं, प्रतीक नहीं हैं।"

सभी आदिम जातियों में मंडलावर्त नृत्य पाया जाता है। नाटी सरीखे मंडलावर्त नृत्य के केंद्र में कोई न कोई अति मानवीय शक्ति विद्यमान होती है। हिमाचल प्रदेश में यह शक्ति देवी-देवता अथवा उनके गुरु या चेलों में रहती है। यह अविसंवादित तथ्य है कि इस प्रकार के नृत्य का मूल प्रेरक मनोभाव उल्लास है। विविध प्रकार की चारियों से वलयित, ताल द्वारा नियंत्रित, धारावाहिक मंडलावर्त नृत्य जीवन के किसी अज्ञात रहस्य-केंद्र से उल्लसित होता है। विवाह, फसल का आना, वर्षा, वसंत आदि अवसरों पर मनुष्य की अंतर्निहित चेतन-सत्ता ने अपना उल्लास प्रकट करने के लिए इस माध्यम का सहारा लिया होगा। यही कारण है कि हिमाचली मानव का मनप्राण

tharahkardu.in

नृत्य में है। उसका समस्त सामाजिक, धार्मिक और सांस्कृतिक जीवन नृत्य पर केंद्रित है। यही नहीं, स्वयं उसके देवी-देवता, यहाँ तक कि विष्णु और गणेश भी नाचने में रुचि रखते हैं।

उधर पहाड़ी मनुष्य डर को कैसे भूल जाए, आसपास की भूमि से कैसे विमुख रहे। वह उड़ान में ही खोया रहता, नृत्य में ही भूला रहता, यदि वास्तविकता उसे कदम-कदम पर भूमि पर ही ठहरे रहने को बाध्य न करती। क्षितिज की समीपता, ऊँची-ऊँची चोटियों से आवेष्टित उपत्यकाएँ, गहन वन, उन वनों के शेर, बाघ, भालू, चीते जैसे हिंसक जंतु, बड़ी-बड़ी चट्टानें, ढंकार, शैल, गहरे खड्ड, द्रुतगामिनी हिमानी जल की तीखी चीरती-सी धाराएँ, सबने मिलकर उसे अपने स्थान से ही चिपके रहने को मजबूर किया है।

पहाड़ का जीवन ही बड़े जोखिम का है, जरा-सी चूक हुई कि हजारों फुट नीचे फिसल पड़े, गहरे खड्ड में जा गिरे या किसी वेगवती नदी की लपेट में आ गए। सामान्यतः छह-आठ महीने ही खुलकर घर से बाहर-भीतर आ पाते हैं। कटु पवन के थपेड़ों, बर्फीली झंझावात और फुटों बर्फ से दो-चार होना पड़ता है। पर्वतवासियों का यदा-कदा प्रकृति के विभिन्न तत्त्वों, पदार्थों, वृक्षों, पत्थरों, चट्टानों आदि में भयावने, क्रूर एवं हानिकारक गुणों का आभास हुआ होगा, जिससे वे डर गए। उन्हें अपने चारों ओर भय और खतरा ही नजर आने लगा होगा। अपने बचाव के लिए उन्होंने इन क्रूर प्रतीकों, आत्माओं और पदार्थों को तुष्ट करने का संकल्प किया, उनकी मनौती मनानी शुरू की। किसी सीमा तक अभय हो, उन्होंने महसूस किया कि कष्टों का, डर का अंत नहीं हो पाया। अपनी ही परछाईं का डर और आकस्मिक आधि-व्याधि उनके पीछे लगे ही रहे। वे सोचते गए और इस नतीजे पर पहुँचे कि इस प्रकार के कोई और भी क्रूर तत्त्व होंगे जो अदृश्य हैं। परिणामतः उसने राक्षसों, दैत्यों और दानवों की कल्पना की। इसी भाव से प्रेतात्मा का सृजन किया। अपने से अधिक शक्तिशाली किंतु अत्याचारी जीव जिसे वह जीते जी कोई क्षति नहीं पहुँचा सका, मृत्यु के उपरांत भी भय का कारण बना रहा। समय बीतने पर मृत राजाओं और नेताओं की भी एक श्रेणी बन गई। अतः वृक्ष, चट्टान, राक्षस और प्रकृति-पूजन तथा दैत्य-पूजा, सभी उसी डर के भाव के प्रतीक बन गए।

प्रकृति ने पहाड़ी मानव को डराया, फलतः वह उसके प्रत्येक तत्त्व से डरने लगा, बिजली, जोर की वर्षा, बादलों की गड़गड़ाहट, क्षिप्रगामिनी नदी उसे भयाक्रांत करने लगे। सुरक्षा प्राप्त करने के लिए उसने उन्हें ही देवता बना डाला। पर्वत-शिखर को उसने देवी काली कहा और तेज पवन को लांकड़ावीर। देवदार के प्रत्येक बड़े तने में उसे एक देवता बसा हुआ दिखा। उसने गुफा गह्वर में पड़ी कंकरियों में देवी-देऊ की

Digitised by
Tharah Kardu

आत्मा को आरोपित किया। वह पर्वत शिखर पर अकेले चढ़ते हुए डरता है, गुफा में प्रविष्ट होने से झिझकता है, देवदार के निकट जाना नहीं चाहता, परंतु करता वही है जो करना नहीं चाहता। वह पर्वत पर अकेले चढ़ता है, चढ़ता ही नहीं कई बार अपनी भेड़-बकरियों सहित वह पर्वत-शिखर को अपना घर ही बना डालता है। गुफा में प्रवेश ही नहीं करता, उसे रैनबसेरा बना लेता है। देवदार को काटता है, चीरता है। डोगरों की विश्वमान्य वीरता संभवतः डर को जीतने के इसी भाव की ज्वलंत अभिव्यक्ति है।

इस प्रकार उसके जीवन में डर और निडरता का सदा चलने वाला संघर्ष है, जिसने दैव और किसी पारलौकिक शक्ति में उसका विश्वास जागृत किया। हम कह सकते हैं कि उसके धार्मिक विश्वास प्राकृतिक और भौतिक बाधाओं, उनके रहस्यों और अदृश्य शक्तियों के अज्ञानग्रस्त कौतूहल से संबंधित हैं, इसलिए उनमें पारलौकिक तत्त्व महत्त्वपूर्ण हो उठा है। उसने वनस्पतियों और जीवों में पारलौकिक शक्ति के दर्शन ही नहीं किए, वरन् उसने जड़ और चेतन को अपनी अंतर्जगत की भावना से भिन्न एक व्यक्तित्व भी प्रदान किया है।

इस व्यक्तित्व में अनिष्ट कारण और मांगलिक गुणों का भी उसने आरोपण किया तथा जो देवी-देऊ केवल दंड देते, कठोरता बरतते, अनिष्ट करते वे अब अवसर पड़ने पर सहायता भी करने लगे, उनमें करुणा का भाव जागा और वे कल्याणकारी भी बन गए। इससे पूर्व पूजा के पात्र यदि प्रत्येक अपराध या भूल-चूक को अक्षम्य और दंडनीय समझते थे, यह नया व्यक्तित्व क्षमा करना भी जानता था। इस प्रकार की भावना के उपयुक्त सिद्ध हुआ शिव या महादेव, जिसका प्रभाव इस प्रदेश के जन-जीवन पर अत्यंत व्यापक है। शिव को परमदेव के रूप में स्थापित करने में यहाँ के भूगोल ने तो सहायता की, उससे भी अधिक प्रेरणा यहाँ के मूल निवासियों की जातीय परंपरा से प्राप्त हुई है। शिव नागों का आराध्य देव था और वे पिंडी के रूप में उसकी पूजा करते थे। खश रुद-पुत्र थे। वैसे भी आदि ऐतिहासिक काल में विश्व की सभी जातियाँ शिव-शंकर की पूजा करती मालूम पड़ती हैं। एक विद्वान् के अनुसार संयुक्त अरब गणराज्य के दक्षिण में इथियोपिया के चंद्रशैल से निकली नील नदी के वह अधिष्ठाता माने जाते थे। इनकी मूर्ति के सम्मुख एक वृषभ की मूर्ति भी बनाई जाती थी। दक्षिणी अमेरिका के पेरू देश में ईश्वर को 'सिबु' नाम से पुकारा जाता था, वहाँ भी प्राचीन स्थलों की खुदाई में शिवलिंग जैसी मूर्तियाँ मिली हैं। अरब क्षेत्र में इस्लाम के जन्म से पूर्व जिस देवता की पूजा होती थी, उसे 'लाट' या 'लात' कहा जाता था, जो शिवलिंग पिंडी का ही रूप है।

पहाड़ी मानव को शिव का रौद्र रूप कतई पसंद नहीं आया। पहले के

tharahkardu.in

देवी-देवताओं, आत्माओं की रौद्रता से त्राण पाने के लिए ही तो वह महादेव की शरण आया था। शिव के साथ शक्ति देवी की पूजा अनिवार्य हो गई। जिस डर के भाव ने शिव को देवाधिदेव बनाया, उसी ने देवी अथवा काली को भी समुचित आदर दिया, बल्कि देवी में मातृत्व का आरोप होने के कारण वह किन्हीं अवस्थाओं में अधिक लोकप्रिय सिद्ध हुई, क्योंकि पिता की अपेक्षा माता अपने बच्चों की सुख-सुविधाओं और सुरक्षा के लिए अधिक तत्पर, व्यग्र और चिंतित रहती है। लगता है, पिता महादेऊ की अपेक्षा माता देवी, भगवती, अंबिका अथवा दुर्गा जन-मन को अधिक आकर्षित कर पाई।

इसी संदर्भ में कतिपय ऐसे राजा या नेता भी हुए, जिन्होंने जीवन-काल में जन-कल्याण के लिए महत्त्वपूर्ण कार्य किया। उनके कार्यों से जनमानस इतना प्रभावित हुआ कि उनकी मृत्यु के उपरांत उनके गुणों से लाभान्वित होते रहने के उद्देश्य से उन्हें देवता मान लिया गया। डूम, श्रीगुल और महासू कतिपय इस प्रकार के उदाहरण हैं।

मानव का दैवीकरण—मानव का दैवीकरण सर्वाधिक नागों का हुआ है। ऋग्वैदिक ऋषियों ने खशों को मरुत बनाया और सर्वसाधारण ने नागों में देवत्व आरोपित किया। नागराजा और नेता राजनीतिक तौर पर भले ही विरोधियों से पराजित हो चुके थे, किंतु जनता में अपने सजातीय बंधुओं के प्रति अगाध श्रद्धा और आस्था थी, जिसका परिणाम यह हुआ कि नाग मुखियों को देवताओं की पंक्ति में बैठा दिया गया। उनमें भी सद् और असद्, करुण और क्रूर गुणों का आरोप हुआ। विशेष बात यह हुई कि अपने आराध्य शिव के प्रतीक पिंडी में वे स्वयं समा गए और कालांतर में आराध्य और आराधक का अभूतपूर्व एकीकरण हो गया।

नागों का प्रतीक सर्वत्र पिंडियाँ हैं। नागों में एक ओर शिवत्व, दूसरी ओर वरुणत्व और तीसरी ओर देऊत्व के गुण आ गए। अपने शिव रूप में नाग कल्याणकारी देवता है। अपने पूजकों के लंबे जीवन और सुख-समृद्धि के लिए वह सदा तत्पर है। उन पर आने वाली आधि-व्याधि से जूझता रहता है। वरुणरूप में भी मुख्यतः उसके सद्गुण ही सामने आते हैं। वह जल का देवता, वर्षा का स्वामी बन जाता है, और जब भी अनावृष्टि या अतिवृष्टि हो, उसकी शरण जाकर परित्राण मिल सकता है। इस रूप में नागदेवता में कुछ-कुछ असद् तत्त्व भी सामने आ जाते हैं। यदि उसकी आज्ञा का ठीक ढंग से पालन न किया जाए, तो वह रुष्ट भी हो जाता है और वर्षा रोककर कृषकों की खेती नष्ट कर सकता है, या अधिक वर्षा बरसाकर खेत के खेत बहा देता है। अपने देऊ स्वरूप में वह अन्य ग्राम देवता का स्थान ले लेता है और उसका क्रियाकलाप किसी प्रकार भी उससे भिन्न नहीं होता है।

Digitised by
Tharah Kardu

धर्म का जो स्वरूप आज हमें हिमाचल में देखने को मिलता है, वह प्रकृति-पूजा, मृतक-पूजा, दैत्य-पूजा, पशु-भक्ति, जादू-टोना तथा शास्त्रीय धर्म की खिचड़ी है, जिसके पकाने में भूगोल, इतिहास, जाति, समाज और अर्थव्यवस्था तथा पास-पड़ोस ने बड़ा योगदान दिया है। प्रत्येक घर और प्रत्येक गाँव का कोई न कोई देवता है जो उपर्युक्त किसी न किसी श्रेणी का है। सामान्यतः हम देवताओं के तीन वर्ग मान सकते हैं—कुल देवता या कुलजा, ग्राम देवता तथा जातीय देवता। अनेक परिवारों में कुल देवता प्रायः कोई पितर होता है। ग्राम देवता आम तौर पर कोई नाग या अन्य स्थानीय देवी या देऊ होता है। जातीय देवता के रूप में कोई शास्त्रीय देवता पद ग्रहण करता है।

सूक्ष्म दृष्टि से देखें तो धर्म के क्षेत्र में दो धाराएँ अबाध गति से बहती हुई दीख पड़ेंगी। एक ओर जनता का थोड़ा-सा भाग तुलनात्मक रूप से शास्त्रीय स्वरूप के प्रति निष्ठावान है, तो दूसरी ओर जनता के एक बहुत बड़े भाग की आस्था स्थानीय देवी-देवताओं, नागों और श्रीगुल, डूम और शिमला में है। किंतु दोनों वर्ग किसी भी विशुद्ध अनामिश्रित धर्म के स्वरूप का पालन नहीं करते हैं। शास्त्रीय धर्म को मानने वाले भी देऊ, सिद्धों और नागों को मानते हैं, अवसर पड़ने पर उनकी पूजा करते हैं, उनकी मनौती मनाते हैं। उधर नाग और देवी-देऊ के भक्त, जब भी सुविधा हो, शास्त्रीय देवी-देवताओं की पूजा-आराधना कर लेते हैं। इस क्षेत्र में अतिवाद पर विश्वास रखने वालों की संख्या अधिक नहीं है। समग्र रूप से संप्रति न तो विशुद्ध शास्त्रीय धारा है और न ही लौकिक।

हिमाचली शिव—हाँ, यह निर्विवाद तथ्य है कि मूल रूप में हिमाचली धर्म शिव और नागों के चहुँ ओर घूमता है, अतः हम उसे शैव-अंतर्भुक्त हुए देखते हैं। किंतु हिमाचली शैवमत में देश के अन्य भागों में प्रचलित शैवमत जैसी आध्यात्मिक परिकल्पना नहीं है। उसका आध्यात्मिक पक्ष न तो कर्नाटक के वीर शिव जैसा है और न ही तमिलनाडु में प्रचलित शैव सिद्धांत, शिवाद्वैत अथवा ईश्वर अविकारवाद के समान। उसका संबंध कश्मीर के स्वातंत्र्यवाद, आभासवाद आदि से भी विशेष नहीं। शिवपुराण और शिवसिद्धांत दीपिका में वर्णित शैवमत, जिसके अनुसार पति, पशु और पाश सृष्टि के तीन बीज तत्त्व हैं, हिमाचली कल्पना से बाहर है। शैवमत की शास्त्रीय व्याख्या में शिव को वेदांत का ब्रह्म माना गया है, किंतु हिमाचली शिव महादेव तो है, ब्रह्म नहीं। उसका कार्य कुछ-कुछ ब्रह्मा जैसा है, जो सृष्टिकर्ता है। शिव की एक चम्याली ऐंचली के अनुसार शिव का पिता 'न्योर गुरु' है और माता मनसादेवी है। न्योर गुरु के आदेश पर शिव ने धरती, आकाश, सूर्य, चंद्रमा, पवन, जल आदि प्राकृतिक उपकरणों का सृजन किया है। उसने बैल के सींगों पर धरती को

tharahkardu.in

टिकाया है। दिन-रात, चर-अचर, जीव-उपजीव सभी को शिव ने उत्पन्न किया। विष्णु और ब्रह्मा, जो शिव के सहोदर हैं, इस कार्य को करने में असमर्थ रहे।

हिमाचली शिव आशुतोष है, नटराज है, वह लोगों के दुःख-सुख में भाग लेता है, उनके व्रत-त्योहारों में सम्मिलित होता है। वह महादेव है, देवाधिदेव है, किंतु विचित्र बात यह है कि स्वयं वह उन उपाधियों के प्रति उदासीन है, अपनी महानता में विनम्र है। उसने कभी यह दावा नहीं किया कि वह सृष्टिकर्ता है, न ही तो उसने अपना प्रभुत्व अन्य देवताओं पर स्थापित करने का प्रयत्न किया। अपनी इस स्थिति में वह केवल निराकार है। वह एक भाव का प्रतिनिधित्व करता है, एक गुण का प्रतीक है।

कहीं-कहीं वह मानव जैसा व्यवहार करता है। शिवरात्रि के अवसर पर गाए जाने वाले एक गीत के अनुसार रणसीवीर नाम का कोई व्यक्ति उसे शिवरात्रि पर अपने घर आने का निमंत्रण देता है। महादेऊ निमंत्रण स्वीकार करता है, किंतु साथ में ही पूछ बैठता है, "रणसीवीर, बताओ, तुम्हारे घर पर कितने बकरे, मेढ़े, घी, तेल, आटा और चावल है ?" यह उत्तर पा कि "खाडू बकरे इतने कि उनके सींगों का ढेर लग जाए, घी-तेल से अढ़ाई घड़ी तक घराट चल सके और आटा-चावल इतनी मात्रा में कि पड़े-पड़े सूँडियाँ लग जाएँ" महादेव प्रसन्न हो जाता है। निश्चित समय पर वह रणसीवीर के घर चलने लगता है, किंतु अकेले जाने का मन नहीं करता। वह पार्वती को स्वयं निमंत्रित कर ले जाना चाहता है। बेचारी गिरिजा बहुत समझाती हैं कि उसका बिना बुलाए जाना अशिष्ट है तथा मार्ग दुर्गम एवं बीहड़ है। हिमपुत्री की सारी अनुनय-विनय अनसुनी कर महादेव उसे अपने साथ ले ही जाता है। वह केवल यह कहकर रह जाती है कि "भोले ईश्वर, तू मुझे कहाँ ले आया ! देख, मेरा पैर काँटों से छलनी हो गया है, कंकरों-पत्थरों से टकराकर लहूलुहान हो गया है। कैलाश से धरती की यह यात्रा कितनी कष्टकारक है।" पर शिव है कि कहता है, "गिरिजा, तू देख तो सही, मैं किस प्रकार नाचता हूँ।"

झीरू मेले में सक्रिय भाग लेता शिव रसिक प्रकृति का है। वह सज्जन वन ग्राम-बालाओं का धूप-दीप अर्घ्य स्वीकार करता है। अपने रथ पर आरूढ़ स्वयं प्रत्येक आराधिका के पास जाता है, किंतु मौका मिलते ही रथारूढ़ बनदेवी को गूढ़ आलिंगन में समेट लेता है। पुराणों में शिव की कल्पना नटराज स्वरूप में भी की गई है, किंतु यह कहना कठिन है कि नाचता, मस्ती करता शिव पुराणों पर आधारित है या पुराणों का शिव झीरू के आधार पर कल्पित किया गया है।

प्रदेश के कई भागों में शिवरात्रि के दिन शिव लताकार बन जाता है। लता की तरह महादेऊ जौ के पौधों, बेलपत्र, 'ऊजर जौटी' नामक एक नीले रंग के पुष्प, पाजा

Digitised by
Tharah Kardu

वृक्ष की पत्तियों और नारंगी या खट्टे से सूत्र में पिरोकर बनाया जाता है। साधारणतः शिव की लिंगस्वरूप में ही पूजा की जाती है, यद्यपि प्रदेश में कहीं-कहीं उसकी संगमरमर की मूर्तियाँ भी स्थापित हैं।

ग्राम देवता—हिमाचल देवताओं का क्षेत्र है, शास्त्रीय देवताओं के अतिरिक्त सहस्रों अन्य देवता हैं, जिनका पृथक् उल्लेख असंभव है। इनमें बहुत बड़ी संख्या कुल अथवा ग्राम देवताओं की है। इन देवताओं के प्रति लोगों के भाव भी अद्‌भुत हैं। यदि एक ओर यहाँ के मानव के जीवन में 'देऊ' है, जिसकी आवश्यकता उसे कदम-कदम पर, प्रातः उठते ही पड़ती है, तो दूसरी ओर वह उसी 'देऊ' को नदी में फेंक सकता है। उसका सत (शक्ति) क्षीण हो जाने पर उसे कूड़े-करकट के बीच भी डाल सकता है। कहीं-कहीं ऐसे उदाहरण भी मिले हैं जहाँ किसी राजा ने देवता को दंडित किया और जेल में डाल दिया। कैद से मुक्ति तभी मिली, जब भविष्य में सद्‌व्यवहार का आश्वासन दिया। एक ओर देवता का इतना डर कि उसके प्रति मन में लेशमात्र भी अश्रद्धा का भाव न आने पाए और उसके एक इशारे पर खेत में जुते हुए बैलों तक को छोड़कर दो-दो, चार-चार दिनों तक उसके रथ को आसपास के गाँव में घुमाया जाए, तो दूसरी ओर उसके साथ बराबर का व्यवहार भी किया जाता है। देवता के प्रति सखा भाव यहाँ की निजी विशेषता है।

गूर—देव सखा की कल्पना तो सहज थी, उसमें मानवीय गुणों का आरोप सरल था, किंतु उन गुणों की अभिव्यक्ति कैसे हो, किस माध्यम द्वारा हो, यह जटिल प्रश्न था। इस कठिनाई पर काबू पाने के लिए यहाँ के मानव ने अनोखी सूझ से काम लिया, उसने अपनी कल्पना से एक ऐसे पात्र का सृजन किया, जो अद्वितीय है। यह पात्र गूर, चेला, गरोगच्छ, माली या दीवा है। देवता उसके माध्यम से कार्य करता है, अपनी इच्छा व्यक्त करता है, अपने आदेश प्रसारित करता है, और अपने उपासकों के कष्टों के निवारण का उपाय सुझाता है। वह उसे अपना प्रतिनिधि बना डालता है। और उन क्षणों में अपना सारा 'सत' अथवा शक्ति उस गूर में हस्तांतरित कर देता है। तब वह गूर देवता का प्रवक्ता नहीं अपितु स्वयं देऊ या देवी बन जाता है।

गूर में 'देवता के आने' का भी एक निश्चित क्रम है। देवता यदि मंदिर में अवस्थित है तो उसके मुखोट अथवा मीहरे के सामने गूर उपस्थित होगा, यदि वह सजा-सजाया अपने रथ या पालकी में है, तो उसके सम्मुख खड़े होकर गूर वे सारी क्रियाएँ करेगा, जिसके फलस्वरूप देवता के सत का उसके शरीर में आगमन माना जाता है। रथारूढ़ देवता के गूर में देवागमन की क्रिया कुछ इस तरह की है कि किसी विशेष अवसर पर देवता का रथ इतने जोर से हिलने-डुलने लगेगा कि उसे उठाने वाले उपासकों की गर्दन भी रथ के दो लठों के बीच मुड़ती-सी प्रतीत होती है। इस

tharahkardu.in

झंझावातीय हिलन का अर्थ यह होता है कि देवता अपनी 'प्रजा' से बातचीत करना चाहता है। सब लोग उत्सुकता से विनीत भाव में देवरथ के इर्द-गिर्द खड़े हो जाते हैं, और गूर रथ के सम्मुख नेत्र बंद कर वरदहस्त मुद्रा में खड़ा हो जाता है, उसके नाक के पास धूप दिया जाता है, उधर ढोल और नगाड़े बड़े जोरों से बज उठते हैं, उन पर ताल तीव्रतर हो जाता है, जिससे वातावरण में एक कँपकँपी-सी फैल जाती है। दो-चार मिनटों के उपरांत गूर काँपने लगता है, मानो शीत के कारण उसका तापमान बहुत चढ़ गया हो। थोड़ी देर में वह एक झटके के साथ सिर की टोपी उछाल देता है, जिसे उसके पीछे खड़ा व्यक्ति बड़ी दक्षता से सँभाल लेता है। अब वह देवता बन जाता है। आरंभ में वह 'गड़ाई', मार्था देता है, जिससे वह अपने जन्म और प्रताप की चर्चा करता है। 'गड़ाई' के उच्चारण के पश्चात् वह पूछता है, "बताओ, मुझे तुम लोगों ने क्यों याद किया है ?"

यह वाक्य उपस्थित लोगों के लिए देवता से प्रश्न पूछने का संकेत होता है। गूर की एक मुट्ठी में चावल या सरसों के दाने होते हैं, वह जितने भी दाने प्रश्नकर्ता की हथेली में रख दे, उत्तर उसके अनुरूप होगा। यदि दानों की गिनती सम में हो, तो उत्तर 'न' में, यदि विषम में हो तो 'हाँ' में माना जाता है। प्रश्न चाहे व्यक्तिगत हो या सामूहिक, देवता से उत्तर-प्राप्ति का यही तरीका है। 'न' को 'हाँ' में परिवर्तित कराने के लिए प्रायः देवता से विनय की जाती है, अपने निर्णय में संशोधन करने की प्रार्थना की जाती है। भूल-चूक और अपराध के लिए क्षमा माँगी जाती है। अपनी दीनता-दास्यता सिद्ध करने के लिए देवता से कहा जाता है कि हम तो तेरी प्रजा हैं, तेरी भेड़ें हैं, तू ही हमारा सर्वस्व है, तेरी आज्ञा शिरोधार्य है, अतः तू हमारी दशा पर तरस खा, हमारे बिगड़े कामों को सुधार।

जब कभी ऐसा भी होता है कि देवता समस्या का समाधान करने या कष्ट का निवारण करने में अपनी अरुचि या असमर्थता प्रकट करता है। असमर्थता की स्थिति में वह अपने से बड़े किसी अन्य देवी-देऊ को 'प्रकट' करने अर्थात् उससे दुःख के निराकरण का उपाय पूछने का सुझाव देता है। जहाँ वह अरुचि की बात करता है, वहाँ 'प्रजा' द्वारा किया गया कोई अपराध इसका कारण बताया जाता है। देवता सर्वप्रथम उस अपराध के लिए दंडस्वरूप जुर्माने की माँग करता है। प्रजा दंड-पूर्ति का वचन देती है। यदि देवता इस पर भी संतुष्ट न हो और वर्षा जैसे सामूहिक जनकल्याण के कार्य में आनाकानी करे, तो कई बार स्वयं देवता को ही चेतावनी दी जाती है कि उसे तब तक अपना 'सत' गूर से वापस लेने नहीं दिया जाएगा जब तक कि इनकी माँग पूरी न हो जाए। किंतु ये क्रूर उपाय यदाकदा ही बरते जाते हैं।

दुःख-दर्द, बीमारी, खुशी-गमी, लड़ाई-झगड़े, कृषि-कर्म, अतिवृष्टि, अनावृष्टि,

Digitised by Tharah Kardu

नौकरी, चोरी आदि सभी परिस्थितियों में देवता का सहारा लिया जाता है, उससे न्याय माँगा जाता है। ऐसे भी उदाहरण मिले हैं, जहाँ किसी शासक के अत्याचारों का प्रतिरोध करने का तरीका भी देवता से पूछा गया और देवता की अनुमति मिलने पर शासक के विरुद्ध उसके प्रतिद्वंद्वी की सहायता कर उसे अपदस्थ किया गया। मध्य युग में तो देश के मैदानी भागों से आने वाले राजा और राजकुमारों ने स्थानीय ठाकुर और राणाओं के विरुद्ध देवताओं की सहायता सर्वत्र ली। यह भी देखा गया है कि देवता ने किसी अन्य देवता के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। इस आज्ञा का पालन करने के लिए दोनों पक्षों में सशस्त्र युद्ध होता है। यदि इस आदेश का उल्लंघन किया जाए तो 'देऊ दोष' लग जाता है, जिससे जन्म-जन्मांतर तक छुटकारा नसीब नहीं होता है। कहीं-कहीं देवता गाँव के झगड़ों के निपटारे के लिए अपनी अदालत तक लगा लेता है और उसके समक्ष दोनों पक्ष, वादी और प्रतिवादी, वैसे ही बयान देते हैं जैसे किसी मजिस्ट्रेट के सामने देते हैं। ऐसा भी देखा गया है कि देवता प्रेम में मनुष्यों से भी होड़ लेते हैं, उनसे ईर्ष्या करते हैं। किन्नर प्रदेश की एक बड़ी देवी 'उखा' उषा है। उषा वैदिक उषा का प्रतीक भी है और कोई ऐतिहासिक नारी भी है, जो अपने रूप-लावण्य, प्रेम की उत्कटता तथा गुणों के कारण देवत्व पद को प्राप्त कर पाई है। उसके रामपुर, सराहन, शांगला, कोठी और नचार में मंदिर हैं।

यह उखा, इंद्र द्वारा प्रेरित, सृष्टि के आदिकाल से ऋषि अहन का व्रत और तप खंडित करने का प्रयत्न करती आ रही है। वह अहन की तपस्या खंडित नहीं कर पाई। उसका सौंदर्य ऋषि के तेज का सामना नहीं कर सका। हजारों-लाखों बार उषा का जीवन समाप्त हुआ, नई उषाओं ने जन्म लिया, पर अहन का मन विचलित न हुआ। आज भी उषा अहन का मन विचलित करने प्रतिदिन आती है, किंतु ऋषि के तेज के सम्मुख अपने शरीर को भस्म करवा लुप्त हो जाती है। यही उखा जब कभी किस पार्थिव रूपसी को देखती है, तो जल-भुन जाती है। उसका अहन पर तो जोर नहीं चला, परंतु मानवी सुंदरी को अनिष्ट पहुँचाने में वह सदा तत्पर रहती है और कई बार तो उन अभागिनों की जीवन-लीला ही समाप्त करा देती है।

शिव के समान ही इन देवताओं का व्यवहार भी पूर्णतः मानवीय होता है। उनकी माता होती है, भाई और बहनें होती हैं। जब दो समान स्तर के देवता आपस में मिलते हैं, तो उनका एक-दूसरे के प्रति अत्यंत भद्र बर्ताव होता है, दोनों झुककर एक-दूसरे का अभिवादन करते हैं। कहीं-कहीं इन देवताओं में कौटुंबिक वैमनस्य भी रहता है, वे मान-अपमान के प्रति सर्वदा जागरूक रहते हैं। देवता भाई-बहनों में प्रायः स्नेह का भाव ही दीख पड़ता है। समय-समय पर देवता भाई-बहन देवी के पास आता है, उसके लिए भेंट लाता है। बहन भाई के घर आती है। साधारणतः कनिष्ठ

tharahkardu.in

भाई अथवा बहन बड़े भाई या बहनों के पास जाते हैं, उनके पास जाकर अपने कष्टों, समस्याओं का उल्लेख करते हैं, कहीं किसी का मंदिर टूट-फूट गया या भवन नष्ट-भ्रष्ट हो गया हो तो बड़ा भाई या ज्येष्ठ बहिन तुरंत उस त्रुटि को पूरा करने का प्रयत्न करते हैं। वे अपने गूर द्वारा सारी प्रजा को इस स्थिति से अवगत करा शुल्क प्राप्त कर अतिथि को दे देते हैं। शुल्क की राशि या मात्रा सब परिवारों के लिए समान होती है और वह सभी को अनिवार्य रूप से देनी होती है।

बलि प्रेम—इन देवी-देवताओं की एक बहुत बड़ी विशेषता उनका मांसाहारी होना है। प्रायः सभी ग्राम देवी-देऊ और अन्य दैवी और पारलौकिक शक्तियों को मांस प्रिय है, सभी बलिदान में रुचि रखते हैं। शिव हम देख ही चुके हैं, शिवरात्रि के उत्सव में केवल तब सम्मिलित होता है, जब उसे पर्याप्त संख्या में खाडू बकरे उपलब्ध हो जाने का आश्वासन मिलता है। संस्कार हो, त्योहार या उत्सव हो, पर्व हो, मेला या जातर हो, भूमि-पूजन हो, काली-पूजा हो, नए मकान की छत पड़ गई हो या कृषि का कोई महत्त्वपूर्ण कार्य संपन्न हुआ हो, मनौती हो, बकरे या भेड़े की बलि आवश्यक है। लगता है, इस बलि के न होने से दैवी शक्तियों की तुष्टि हो ही नहीं सकती है। इसके अतिरिक्त जब कभी मांसाहार की तृष्णा हो, तो यह जरूरी नहीं कि बलि के लिए उपयुक्त अवसर की प्रतीक्षा की जाए; जरूरी केवल यह है कि बकरा या खाडू सुलभ हो। दो-चार परिवार मिलकर, या एक ही परिवार बकरे को अपने कुल देवता को अर्पण कर उसका वध कर देते हैं और मांस प्राप्त करते हैं। बिना समुचित देव-समर्पण के शायद ही कोई बलि दी जाती हो। समर्पण के लिए प्रायः नर ही होता है, और इसकी विधि कई क्षेत्रों में बड़ी सरल है। बकरे को खलिहान या कमरे के बीच खड़ा किया जाता है, एक व्यक्ति उसके दोनों कानों में अक्षत और पुष्प तथा कुछ जल भरता है। उसकी पीठ पर भी दो-तीन स्थानों में अच्छा-खासा जल डाला जाता है। जब वह अपने सारे शरीर को जल, पुष्प और अक्षत से मुक्त करने के लिए हिलाता है, तो समझा यह जाता है कि उसकी बलि देवता को स्वीकार है। इस अवसर पर बलि प्राप्त करने वाले देवता की 'जय' की जाती है। इस तरह से देवता और मानव दोनों की क्षुधा मिट जाती है।

भेड़े और बकरे की बलि का अभिप्राय तो देव-अनुकंपा के साथ-साथ भोजन के लिए मांस-प्राप्ति भी हो सकता है, परंतु भैंसा, मुर्गा, मछली आदि अन्य पशुओं की बलि का एकमात्र उद्देश्य क्रूर ग्रहों या शक्तियों के दुष्प्रभाव को दूर करना होता है। ऐसा मालूम पड़ता है कि बलि का यह क्रम अत्यंत प्राचीन है। एक-दो विद्वानों को तो सिंधु घाटी में उपलब्ध एक मुद्रा पर भी बलि का दृश्य अंकित मालूम पड़ा है। यह आधार हो या नहीं, किंतु हिमाचल में संभवतः प्रारंभ से ही पशुबलि का प्रचलन रहा

Digitised by
Tharah Kardu

ज्ञात होता है। इसका प्रभाव न केवल स्थानीय तीज-त्योहारों पर पड़ा बल्कि वैष्णव उत्सव भी बलि-प्रथा से अछूते न रह पाए। शिव, काली और परशुराम नरमेध यज्ञ के अधिष्ठाता बनते हैं। 'नारण' अथवा नरेण (नारायण) भी इस प्रकार के यज्ञ में रुचि रखता है। परम वैष्णव भगवान् रघुवीर भी कुल्लू में दुशैहरे के समापन पर भैंसा आदि सात पशुओं की बलि सहन करता है। चंबा में बलोह गाँव में दुशैहरा तभी संपूर्ण समझा जा सकता है जब शस्त्र-पूजा के उपरांत पाँच पशुओं की बलि दी जाए। दुर्गाष्टमी के दिन तो मंडी में काव, सिरमौर में राजगढ़ के निकट शा गाँव जैसे स्थानों पर महिष बलि पूजा अनुष्ठान का अभिन्न अंग माना जाता रहा है।

बलि-प्रथा के इस प्रकार समूचे प्रदेश में मान्यता के पीछे क्या भाव है, इसका स्पष्ट उत्तर जटिल है। ऐसा प्रतीत होता है कि बलि-प्रथा का कारण डर का भाव ही रहा हो, जिसने व्यक्तिगत और सामूहिक दोनों स्तरों पर अनादृष्ट, पारलौकिक अमंगलकारी तत्त्वों से छुटकारा पाने का यह उपाय ढूँढ़ निकाला हो। अपनी आदिम अवस्था में उसने जीव को ही इस बलि के उपयुक्त समझा हो, और उसके अवचेतन मन में यह भाव आज भी काम कर रहा हो। इस रीति में मानव की स्वार्थपरता की स्पष्ट झलक मिलती है। मुझे पर कोई कष्ट न आए, मेरा जीवन खतरे में न पड़े, मेरा अनिष्ट न हो, मेरी सुख-समृद्धि बढ़े, इसे सुनिश्चित करने के लिए यदि बलि चाहिए, तो वह भी हाजिर है। मेरी जान बच जाए, इसके लिए दूसरी कोई जान जाती है, तो उसे जाना ही होगा। स्पष्टतः यही भाव इस प्रदेश में कुछ-एक वर्ष पहले तक संयोजित नरमेध जैसे अनुष्ठानों के पीछे रहा होगा।

भूँडा—वैदिकयुगीन अजमेध, अश्वमेध, गोमेध और नरमेध जैसे मेधी यज्ञों में से भूँडा नामक यज्ञ इस प्रदेश का अत्यंत महत्त्वपूर्ण उत्सव-अनुष्ठान रहा है। अनेक विज्ञ व्यक्तियों के मत में भूँडा सभी मेधी यज्ञों का सम्मिश्रण है। यद्यपि एक-दो लोकगीतों में इसे अश्वमेध यज्ञ का नाम दिया गया है, परंतु सामान्य परंपरा इसे नरमेधी यज्ञ मानती है। संभवतः इस यज्ञ का सीधा संबंध सिंधु सभ्यता से है, और इस तरह हिमाचल जनजीवन को उस सभ्यता का अवशेष कहा जा सकता है।

प्राचीनकाल में इन मेधी यज्ञों में विख्यात ऋषि भाग लेते थे और यज्ञ के पूर्ण होने पर पूर्णाहुति के अवसर पर, नरमेध यज्ञ में नर और अश्वमेध यज्ञ में अश्व की बलि देते थे। उसके उपरांत हवनकुंड से अस्थियाँ एकत्र कर ली जाती थीं और ऋषि अपने मंत्रों द्वारा उन बलि दिए गए नरों या अश्वों—पशुओं को पुनः जीवित कर देते थे। कालांतर में मनुष्यों के स्थान पर मेढ़ों और बकरों की बलि दी जाने लगी।

भूँडा से संबंधित कर्मकांड पुरातन नरमेध के समान है। इस यज्ञ के प्रचलन के संबंध में एक अनुश्रुति यह है कि एक बार जमदग्नि ऋषि किसी कारण अपनी पत्नी

tharahkardu.in

अंबिका (रेणुका) से रुष्ट हो गए। उन्होंने पुत्र परशुराम को माता के वध का आदेश दिया। पुत्र ने पिता के आदेश को मान माता का सिर काट डाला, किंतु मातृ-हत्या का प्रायश्चित्त करने के लिए इस यज्ञ का आयोजन किया और अपने अनुयायियों को भूमि देकर आदेश दिया कि वे उपज का दसवाँ भाग भूँडा यज्ञ पर खर्च करें।

वस्तुतः यह यज्ञ ऋग्वैदिक काल से प्रचलित है। ऋग्वेद में एक आख्यान का संकेत है। एक था वेद-मंत्र-कर्ता ऋषि। नाम था शुनः शेप। एक बार उसे नर-मेध-पुरुष-मेध यज्ञ में बलि के लिए चुना गया। उसे देवार्पण कर दिया गया। यज्ञ के पुरोहितों में वसिष्ठ, विश्वामित्र और जमदग्नि भी थे। शुनः शेप मरना नहीं चाहता था। विश्वामित्र ने सुझाया, वह देवता, वरुण की स्तुति करे, उससे जीवन की माँग करे। शुनः शेप ने वही किया, वरुण से अनुरोध किया, मेरे पाशों को काटो, मैं मरना नहीं चाहता, मुझे अपनी पूरी आयु जीने दो। वेद के अनुसार देवता ने उसकी पुकार सुनी, उसके पाश काट दिए। उसके पश्चात् इस यज्ञ में पुरुष बलि बंद हो गई।

कतिपय विद्वानों का विचार है कि भूँडा शब्द 'बेडा' से निकला है। भूँडा के अवसर पर बेडा की नैमित्तिक बलि दी जाती है। चूँकि बेडे का भूँडे से अत्यधिक संबंध है, अतः संभवतः भूँडा बेडा शब्द का ही अपभ्रंश स्वरूप हो। कुछ और लोगों का मानना है कि भूँडा, भंडार का ही संक्षिप्त रूप है। इस यज्ञ में मंदिर का भंडार खोला जाता है। अतिथियों को उनकी सारी सामग्री इस भंडार से दी जाती है। यह भी कहा जाता है कि भूँडा 'भूमेध' का बिगड़ा रूप है। किंतु ये सभी मत अपूर्ण हैं। इस शब्द की व्युत्पत्ति कहीं और देखनी होगी। यह शब्द स्पष्टतः वध से उपजा है। वैदिक साहित्य मे बेडा को व्रात्य कहा गया है। व्रात्य और बेडा में रहन-सहन, खान-पान, जीवन-शैली, संस्कार और समाज में स्थान की समानताएँ, बेडा का व्रात्य होने में कोई संदेह नहीं रहता है।

भूँडा यज्ञ पहले हर बारह वर्ष के अंतर पर हुआ करता था, किंतु इधर अब तो तीस-तीस चालीस-चालीस वर्षों के बाद भी होने लगा है। शुरू-शुरू में भूँडा परशुराम से संबंधित स्थानों पर हुआ करता था। एक गीत में उन स्थानों का उल्लेख है जहाँ यह यज्ञ होना ही चाहिए। इन स्थानों में गण्य हैं, निरमंड, नगर, निरत, काव, ममेल, बला, नौड़णा, बछुंच, कुलगाँव, दलगाँव, पुजारली, खडाण और निथर। नौडणा, बछुंच, कुलगाँव, दलगाँव और पुजारली पब्बर घाटी में हैं, अन्य सभी स्थान सतलुज उपत्यका में हैं। इनके अतिरिक्त व्यास घाटी में बला के स्थान पर भी भूँडा का आयोजन अनिवार्य हुआ करता था।

एक तरह से भूँडा निश्चित तिथि से काफी पहले ही आरंभ हो जाता है, जब बृहद् हवन का आयोजन होता है। इस हवन के लिए एक विशेष कुंड होता है, जो

Digitised by
Tharah Kardu

निरमंड जैसे परशुरामी गढ़ों में पाँच फुट गहरा और चार फुट चौड़ा होता है। इस नाभी कुंड का प्रयोग केवल भूँडा के अवसर पर ही होता है। जिस दिन यह हवनकुंड खोला जाता है, अर्थात् कुंड को ढाँपने वाली शिला हटाई जाती है, जिसे कहीं-कहीं 'कूंड धवाणना' कहते हैं। कुंड की उत्तर दिशा में मिट्टी की एक विशाल देवी-मूर्ति की स्थापना की जाती है। कुंड के खुल जाने से लेकर भूँडा यज्ञ की समाप्ति तक इस कुंड में विद्वान् वेदपाठी ब्राह्मण शास्त्रीय विधि से प्रतिदिन प्रातःकाल से लेकर सायंकाल तक हवन किया करते हैं। इस प्रकार यह हवन-क्रिया कई बार दो वर्ष किंतु सामान्यतः छह महीनों से लेकर एक वर्ष तक चलती रहती है। यह इस बात पर निर्भर करता है कि हवन-कुंड के खुलने की शुभ घड़ी भूँडा यज्ञ से कितने पहले निश्चित होती है।

हवन के शुरू होते ही बेडा जाति का एक पुरुष इस नरमेध यज्ञ के लिए चुन लिया जाता है। तब से उसका तथा उसके समूचे परिवार का पालन-पोषण मंदिर की ओर से ही होता है। बेडे कुल्लू, सुकेत, बुशैहर और गढ़वाल की एक परिगणित जाति है। इस जाति का कार्य लगभग ब्राह्मण-पुरोहितों जैसा है। भूँडा की सक्रिय तैयारी हवन के साथ ही आरंभ हो जाती है। इस बीच किसी शुभ दिन इलाके के प्रायः सभी परिवार मूँज-घास काटकर उस मनोनीत बेडा को दे देते हैं। इसी मूँज से वह रस्सी बनती है, जिस पर बिठाकर बेडे को ऊपर से नीचे सरकाया जाता है। यह रस्सी जिसे 'बल्तौतर' कहा जाता है, लगभग छह इंच मोटी होती है। इस रस्सी को वह स्वयं बनाता है। बटाई के दिनों बेडा हर रोज सुबह-सवेरे मूँज-घास और बटी हुई रस्सी की पूजा करता है और दिन-भर निराहार बटाई कर केवल रात को भोजन करता है। बल्तौतर आठ-नौ सौ गज लंबी होती है। इसे चूहे न काट लें, इस उद्देश्य से बेडा को एक बिल्ली दी जाती है, जो चूहों से रस्सी की रक्षा कर सके।

निरमंड में भूँडा के पहले दिन अतिथि देवताओं का स्वागत होता है। जिस प्रकार कुल्लू के दुशैहरे और मंडी की शिवरात्रि में पास-पड़ोस के सभी देवी-देवताओं का समागम होता है, उसी प्रकार भूँडा में भी निकट-दूर के देवता सम्मिलित होते हैं, किंतु अंतर यह है कि दुशैहरा या शिवरात्रि पर तो ग्राम्य देवता आएँगे, परंतु भूँडा में मुख्यतः शास्त्रीय देवता ही भाग ले सकते हैं। इन देवताओं के कलश होते हैं। प्रायः कोई भी देवता रथ में इस समारोह में नहीं आता है।

अतिथि देवताओं के स्वागत के दूसरे दिन स्थानीय देवताओं के 'गूर' आते हैं, और गाँव के चारों ओर चक्कर काटते हैं जिसे 'शिखफेर' कहा जाता है। शिखफेर में बकरा, मेढ़ा, सूअर और मुर्गे की बलि दी जाती है।

इसी दिन एक अन्य समारोह होता है जिसे 'जड़ पूजन' अथवा 'जल पूजन'

tharahkardu.in

कहते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि 'जड़ पूजन' का वास्तविक उद्देश्य वरुण देवता के सम्मुख सती स्त्रियों के सतीत्व की परीक्षा है। 'लाटे की बा' नामक पाँच-छह फुट गहरे, दस फुट लंबे और छह फुट चौड़े जलाशय के ऊपर, जिसके जल को गंगाजल की संज्ञा दी जाती है, अंबिका का कलश और अन्य नौ छोटे कलशों (करोतियों) को लाया जाता है, बावली जल से भरी होती है। ग्रामवधुएँ उस जल में प्रविष्ट हो दस कलशों की पूजा करती हैं। प्राचीनकाल में केवल गाहरी वर्ग की ब्राह्मण स्त्रियाँ ही पूजा की अधिकारिणी समझी जाती थीं। सिंधु-सरस्वती क्षेत्र से आए ये गाहरी स्थानीय ब्राह्मणों का सर्वोच्च वर्ग माना जाता है। यह नियम इतना कठोर था, कि यदि कोई इतर-गाहरी स्त्री पूजा करने का प्रयत्न करती तो मंदिर के अधिकारी देवता की छड़ी छुआकर उसे हटा दिया करते थे। कहा जाता है, किसी नारी को पूजा के योग्य घोषित करने से पूर्व उसकी मातृ-पितृगृह और पतिगृह, दोनों ओर की सात पुश्तों की जाँच कर ली जाती थी। यदि वह सात पुश्तों से शुद्ध गाहरी चली आ रही हो, केवल तभी वह पूजा कर पाती थी।

लोगों में यह धारणा घर कर गई कि बावली में प्रविष्ट होने पर जिस स्त्री के वस्त्र का पल्ला जल में ही रहे, वही पतिव्रता है। बाद में इस कसौटी का स्थान 'दिया भरना' (दीपक जलाना) ने ले लिया। पूजा करने वाली स्त्री, दस दीपक, जो कलशों के आगे रखे होते हैं, तेल से भरती है, किंतु उसे इस विषय में अत्यंत सतर्क रहना होता है कि दीपक में डालते हुए तेल की धार न टूट जाए। यदि धार टूट गई, तो उसके पातिव्रत्य पर कलंक लगा माना जाता है। यह एक कठिन मनोवैज्ञानिक परीक्षण है जिसमें सहस्रों लोगों, जिनमें सभी स्वजन होते हैं, के समक्ष उत्तीर्ण होना होता है। यदि पूजक पतिव्रता है तो उसमें पूर्ण आत्मविश्वास होता है, उसका हाथ काँपता नहीं है और उसके हाथ से तेल की धार टूटती नहीं है। यदि उसे अपने चरित्र की शुचिता पर लेशमात्र भी संदेह है, जिसे केवल वही जान सकती है, तो अवश्य हाथ काँप जाएगा और तेल की धार टूट जाएगी।

भूँडे की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण घटना तीसरे दिन घटित होती है। एक ओर परशुराम अपने मंदिर से बाहर निकलकर दशनामी साधुओं के अखाड़े में आता है, और दूसरी ओर बेडा को बलि के स्थान पर ले जाया जाता है। अब इस बेडा को 'जियाई' या 'जेडी' कहा जाता है। बलि के स्थान पर जाने से पूर्व जियाई नहा-धोकर तैयार होता है और उसे बाजे-गाजे के साथ सम्मानपूर्वक हवनकुंड के पास लाया जाता है। उस समय उसे एक तरह का देवता ही माना जाता है और उसके अनुरूप ही उसकी पूजा होती है। हवन का अधिष्ठाता उस पर जल, पुष्प, अक्षत आदि फेंकता है। पूजा के उपरांत उसके मुँह में पंचरत्न की पुड़िया डाल दी जाती है। (साधारणतः

Digitised by
Tharah Kardu

पंचरत्न केवल मरणासन्न व्यक्ति के मुँह में डाली जाती है।) 'जियाई' उपस्थित लोगों में उपहार बाँटता है। मंदिर का मुख्य प्रबंधक कारदार तब उसे अपनी पीठ पर उठाकर यज्ञशाला से बाहर लाता है। उस समय वाद्य संगीत, उसकी लय सभी कुछ करुणोत्पादक होते हैं।

बाहर पहुँचकर गण्यमान्य अतिथि, पुरोहित और मंदिर के कर्मचारी एक जुलूस की शक्ल में चल पड़ते हैं। जुलूस का नेता 'जियाई' ही होता है। उसके शरीर पर केवल एक वस्त्र रहता है, गले में लाल डोरी होती है। उसके सिर पर एक अन्य व्यक्ति नीली छतरी उठाकर चलता है। जुलूस के पीछे पचास-साठ लोग रस्सी (बल्लौतर) को उठाकर आते हैं। समारोह रूप में यह जुलूस उस स्थान पर आता है, जहाँ पर 'जियाई' को रस्सी पर चढ़ना होता है। उसकी उपस्थिति में रस्सी दो मजबूत चट्टानों या खंभों में, एक चोटी के ऊपर, दूसरी कुछ सौ गज नीचे, बाँध दी जाती है। इससे पूर्व रस्सी और चट्टानों अथवा खंभों की पूजा की जाती है। इसके उपरांत 'जियाई' यज्ञशाला में लौट आता है, जहाँ उसे विधिपूर्वक देवार्पण करते हैं। निरमंड में सन् 1868 में बल्लौतर टूटने से जियाई की मृत्यु हो गई थी, तब से यहाँ जियाई का स्थान बकरा लेता है। अन्यत्र जियाई ही रस्सी पर चढ़ता है। देवार्पण होने के उपरांत जियाई पुनः जुलूस की शक्ल में चोटी पर पहुँचाया जाता है। उसके परिवार के सदस्य, अन्य संबंधी तथा दर्शक निचले खंभे के पास ही रहते हैं। उसकी पत्नी श्वेत वस्त्र पहने, सिर के बाल खोलकर विधवा का भेष धारण किए होती है।

रस्सी में एक लकड़ी की घोड़ी (जीन) अच्छी तरह बाँधी जाती है, जिस पर जियाई को बैठाया जाता है। उसकी दोनों टाँगों में रेत से भरे थैले बाँधे जाते हैं, जिससे उसका संतुलन बना रहे। पुरोहित के संकेत पर घोड़ी की डोर सहसा काट दी जाती है और जियाई रस्सी पर बड़ी तीव्र गति से नीचे आता है। खंभे से बीस-पच्चीस गज तक रस्सी में कपड़ों के थान लिपटे रहते हैं ताकि जियाई की गति धीमी पड़ जाए और वह खंभे से न टकराए। रस्सी पर जियाई के चढ़ते ही ढोल, नगाड़ा, करताल, नरसिंहा, शहनाई और तुरी बजाए जाते हैं। एकत्रित लोग देवता की जय-जयकार करते हैं। ज्योंही 'जियाई' निचले सिरे पर पहुँचता है, उसे मंत्रोच्चारण के साथ बड़े आदर से भूमि पर उतारा जाता है। यह सारा कार्यक्रम दो-चार मिनटों में ही समाप्त हो जाता है। भूमि पर उतरने के बाद जियाई जिस किसी की जिस किसी वस्तु में, चाहे वह कितनी मूल्यवान क्यों न हो, हाथ लगाए, उसे उपहार में दी जाती है।

साधारणतः 'जियाई' की रस्सी पर चढ़ने से मृत्यु नहीं होती, यदि दुर्भाग्यवश यह दुर्घटना हो जाए, तो उसके मृतक शरीर का अंतिम संस्कार पूरी धूमधाम से किया जाता है। उसके परिवार को देवता की ओर से जीवन-निर्वाह के लिए जागीर की

tharahkardu.in

शक्ल में खर्च दिया जाता है। एक प्रकार से उसके परिवार के भरण-पोषण का दायित्व समाज अपने ऊपर ले लेता है।

माना यह जाता है कि भूँडा समारोह बारह मुख्य स्थानों पर हुआ करता था, जिससे प्रतिवर्ष यह अनुष्ठान कहीं न कहीं होता रहे। एक अनुश्रुति कहती है कि कुल्लू में बनजार के निकट बला नामक गाँव के मार्कंडेय ऋषि और बाला सुंदरी देवी के मंदिर में जब यह यज्ञ संपन्न हो जाता था, तो वहाँ से तुरंत एक दूत निरमंड पत्र लेकर आता था, जिसमें भूँडा यज्ञ के संविधान संपूर्ण होने का उल्लेख होता था। पत्र पहुँचते ही परशुराम के मंदिर में भूँडा का आयोजन आरंभ हो जाता था और वहाँ इसकी समाप्ति पर सूचना सुकेत के ममेल गाँव को दी जाती थी, जहाँ चंडी के मंदिर की ओर से भूँडा यज्ञ का समारंभ किया जाता था। इस प्रकार एक स्थान से दूसरे स्थान पर निश्चित क्रम के अनुसार इस यज्ञ का आयोजन होता रहा है।

शिमला के चौपाल क्षेत्र में भूँडा नामक एक उत्सव प्रति वर्ष पौष या माघ की संक्रांति को होता है, जब स्थानीय देवताओं को भेड़ और बकरे की बलि दी जाती है। बलि-पशु को शिव के नाम पर एक वर्ष तक पाला जाता है। बलसन में इस तरह का भूँडा पाँचवें वर्ष मनाया जाता है।

भूँडा की तरह रस्सी पर किसी पुरुष को डालने की परंपरा का उल्लेख कुल्लू और मनाली क्षेत्र तथा किन्नौर में भी होता है। यह भी कहा जाता है कि काँगड़ा में ज्वालामुखी मंदिर में भी बहुत लंबे समय तक 'नर बलि' दी जाती रही है।

जैसा हम पहले कह चुके हैं, भूँडा यज्ञ शिव, शक्ति और परशुराम के निमित्त होता रहा है। लोगों के आराध्य देव शिव और मातृ-देवी रही है। बलि का प्रचलन संभवतः इन जातियों की देन हो, जो आज भी जीवित है, किंतु परशुराम का भूँडा से संबंध रहस्यात्मक है। इस संबंध में कतिपय संभावनाएँ उत्पन्न होती हैं।

एक संभावना यह है कि स्वयं परशुराम अनार्य रहे हों, तभी शिव उनका आराध्य देव था। शिव ही परशुराम के गुरु थे, जिन्होंने उन्हें धनुर्विद्या में निपुण बनाया और साथ में विविध अस्त्र भी प्रदान किए। परशुराम की महत्ता को देखते हुए आर्य ऋषियों ने उन्हें अपने वर्ग में सम्मिलित कर आर्येतर जातियों का सद्भाव प्राप्त किया। किंतु कालांतर में स्वयं ये ऋषि उनके महत्त्व को सहन नहीं कर सके, इसीलिए आर्य राम के हाथों उन्हें पराजित कराया गया। परशुराम द्वारा मातृ-हत्या भी आर्य-गुणों से बाहर की बात जान पड़ती है।

किंतु एक दूसरी सबल संभावना यह है कि परशुराम ब्राह्मण आर्य थे, यद्यपि उनकी माता एवं मातृमह क्षत्रिय राजकन्याएँ थीं। अगस्त्य ऋषि की भाँति परशुराम आर्य संस्कृति के अन्यतम संदेशवाहक, प्रचारक तथा प्रसारक थे। उन्होंने न केवल

Digitised by
Tharah Kardu

दक्षिणी-पश्चिमी भारत अपितु उत्तर-पश्चिमी सीमांतक भारत में भी वैदिक संस्कृति को फैलाया। स्थान-स्थान पर ब्राह्मणों की बस्तियाँ बसाईं। ऐसा माना जाता है कि गुजरात से लेकर कन्याकुमारी तक विभिन्न प्रदेशों में ब्रह्म-कर्मरत लोगों को एक जगह लाकर उन्होंने बस्तियाँ स्थापित कीं। सुदूर दक्षिण में नंबूद्री ब्राह्मणों की बस्ती बसाई, गोआ के आसपास गौड़ देश में सारस्वत ब्राह्मणों को आबाद किया, चितपावन ब्राह्मणों को चिपलून में लाया गया। कोंकण के नंबूद्रियों, शोपवियों और सारस्वतों का मानना है कि परशुराम ने उन्हें वहाँ यज्ञ के लिए, श्राद्ध के लिए या भूमिदान के लिए बसाया।

इसी तरह की अनुश्रुति सतलुज, व्यास तथा पब्बर घाटी के अनेक लोग कहते हैं। यदि यह ठीक है, तो इस प्रदेश में अश्वमेध, गोमेध और नरमेध जैसे यज्ञों का समारंभ परशुराम ने ही किया है और यही कारण है कि मुख्यतः उन्हीं स्थानों में भूँडा जैसे यज्ञ होते रहे जिनका परशुराम के साथ संबंध रहा है। रेणुका, ममेल, काव, निरत, दत्तनगर तथा निरमंड स्पष्टतः परशुरामी बस्तियाँ हैं।

अब प्रश्न यह उठता है कि इन यज्ञों में नर-बलि का इतना महत्त्व क्यों ? ऐसा प्रतीत होता है कि परशुराम के समय में यहाँ रहने वाली सभी शिव-पूजक जातियों में यह प्रथा सर्वप्रिय रही हो और वे किसी भी स्थिति में इसे भुला न पाए हों। परशुराम को देश में वैदिक-संस्कृति के प्रसार के दौरान स्थानीय वास्तविकताओं से कई तरह के समझौते करने पड़े होंगे। उन समझौतों के फलस्वरूप ही भारत की समन्वित संस्कृति का प्रादुर्भाव हुआ है। उत्तर-पश्चिम के सीमांतक क्षेत्र में इसी समझौते के कारण जहाँ अपनी बसाई हुई बस्तियों को यज्ञकर्म करते रहने का उन्होंने आदेश दिया, वहाँ स्थानीय जातियों का विश्वास और सद्भाव जीतने के लिए उन द्वारा बलि देने की विधि को भी एक यज्ञ का आधार बनाया और भिन्न संस्कृतियों के समन्वय का एक परिणाम यह भूँडा यज्ञ है। परंपरा यह बताती है कि परशुराम ने क्षेत्र के गण्यमान्य व्यक्तियों ब्राह्मण जाति में सम्मिलित किया था।

इस यज्ञ में भी बलि दिए जाने वाले मनुष्य की जान बचाने का पूरा प्रयत्न किया मालूम पड़ता है। यह निष्कर्ष रस्सी बनाने की विधि, उसके दायित्व, सुरक्षा के लिए बिल्ली का रखना आदि बचाव के उपायों से निकलता है। यदि बेडे की मृत्यु अभिप्रेत होती, तो रस्सी बँटाने का दायित्व उस पर न डाला जाता। ऐसा तो शायद ही कोई व्यक्ति रहा हो, जो अपने हाथ से अपनी मृत्यु का वरण करे। इसके अतिरिक्त ऐसी कौन-सी जाति हो सकती है जो स्वेच्छा से सहर्ष प्रतिवर्ष एक वयस्क सदस्य बलिदान के लिए इन सहस्रों वर्षों में देती आई हो ? बेडा जाति भी आखिर मानव ही है, कभी तो उसने विद्रोह किया होता और आत्मघात करने से इनकार किया

tharahkardu.in

होता। एक महत्त्वपूर्ण बात और है, बेडा वैदिक व्रात्य हैं। भूँडा अनुष्ठान में रस्सी का टूटना अनिष्टकारी अपशकुन समझा जाता है, यदि रस्सी टूट जाए, तो संपूर्ण यज्ञ निष्फल समझा जाता है और तुरंत दूसरे भूँडा का आयोजन वांछित होता है। जियाई की मृत्यु रस्सी टूटने से ही हो सकती है। अतः यह कहा जा सकता है कि भूँडा यज्ञ में नर-वध नहीं नर का केवल सांकेतिक बलिदान अपेक्षित है, जिससे यज्ञविधान भी पूरा हो जाए और सामान्य जनता भी संतुष्ट हो जाए। आधुनिक खोजों ने इस अनुष्ठान के नए आयाम खोले हैं। यह आर्य और अनार्य का आयोजन नहीं है। जैसा हमने देखा, इसका संकेत ऋग्वेद के प्रथम मंडल की उन ऋचाओं में है, जिन्हें पहले की माना जाता है। ध्यान रहे कि वैदिक ऋचाओं की रचना एक ही समय में नहीं हुई। इन्हें बहुत लंबे समय, विभिन्न स्थानों पर भिन्न-भिन्न ऋषियों ने रचा था। शुनः शेप के आख्यान से यह संकेत मिलता है कि उसी युग में हिंसा और अहिंसा का प्रश्न जन-मानस को उद्वेलित कर रहा था। पशु-बलि के विरुद्ध विद्रोह की भावना तीव्र हो गई थी, अतः पशु-बलि, मुख्यतः नर-बलि, पर रोक लगा दी गई थी।

यह हड़प्पा के अवशेषों की खुदाई से भी सिद्ध होता है। कालीबंगा, लोथल, बनवाली जैसे स्थानों में अग्निकुंड मिले हैं, जिनमें पशुओं की हड्डियाँ तो मिली हैं, किसी मानव की नहीं, जिसका अर्थ है कि नर-बलिदान निषिद्ध हो गया था। हिमाचल में वे स्थान जहाँ पूरे विधि-विधान के साथ यह यज्ञ होता है, वे हड़प्पाकालीन जीवित बस्तियाँ हैं, और संभवतः वे लोग अपने साथ इन यज्ञों की परंपरा लाए थे। परशुराम उन लोगों का नेतृत्व कर रहे थे, जिन्हें कतिपय प्राकृतिक कारणों और तद्जनित उथल-पुथल में सुरक्षा के लिए इधर-उधर भागना पड़ा था। इस तरह परशुराम हड़प्पा सभ्यता के एक बड़े कर्मठ नेता के रूप में सामने आते हैं।

काईका—बेडों व्रात्यों की तरह की एक और जाति है, इसका नाम नौड़ है। नौड़ों के कुछ परिवार मंडी और कुल्लू क्षेत्र में रहते हैं। ये नौड़ काईका नामक समारोह में मुख्य भूमिका निबाहते हैं। काईका दो-तीन स्थानों पर 'आद्पुरख' फुंगनीदेवी और हू-रंग के 'नारण' के उपलक्ष्य में प्रायः पाँच सालों में एक बार किया जाता है। इस समारोह में नौड़ न केवल मनुष्यों के, अपितु स्वयं नारण देवता के पापों और दुष्कृत्यों के कुपरिणामों को दूर करता है। वह देवता तथा लौकिक जीव पर, जिसका भी पाप्-मोचन करना होता है, अन्न के दाने फेंकता है और मंत्र पढ़ता जाता है और देव तथा मानव जब निष्पाप हो जाते हैं, तो स्वयं नौड़ पर मंदिर का पुजारी पवित्र जल और भेखल पौधे के पत्ते फेंकता है। इस पर नौड़ मृतक की भाँति पृथ्वी पर गिर पड़ता है। लोग उसे एक अर्थी पर डालकर मंदिर से बाहर निकालते हैं। तब वाद्य-यंत्र शोक-संगीत बजाते हैं। बाहर एकत्रित लोग 'अर्थी' पर घास और वृक्षों की छोटी-

Digitised by
Tharah Kardu

छोटी टहनियाँ फेंकते हैं और कहते हैं कि उनके सभी दोष उसमें लग जाएँ। इस प्रकार वह अर्थी गाँव के चारों ओर फिराई जाती है। वापसी पर देवता के गूर उसके पुनर्जीवन की प्रार्थना करते हैं, जो एक-आध घंटे में स्वीकृत हो जाती है और 'मृत' नौड़ जी उठता है।

अपने दोषों और पापों को दूसरों के गले मढ़ने की कायरतापूर्ण मनःदशा संभवतः उसी डर का परिणाम है, जिससे बाहर निकल पाना वह असंभव समझता हो। इसी भाव ने पहाड़ी मानव को एक अन्य मायाजाल में उलझा दिया। वह मृत्यु, व्याधि, बीमारी, निर्धनता, संपन्नता, रूप, सौंदर्य, शादी-ब्याह, यात्रा सभी को 'भगवान् की मरजी', 'भाग की रेखा' मानता है। मरना-जीना, आना-जाना, खाना-पीना प्रायः सभी कुछ दाना-पानी अर्थात् अन्न-जल पर निर्भर है, मानो मनुष्य केवल गुड़िया मात्र है जिसे भाग्य, भगवान् और अन्न-जल जहाँ चाहे, जिधर चाहे जब घुमा-फिरा ले।

tharahkardu.in

सप्तम अध्याय

सामाजिक जीवन

'अन्न-जल' ने लोगों के मन पर पारलौकिक शक्ति के प्रति आस्था तो उत्पन्न की ही है, साथ में उनके संपूर्ण जीवन को यथार्थता भी दी है। अन्न और जल की प्राप्ति उनके जीवन की धुरी है, जिसके इर्द-गिर्द उनकी आर्थिक और सामाजिक व्यवस्था घूमती है। यही कारण है कि गाँव और अन्य छोटी-बड़ी बस्तियाँ सामान्यतः उन्हीं स्थानों पर हैं जहाँ अन्न-उत्पादन के लिए भूमि और पीने के लिए जल सुलभ है।

भूमि पर आश्रय—वास्तव में देखा जाए तो प्रत्येक वर्ग या समुदाय की सामाजिक व्यवस्था उसकी अर्थनीति पर आश्रित होती है। हिमाचल प्रदेश के आर्थिक ढाँचे का आधार भूमि है। यहाँ की जनसंख्या का लगभग 95 प्रतिशत भाग कृषि-कर्म से निर्वाह करता है, वह चाहे खाद्यान्न के उत्पादन से हो, पशुपालन से अथवा सेब, आम, अंगूर, चाय और आलू जैसे फलों की पैदावार से हो।

भौगोलिक कारणों से कृषि योग्य भूमि की यहाँ पर कमी है, जिससे परिवार के भरण-पोषण के लिए पर्याप्त अन्न-धन उत्पन्न करने के लिए अत्यधिक परिश्रम करना पड़ता है। इस कार्य में परिवार के लगभग सभी सदस्यों का सहयोग वांछित होता है। जितने अधिक हाथ काम करने वाले होते हैं, संपन्नता की संभावना उतनी अधिक बढ़ जाती है।

संयुक्त परिवार—कृषि की आवश्यकता ही, संभवतः सर्वप्रमुख कारण है जिसने हिमाचल में संयुक्त परिवार परंपरा की नींव को पुष्ट किया है। यह परंपरा इतनी बलवती है कि साधारणतया प्रयत्न यही रहता है कि परिवार के सभी पुत्र विवाहोपरांत अपनी गृहस्थी बन जाने पर भी अपने उप-परिवारों सहित इकट्ठे रहें, जिससे कृषि की विविध माँगों की पूर्ति के लिए जन-शक्ति उपलब्ध हो सके। यदि एक व्यक्ति हल चलाने का काम सँभालता है, तो दूसरा भेड़-बकरियाँ चराने का, तीसरा पशुपालन का जिम्मा लेता है, तो चौथा परिवार के अन्य हितों की देखभाल करता है। कई बार देखा गया कि अपने-अपने निर्दिष्ट कार्यक्षेत्र में जीवनपर्यंत संलग्न रहकर वे परिवार की समृद्धि में योगदान देते हैं।

दोघरी—संयुक्त परिवार की अपनी समस्याएँ होती हैं। पृथक्-पृथक् रुचियों

Digitised by
Tharah Kardu

और विचारों के अनेक प्राणियों का एक ही घर में रहना कई उलझनें पैदा कर सकता है, जिसके परिणामस्वरूप परिवार की सुख-शांति और सौहार्द पर बुरा प्रभाव पड़ने की आशंका रहती है। ऐसा लगता है कि इस प्रकार की स्थिति का सामना करने के लिए तथा घर से दूर की भूमि का कुशल नियंत्रण करने के लिए 'दोघरी' या 'छान' का आयोजन किया गया है। दोघरी अथवा छान मुख्य आवास से दूर अन्य गाँव या स्थान पर परिवार की जमीन और मकान को कहते हैं।

पहाड़ी क्षेत्र होने के कारण कृषि योग्य भूमि परिवार की सभी आवश्यकताओं को पूरा करने के उपयुक्त एक ही स्थान पर नहीं होती है। बहुधा गाँव में भूमि अपर्याप्त तो होती ही है, उसकी किस्म भी एक जैसी नहीं होती। यदि गाँव के पूर्व में खेत गहरी और उपजाऊ मिट्टी के हैं, तो पश्चिम में स्थित खेत कंकरीले और चट्टानी हो सकते हैं। यदि कुछ खेतों में सीलन रहती है, तो दूसरा भाग व्यर्थ बंजर हो सकता है। इसके अतिरिक्त पर्वत और धारों की ढलान पर बने सीढ़ीदार खेत जलवायु और समुद्रतल से ऊँचाई के अनुरूप सभी प्रकार की फसलें उगाने के अनुपयुक्त होते हैं, अतः संपन्न और बड़े परिवारों की जमीन दो-दो तीन-तीन पृथक्-पृथक् स्थानों पर होती है। यह जमीन एक-दूसरे से पाँच-सात मील दूर भी होती है, अतः इस बिखरी हुई जमीन की देखरेख और उस पर कृषि करने के लिए वहाँ पर संयुक्त परिवार का एक उप-परिवार बस जाता है, अथवा मूल आवास से ही फसली काम करने के लिए परिवार के लोग कुछ दिनों के लिए वहाँ जाकर ठहरते हैं। इस प्रकार के दोघरियाँ संयुक्त परिवार की सत्ता अक्षुण्ण रखने में सहायक होती हैं। संयुक्त परिवार के दो-तीन उप-परिवार इन दोघरियों पर बस जाते हैं। ये उप-परिवार एक प्रकार से स्वतंत्र भी होते हैं, दैनिक जीवन में उन पर कोई अंकुश नहीं रहता, किंतु ब्याह-शादी, खुशी-गमी, तीज-त्योहार या मेले-उत्सव पर सभी एकत्र हो जाते हैं और मिलजुलकर भाग लेते हैं। वे पृथक् भी हैं और इकट्ठे भी रहते हैं। अतः इस प्रकार के परिवारों में संपत्ति के बँटवारे की नौबत अपेक्षाकृत कम आती है। कुछ ऐसे परिवार भी हैं जो तीन-तीन पीढ़ियों से संयुक्त चले आ रहे हैं और फलस्वरूप पितामह के भाइयों के परिवारों से लेकर पोतों तक के परिवार इकट्ठे रहते हैं और एक परिवार के सत्तर-अस्सी सदस्य बन जाते हैं।

किंतु धीरे-धीरे यह स्थिति बदल रही है। आधुनिक जीवन, नई शिक्षा, परिवर्तित आर्थिक व्यवस्था, नवीन संदर्भ और बाह्य प्रभाव, सभी संयुक्त परिवार परिपाटी पर बड़ा दबाव डाल रहे हैं, जिससे परिवारों के छोटे-छोटे और पृथक् होने की प्रवृत्ति जोर पकड़ती जा रही है।

कृषि की माँग ने अधिकाधिक सदस्यों वाले संयुक्त परिवार और उस परिवार

tharahkardu.in

का सृजन करने के लिए बहुपत्नी प्रथा को जन्म दिया। इसी कृषि के संरक्षण के सिद्धांत ने एक विपरीत स्थिति भी उत्पन्न की, जिससे भू-संपत्ति को छिन्न-भिन्न होने से बचाने के लिए और उसे स्वावलंबी आर्थिक इकाई बनाए रखने के लिए सभी भाई एक ही पत्नी से विवाह करते हैं। बहुपत्नी और बहुपति प्रथाएँ एक ही उद्देश्य की प्राप्ति के दो चरम उपाय हैं। परिवार को संयुक्त बनाए रखने और खेती से अधिक उत्पादन प्राप्त करने के लक्ष्य ने इस विरोधात्मक स्थिति को पैदा किया है। एक में परिवार का फैलाव और दूसरी में उसका सीमित करना दृष्टिगोचर रहा है। जिस परिवार के पास पर्याप्त कृषि योग्य भूमि रहती रही, वहाँ प्रयत्न यह रहा कि न केवल सभी भाई इकट्ठे रहें, अपितु उनमें से प्रत्येक की एक या दो पत्नियाँ हों, जिससे कृषि उत्पादन के लिए अधिक व्यक्ति उपलब्ध हो सकें।

बहुपति प्रथा—जिन क्षेत्रों में भूमि कम है और कृषि वर्ष में केवल एक बार ही संभव है और तब भी कुछ इने-गिने मोटे अनाज ही पैदा किए जा सकते हैं, वहाँ द्रौपदी विवाह ही लोकप्रिय रहा है। द्रौपदी विवाह के अंतर्गत कई भाई एक पत्नी का उपभोग करते हैं, परंतु कहीं-कहीं ऐसा भी देखा गया है कि स्त्री के पतियों का आपस में कोई संबंध नहीं होता। ऐसी स्थिति में वे पति परस्पर धर्मभाई का रिश्ता स्थापित कर लेते हैं, किंतु उनकी संतान का उनकी संपत्ति पर कोई अधिकार नहीं होता है। दूर के रिश्ते के भाइयों की भी कई बार एक ही पत्नी हो सकती है। छह से अधिक भाई हों तो वे दूसरी स्त्री भी घर में ला सकते हैं। ये दोनों उन सभी भाइयों की सहपत्नियाँ होती हैं। सभी भाई बच्चों के पिता कहलाते हैं, बड़ा भाई 'बड़ा पिता' और छोटा भाई 'छोटा पिता' कहलाता है। किन्नौर में इन्हें 'तेग बाबल' और 'गोता बाबल' कहते हैं। यह भी देखा गया है कि प्रथम संतान ज्येष्ठतम भाई की, दूसरी उससे कनिष्ठ की, तीसरी उससे छोटे की मानी जाती है, भले ही वास्तव में उनका जनक एक ही पुरुष हो। अनेक बार हास्यकर स्थिति उत्पन्न हो जाती है, जहाँ 'बाप' और 'बेटा' तथा पति और पुत्र लगभग समान आयु के होते हैं।

बहुपति प्रथा का प्रचलन किन्नौर और लाहुल में रहा है। स्पिति, चंबा के पांगी क्षेत्र, कुल्लू के भीतरी भाग, शिमला के पूर्वी छोर और सिरमौर के रेणुका इलाके में कहीं-कहीं इस परंपरा का अनुसरण किया जाता है। समय के साथ यह प्रथा समाप्त होती जा रही है।

किन्नौर और स्पिति में गृहस्थी को सीमित बनाए रखने में बौद्ध विहार भी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। इन विहारों में बालक और बालिकाएँ भिक्षु एवं भिक्षुणी का जीवन व्यतीत करती हैं। लामा बनने वाला बालक सात या दस वर्ष की आयु में ही दीक्षित हो जाता है। यह दीक्षा कानम, शूनम, गुरुघंटाल, ताबो की अथवा किसी

Digitised by
Tharah Kardu

अन्य बौद्ध विहार में ली जा सकती है। ये लामा आयुपर्यंत ब्रह्मचारी रहते हैं। लामाओं की ऐसी श्रेणी भी है, जिनमें विवाह करने का रिवाज है। कन्याएँ भी आजन्म कुँवारी रहकर विहार में जीवन व्यतीत करती हैं। उनका मुख्य कार्य स्वाध्याय और धर्म-प्रचार होता है। इन्हें 'जोमो' कहा जाता है।

लाहुल और किन्नौर में संपत्ति पर लामा और जोमो को छोड़ सारी संतति का अधिकार होता है, किंतु स्पिति में उत्तराधिकार और संपत्ति का स्वामित्व केवल ज्येष्ठ पुत्र का होता है। बाकी पुत्र मठ में जाकर दीक्षित हो आजन्म ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं। गृहस्वामी यदि निस्संतान मर जाए, तो उसका छोटा भाई मठ से, जिसे 'गोम्पा' कहा जाता है, आकर गृहस्थी सँभाल लेता है। वह प्रायः बड़े भाई की पत्नी से ही संतान उत्पन्न करता है। कहीं-कहीं वह नई पत्नी लाकर उससे पुत्र उत्पन्न कर गृहस्थी का स्वामी बन जाता है।

खंग चुंग—स्पिति की एक और विशेषता यह है कि ज्येष्ठ पुत्र ज्योंही विवाह करता है, वह परिवार का मुखिया बन जाता है और पैतृक जमीन और मकान को अपने अधिकार में ले लेता है। उसका पिता मुखिया-भार से निवृत्त हो एक दूसरे मकान में रहने चला जाता है। इस मकान को खंग चुंग (छोटा घर) कहा जाता है। यह खंग चुंग दायित्व-निवृत्त माता-पिता का स्थायी निवास होता है। पुश्त-दर-पुश्त पिता खंग चुंग में ही रहता है। यदि विवाह के समय पितामह भी जीवित हो, तो उसके निवास के लिए एक अन्य पृथक् घर होता है। इस घर में केवल पितामह ही रह सकता है। यह व्यवस्था यौवन के सत्कार के लिए हो, या शायद इसलिए कि पुत्र के एकाधिकार में कोई विघ्न न आए। यह भी संभव है कि खंग चुंग द्वारा आयुजनित अनुभव को निकट रखकर दैनिक जीवन के सामने आने वाली समस्याओं का हल ढूँढ़ने में उससे सहायता का लिया जाना वांछित हो।

आयु पूजा—यों भी आयु का सत्कार समस्त हिमाचल प्रदेश की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता है। आयु पूजनीय है जिसे हर स्थान पर, प्रत्येक अवसर पर महत्ता दी जाती है। चाहे कोई मेला हो या मनोरंजन का अन्य अवसर, पर्व हो, त्योहार हो, उसकी अगुआई स्वीकार की जाती है। नाटी आदि नृत्य का नेतृत्व सबसे बड़ी आयु वाला व्यक्ति ही करता है और नृत्य आरंभ करने से पूर्व देवता के समान उसकी वाद्य-यंत्रों से आराधना की जाती है। हाँ, यह आवश्यक है कि आयु के साथ जाति और वर्गगत श्रेष्ठता भी हो, अतः सबसे ऊँची जाति का वयोवृद्ध व्यक्ति ही सामान्यतः इस प्राथमिकता का अधिकारी होता है।

यह जातीय श्रेष्ठता खाने की पंगत (पंक्ति) में भी विशेष रूप से लक्षित होती है। कुछ काल पूर्व तक तो ये पंगतें कई बार भयंकर विवाद का सूत्रपात करती थीं।

tharahkardu.in

कलह का कारण पंगत में स्थान होता था। कौन व्यक्ति किस स्थान पर बैठा है, क्या वह उस स्थान का अधिकारी है ? सामूहिक भोज या 'धाम' के अवसर पर पंगत की पहली जगह पर साधारणतया वृद्ध पुरुष ही बैठा करता है।

हल घृणा—हिमाचली जन-जीवन का विस्मयकारी पक्ष एक दूसरे क्षेत्र में भी सामने आता है। इस प्रदेश का जीवन कृषि पर आधारित है। प्रायः सभी परिवारों के पास अपनी थोड़ी-बहुत जमीन है, किंतु खेती कमाने के प्रमुख साधन हल के प्रति यहाँ प्रतिकूलात्मक दृष्टिकोण है। ब्राह्मणों और राजपूतों के मूर्धन्य वर्गों में हल के लिए स्पष्ट घृणा है। वे सभी जमीन के स्वामी हैं, लेकिन स्वयं खेती नहीं करेंगे, हल नहीं चलाएँगे। यहाँ तक कि उनकी श्रेष्ठता, महानता और पवित्रता का मानदंड ही हल है। यदि वे हल न चलाएँ तो उनकी शुचिता अक्षुण्ण है। कहीं दुर्दिनों में दुर्भाग्यवश खेत में हल चला लिया तो श्रेष्ठता के उच्च शिखर से गिरकर नीचता और हीनता के गहरे गर्त में पहुँच जाते हैं। जाति में उनका स्थान नीचा हो जाता है और उनके सगे-संबंधी भविष्य में उनके साथ रोटी-बेटी का रिश्ता करने में हिचकिचाहट महसूस करते हैं। स्त्रियों के लिए हल में हाथ लगाना यों भी निषिद्ध है।

यह कहावत सर्वत्र प्रचलित है कि 'उत्तम खेती, मध्यम व्यापार और निकृष्ट चाकरी', किंतु व्यवहार में खेती को ही निकृष्ट स्थान दिया जाता है। कृषि के प्रति इन वर्गों में इस द्वेष के संभवतः दो कारण हैं। एक तो यह है कि ये वर्ग देश के दूसरे भागों से आकर यहाँ बसे। यहाँ के पहले के निवासी खेतीबाड़ी करते थे। नवागंतुक शक्तिसंपन्न रहे होंगे, स्थानीय लोगों से घुलमिल जाना उन्हें घृणास्पद लगा होगा। अतः अपना पृथक् व्यक्तित्व बनाए रखने के लिए उन्होंने कृषि-कर्म से ही अलग रहना उचित समझा होगा। यह सामंतवादी व्यवस्था का उदाहरण है।

यह भी संभव है कि पहाड़ी भूमि इतनी उपजाऊ तो है नहीं कि उससे सहज में रोजी कमाई जा सके। जीवन योग्य उत्पादन लेने के लिए इतना श्रम और समय लगाना पड़ता है कि उसके अलावा दूसरा कोई काम हो नहीं सकता। ब्राह्मणों के विद्याध्ययन, पूजा-पाठ और राजपूतों के शासन-कार्य में इससे रुकावट पड़ती रही हो, अतः उन्होंने इसे अपने जीवन में विघ्न माना हो। कालांतर में यह भाव रूढ़ि में परिवर्तित हो गया और चाहे ब्राह्मण और राजपूत पढ़ना-लिखना, शासन का कामकाज या देश-रक्षा करें या न करें, हल उनके लिए अछूत बना रहा है। वैज्ञानिक युग और कृषि-क्रांति ने भाग्यवश इस अहितकर दृष्टिकोण में सुधार लाना आरंभ कर दिया है।

सहकारिता—सहकारिता पहाड़ी मनुष्य के लहू में है। प्रकृति यहाँ इतनी क्रूर है कि अकेला व्यक्ति अपने आपको सर्वथा अकिंचन एवं असमर्थ पाता है, अतः यह स्वाभाविक है कि वह मिलजुलकर रहे, मिलजुलकर काम करे। गाँव में अमीर-गरीब,

Digitised by Tharah Kardu

छोटा-बड़ा कैसा भी परिवार हो, आवश्यकता पड़ने पर सभी मिलकर उसका काम निकाल लेते हैं। कोई व्यक्ति चाहे तो मकान बनवाने से लेकर फसल की बिजाई-कटाई तक गाँव वालों से करवा सकता है। इस पद्धति को कहीं-कहीं 'दारगी' या 'हेला' कहते हैं। इस सामूहिक कार्य के बदले में काम करने वालों को केवल मात्र अच्छा भोजन देना और बुलाए जाने पर स्वयं दूसरों के काम में सहायक होने को प्रतिबद्ध होना होता है। यदि दिन-भर का काम हो तो दोनों समय का भोजन, यदि आधे दिन का तो केवल प्रातःकालीन भोजन ही खिलाया जाता है। मकान बनाने के लिए लक्कड़ या स्लेटें लाना जैसा बड़ा काम हो, तो गाँव के हर घर से एक न एक व्यक्ति अवश्य 'दारगी' में सम्मिलित होता है। इस प्रकार बहुमंजिला मकान के लिए भारी-भारी लक्कड़ और सैकड़ों स्लेटें एक दिन में ही द्वार पर पहुँच जाती हैं। विवाह और यज्ञ जैसे सामाजिक कार्यों में भी गाँव के निवासियों का पूरा सहयोग होता है। लकड़ी काटना, धान कूटना, गेहूँ पीसना, सभी काम मिलकर करते हैं। बाहर से आने वाली बारात की देखरेख और विवाहोपरांत दिए जाने वाले जन-भोज, धाम का प्रबंध भी गाँव के अपने-पराए कर देते हैं। घरवालों का कार्य तो बहुधा भोज में लगने वाली सामग्री मात्र उनके हवाले कर देना होता है।

मधुर स्वभाव—स्वभाव से पहाड़ों पर रहने वाले लोग मधुर हैं। पिछली शताब्दी के मध्य में जब इस प्रदेश में सिख सत्ता का अंत और अंग्रेजी एकाधिकार का समारंभ हुआ था, तब जो पहला अंग्रेज अफसर काँगड़ा में नियुक्त हुआ था, उसने यहाँ के निवासियों के प्रति अपना मत व्यक्त करते हुए यों कहा था :

"यहाँ के लोग सरल, मेहनती, मितव्ययी और ईमानदार हैं। व्यवहार में खरे, मिलनसार और सर्वथा विश्वासपात्र हैं। पूरे स्वामिभक्त, अतिथिपूजक और सहनशील हैं। इन्हें विश्वास और जिम्मेदारी की जगह पर निःशंक नियुक्त किया जा सकता है। इनकी बातचीत के ढंग से यद्यपि हिंदुस्तानियों की-सी दिखावे की नफासत नहीं है, तथापि उसमें अकृत्रिम शिष्टता, शालीनता और भोली सरलता भरपूर पाई जाती है। सत्य पर दृढ़ रहना यहाँ के शील का विशेष गुण है।" वह अंग्रेज अधिकारी पाँच वर्ष तक काँगड़ा का जिलाधीश रहा था। उसके अनुसार उसकी पाँच साल की जिलाधीशता में एक भी ऐसी घटना नहीं हुई जब किसी ने जानबूझकर झूठी गवाही दी हो। "लोग वचन के पक्के हैं, लेन-देन के व्यवहार में लिखित इकरारनामा कभी-कभार करते हैं। मौखिक वचन ही इतना पक्का समझा जाता है जितना लिखित बॉण्ड।" बार्निस नामक इस जिलाधीश का कहना है कि "बुराई के नाम पर इतना ही कहा जा सकता है कि यहाँ के लोग अत्यंत अंधविश्वासी हैं, छुआछूत और जातपात की कुप्रथाओं से ग्रस्त हैं, जादू-टोने, भूत-प्रेत, शकुन-अपशकुन को बहुत

tharahkardu.in

मानते हैं, बीमारी, आपत्ति, यहाँ तक कि फसल की खराबी को भी किसी देवी-देवता या पीर-फकीर का प्रकोप मानते हैं। अपनी अनख और आन की रक्षा के लिए बड़े से बड़ा बलिदान कर देते हैं। अपमान या बदतमीजी का एक शब्द या अन्यायपूर्ण व्यवहार उनके सदा के असहयोग या वैर के लिए काफी है।"

ठीक यही बात हिमाचल के अन्य क्षेत्रों की भी है। अंतर केवल इतना है कि यह स्थिति सन् 1850 की थी। इधर के सौ-सवा सौ वर्षों में गुणों और अवगुणों, दोनों में कमी आई है। फिर भी यह निर्विवाद तथ्य है कि यहाँ का मानव आज देश के अन्य भागों की अपेक्षा अधिक सरल, मृदुभाषी, शांतिप्रिय, परिश्रमी, निष्कपट और ईमानदार है।

सामाजिक जीवन की एक अन्य रोचक बात यह है कि गाँव के सभी लोग एक-दूसरे को किसी न किसी रिश्ते से संबोधित करते हैं। यदि कोई वयोवृद्ध पुरुष है, तो वह मामा, चाचा या दादा पुकारा जाता है; इसी प्रकार स्त्री मामी, बुआ, चाची, नानी और दादी कहलाती है। मुँहबोले इन रिश्तों के लिए भी उसी प्रकार का सम्मान प्रदर्शित होता है जैसा सगे-संबंधों के प्रति। गाँव की युवती सभी युवकों और बालकों की बड़ी या छोटी बहन है, हर युवक भाई है, वह चाहे अमीर घर का हो, या गरीब का, तथाकथित ऊँची जाति का हो अथवा नीची का। इस प्रकार समूचा गाँव एक बड़ा कुटुंब-सा बन जाता है। किंतु जिस प्रकार कुटुंब में कलह होता है, उसी प्रकार इस बृहत् कुटुंब में भी मनोमालिन्य पाया जाता है। परिणाम यह कि कई बार छोटी-छोटी बातों पर विवाद उठ खड़ा होता है, जिसके लिए थानों, अदालतों तथा देवता की शरण जाना पड़ता है। आधुनिक अदालतें तो गाँव से दूर जिला या तहसील केंद्र में ही होती हैं, वहाँ तक पहुँचने के लिए ऐसा भी देखा गया है कि गाँव से दोनों विरोधी पक्ष एक साथ यात्रा पर निकलते हैं। मार्ग में साथ ठहरते, खाना-पीना करते हैं, कचहरी में पहुँचकर एक-दूसरे के विरुद्ध बयान देते हैं, झूठी-सच्ची साक्षी पेश करते हैं, आरोप और प्रत्यारोप लगाते हैं, किंतु जब इससे निवृत्त हो चुकते हैं, तो वापसी यात्रा भी साथ ही करते हैं।

आपत्काल, विपत्ति और संघर्ष में भी इस प्रकार मूलभूत मानवीय मूल्यों को बनाए रखना यहाँ के लोगों की निजी विशेषता है। इसी ने उन्हें मेलों, त्योहारों और पर्वों में आनंद प्राप्त करने का मार्ग दिखाया ताकि वे बीते हुए कल की दुश्चिंताओं, आज की समस्याओं और कल की भयावहता से त्राण पा सकें। भले ही यह मुक्ति कुछ एक क्षणों के लिए ही हो।

जैसा हम आगे देखेंगे, मेले तो उनकी सौंदर्यानुभूति के प्रकाशन और उल्लासाभिव्यक्ति के साधन हैं। पर्वों और त्योहारों को उन्होंने सामाजिक और

Digitised by
Tharah Kardu

धार्मिक तुष्टि का माध्यम बनाया है। इन अवसरों पर वे परस्पर मिलते-जुलते हैं और धर्म के शास्त्रीय तथा लौकिक तत्त्वों से गहरा परिचय प्राप्त करते हैं।

पर्व और त्योहार—पर्व और त्योहारों पर आम तौर पर लोग मंदिरों में देव-पूजा के लिए जाते हैं। कतिपय ऐसे अवसर भी हैं जब नदी सरिता में नहाना पुण्य का काम समझा जाता है। पर्व और त्योहार मुख्य वही हैं जो भारत के अन्य भागों में मनाए जाते हैं, किंतु यहाँ पर प्रत्येक संक्रांति भी एक प्रकार का पर्व मानी जाती है, विशेषतः वैशाख, जेठ, मार्गशीर्ष और माघ की संक्रांतियों के दिन सगे-संबंधियों को न्योता दिया जाता है, कुल देवता की पूजा होती है और देवालयों में भजन-कीर्तन होता है। जेठ की संक्रांति के दिन प्रदेश के कई भागों में नए अन्न के पकवान बनाकर देवार्पण किए जाते हैं। ग्राम के मुख्य मंदिर में उस दिन मेला लगता है और ग्रामवधुएँ कचौरी, पूले, लूची, पोल्डू और बड़े बनाकर विधिवत् देवता को समर्पित करती हैं। पुरुष मंदिर के आँगन में देव-कीर्तन करते हैं, भजन गाते हैं और नृत्य करते हैं।

छोटे-मोटे त्योहार तो बहुत हैं और उनकी गिनती भी कठिन है, किंतु वसंत पंचमी, होली, फाग, रली, चैत्र और आश्विन के नवरात्रे, नागपंचमी, जन्माष्टमी, दीपावली और दुशैहरा विशेष महत्त्व रखते हैं। कुछ स्त्रियाँ पूर्णमासी, करवाचौथ और हरितालिका का व्रत रखती हैं।

शिवरात्रि—इन पर्वों और त्योहारों में सर्वाधिक महत्त्व शिवरात्रि का है। यह त्योहार समूचे प्रदेश में मनाया जाता है। हाँ, इसके मनाने के तरीके अलग-अलग हैं। काँगड़ा तथा शिवालिकीय क्षेत्र में इस दिन मंदिर में जाकर दूध, विल्वपत्र आदि से शिव की पूजा की जाती है। उपवास रखा जाता है। कुल्लू, चंबा, शिमला और सिरमौर में इस दिन प्रायः सभी नर-नारी व्रत रखते हैं, शिव-पूजा मंदिर में जाकर करते हैं किंतु जब तक संध्या-समय घर पर बनाए गए 'महादेऊ' की पूजा-अर्चना न की जाए, तब तक व्रत पूरा नहीं समझा जाता है। इस 'महादेऊ' की पूजा ही शिवरात्रि त्योहार का मुख्य आकर्षण है। कहीं-कहीं यह 'महादेऊ' जौ के पौधों, विल्वपत्र, नीले रंग के ऊजरजोटी नामक पुष्प और पाजा वृक्ष की पत्तियों को धागे से पिरोकर बनाया जाता है। ऊपर से गलगल अथवा उसकी पत्तियाँ गूँथी जाती हैं। इस दिन नाना प्रकार का भोजन बनाया जाता है, जिसमें कचौरियाँ, बड़े, चावल के पापड़, लूची और मांस अनिवार्य हैं। महादेव के पूजा-मंडप के लिए आटे के तले हुए हाथी, बकरे, भेड़े आदि पकाए जाते हैं। पूजा के उपरांत सारी रात नृत्य और संगीत चलता रहता है।

शिवरात्रि का एक आवश्यक अंग बहनों, पुत्रियों तथा उनके बच्चों के लिए त्योहार पर बने पकवानों का पहुँचाना है। दूसरे दिन इन्हें छाबड़ियों या किल्टों में डालकर दूर-दूर के गाँव में, जहाँ भी वे कुलजायाएँ ब्याही हुई हों, पहुँचाया जाता है।

tharahkardu.in

वसंत पंचमी—वसंत पंचमी का त्योहार बिलासपुर में धार्मिक कम, ऐतिहासिक अधिक है। दो दिनों का यह त्योहार वहाँ नगर के निकट गुरु का लाहौर नामक स्थान पर मनाया जाता है।

विश्वास यह किया जाता है कि इस स्थान पर गुरु गोबिंदसिंह का विवाह हुआ था। गुरु गोबिंद तब मुगलों से युद्ध कर रहे थे। उनकी सगाई लाहौर में तय हो चुकी थी, विवाह की तिथि भी पंडित-पुरोहित ने निश्चित कर ली थी, किंतु मुगलों के साथ चले संघर्ष को देखकर गुरु ने आनंदपुर से लाहौर जाना उचित नहीं समझा। अतः उन्होंने अपने ससुराल वालों से लड़की लेकर वहीं आने का अनुरोध किया। लड़की लेकर वे आए और आनंदपुर के निकट एक स्थान पर ठहर गए। लोगों ने उस स्थान को ही लाहौर मान लिया और उसे गुरु का लाहौर नाम दिया। कहा जाता है कि उस स्थान पर तब जल नहीं था। गोबिंदसिंह ने अपने भाले को तीन बार एक पत्थर पर मारा और वहाँ से पानी की एक धारा फूट पड़ी। वधू को उस धारा में नहलाया गया। उसी स्थान पर गुरु के घोड़े की टाप भी मौजूद है। तब से वसंत पंचमी का त्योहार सिख और बिलासपुर वाले यहीं मनाते चले आ रहे हैं। जो धारा गोबिंदसिंह के भाले से फूटी थी, उसे त्रिवेणी कहा जाता है, जिसका उतना ही महत्त्व है जितना गंगा, यमुना और सरस्वती के संगम का है। गुरु का विवाह वसंत पंचमी को हुआ था। इसलिए आज भी अनेक सिख इस दिन यहाँ त्रिवेणी पर ब्याह रचाते हैं।

मिंजर—वसंत पंचमी की तरह ही कुछ अन्य त्योहार भी हैं, जिन्हें किसी ऐतिहासिक घटना के संसर्ग के कारण ऐतिहासिक स्वरूप मिल गया है। इस प्रकार के पर्वों में बुढ़ी दीवाली अथवा दियाउड़ी और मिंजर उल्लेखनीय हैं।

मिंजर वरुण की पूजा का त्योहार है। कृषि यहाँ वर्षा पर आश्रित है, अतः यह स्वाभाविक ही है कि लोग वरुण की पूजा करें और उसकी कृपा के प्रति कृतज्ञता प्रकट करने के लिए धान और मक्की की बालियाँ उसे भेंट करें। श्रावण के दूसरे रविवार को इन बालियों की पारस्परिक भेंट से यह त्योहार आरंभ होता है। पहले यह परंपरा थी कि इसे लोग एक सप्ताह तक पहनते थे और तीसरे रविवार को समारोह-पूर्वक रावी में विसर्जित किया करते थे। राजाओं के समय तो इस अवसर पर मिंजर, फल और मिठाइयाँ देव मंदिरों में चढ़ाई जाती थीं। पुनः राजा इन्हें अपने अधिकारियों में बाँटता था। अब मिंजर की भेंट को बाँटने का काम नगरपालिका करती है। संभवतः इस मिंजर के दिन दसवीं शताब्दी में साहिल वर्मा ने या कभी बाद में राजा प्रतापसिंह वर्मा ने किसी युद्ध में विजय प्राप्त की हो। तब से यह पर्व उनकी जीत का प्रतीक बन गया। यह भी हो सकता है कि मिंजरों की भेंट वास्तव में उस सहायता अथवा कर का प्रतीक हो, जिसे प्रजा राजकोष को भरने के लिए आपत्काल में स्वेच्छा

Digitised by Tharah Kardu

से देती रही हो।

वरुण-पूजा, विजय-समारोह और राजभक्ति के साथ मिंजर मेले में चमत्कार का समावेश भी हो गया। यह चमत्कार किसी सिद्ध महात्मा ने रावी के प्रवाह को ही बदलकर किया माना जाता है। इस संबंध में एक किंवदंती है कि शताब्दियों पूर्व रावी चंबा नगर के चौगान से होकर बहा करती थी। नदी के दाहिने किनारे चंपावती देवी का मंदिर था और बाईं ओर हरिराय का मंदिर। एक दिन एक महात्मा आए और चंपावती के मंदिर में आसन लागकर बैठ गए। वह स्वयं हरिराय के दर्शन करने नदी तैरकर जाया करते थे। एक दिन राजा और नगर के लोग महात्मा के पास आए और विनती की कि "महाराज, हम भी हरिराय के दर्शन करना चाहते हैं, किंतु नदी हम तैर नहीं सकते हैं, इस कारण हमारी अभिलाषा पूर्ण नहीं हो सकती है।" महात्मा ने नगरवासियों की सहायता से चंपावती के मंदिर में एक महान् यज्ञ किया। यह यज्ञ सात दिनों तक होता रहा। इस बीच उन्होंने सात रंग के रस्से तैयार किए। इस सतरंगी रस्से का नाम मिंजर रखा गया। यज्ञ की पूर्णाहुति की रात नदी ने अपना बहाव बदल लिया और हरिराय के दर्शन लोगों के लिए सुलभ हो गए।

रली—करवाचौथ और हरितालिका तो सामान्यतः विवाहित स्त्रियों के त्योहार हैं, किंतु काँगड़ा में रली ऐसा त्योहार है जिसे केवल अविवाहित कन्याएँ मनाती हैं। रली वस्तुतः कन्याओं का वर-प्राप्ति का व्रत है। यह व्रत चैत के सारे महीने रखा जाता है।

संक्रांति से एक दिन पूर्व रली व्रत रखने वाली सभी ग्राम अथवा नगर-कन्याएँ एक स्थान पर रली की स्थापना करती हैं। रली की स्थापना के लिए भूमि में कौड़ियाँ दबाई जाती हैं। उनके ऊपर शिव और पार्वती की मिट्टी की मूर्तियाँ रखी जाती हैं। संक्रांति के दिन प्रातःकाल लड़कियाँ फूल चुन लाती हैं और जौ के पौधे, पुष्प, अक्षत और कुंकुम से रली की पूजा करती हैं। जिस कन्या के घर रली स्थापित होती है, पूजा के उपरांत लड़कियाँ मिलकर उसे नचाती हैं। संध्या-समय पुनः शिव-पार्वती की आरती होती है, प्रसाद चढ़ाया जाता है और कीर्तन होता है।

बैसाख की संक्रांति से एक दिन पूर्व काफी बड़ा भोज दिया जाता है। शंकर को दूल्हा बनाकर बारात से नगर का चक्कर कटवाया जाता है। उसके पश्चात् बारात रली के घर आती है। वहाँ दो पुरोहित विधिपूर्वक रात्रि में शिव और रली के फेरे कराते हैं। अगले दिन रली, शंकर और पार्वती की मूर्तियों का विसर्जन और जलप्रवाह किया जाता है।

'बी मा' विधि माता—जेठ के पहले पखवाड़े में मुख्यतः सतलुज उपत्यका में" स्त्रियाँ 'बी मा' (विधि माता), विधाता, का पूजन करती हैं। संक्रांति के दिन 'बी मा'

tharahkardu.in

की स्थापना की जाती है और प्रातःकाल अन्न-जल ग्रहण किए बिना स्त्रियाँ उसकी पूजा करती हैं। पूजा के उपरांत पतिव्रता स्त्रियों की आख्यानों पर आधारित कथाएँ दी जाती हैं। पंद्रह दिनों के पश्चात् 'बी मा' का विसर्जन किया जाता है। इस अवसर पर स्त्रियों का एक विशेष वर्ग लास्य जैसा नृत्य करता है। विधाता की पूजा पर कही जाने वाली कथाओं में से एक इस प्रकार है–

"एक नदी के किनारे एक वटवृक्ष था। यह वृक्ष बहुत पुराना था। उसमें एक कीड़ा दंपती रहा करते थे। उन्हें वृक्ष में सब सुविधाएँ प्राप्त थीं–खाने के लिए फल, धूप से बचने के लिए छाँव, रहने के लिए सुखदायक घर।

वृक्ष में रहते कीड़ा तथा उसकी कीड़ी को बहुत समय बीत गया। एक बार वसंत ऋतु की समाप्ति पर ग्रीष्म के आरंभ से ही वर्षा का नितांत अभाव हो गया। वृक्ष की पत्तियाँ गर्मी से सूखकर झड़ गईं। ताप का प्रकोप छाँव में भी असह्य हो उठा। कीड़ा दंपती प्यास, भूख और गर्मी से व्याकुल रहने लगा। एक दिन मादा कीड़ा सुबह ही अपनी प्यास बुझाने नदी के तट की ओर चल पड़ी। वहाँ पहुँचकर उसने देखा, बहुत-सी स्त्रियाँ पूजा कर रही हैं। कौतूहलवश वह भी देखती रही और उनकी कथा सुनने लगी, जिसे एक वृद्धा स्त्री सुना रही थी। पूजा और कथा की समाप्ति पर मादा कीड़ा ने मिष्ठान आदि प्रसाद खाया और नदी से जल पीकर घर आ गई।

इस प्रकार वह प्रतिदिन नदी तट पर आती, स्त्रियों की पूजा को देखती, कथा सुनती और घर लौट आती। वह प्रसन्न थी कि दुष्काल में भी उसके आहार का समुचित प्रबंध हो गया है। आठवें दिन उसने अपने पति को भी साथ चलने के लिए प्रेरित किया। अब वे दोनों नदी किनारे जाते और पेट भरकर आहार करते। भगवान् का धन्यवाद देते कि अकाल में भी वह उनकी रक्षा कर रहा है।

सत्रहवें दिन जब वे वहाँ पहुँचे, तो क्या देखते हैं कि वहाँ न तो स्त्रियाँ हैं और न खाने का कोई सामान। काफी देर तक प्रतीक्षा की, किंतु न किसी स्त्री ने आना था, न कोई आई। खिन्न मन दोनों वापस लौट पड़े। भविष्य के बारे में जब यह कीड़ा-युगल चिंतित था, तभी वृक्ष पर एक पक्षी आ बैठा। उसने सूचना दी कि पास के नगर में यज्ञ हो रहा है, यदि वे चाहें तो वहाँ जाकर पेट भर सकते हैं।

आशा लिए कीड़ों की जोड़ी रेंगते हुए यज्ञस्थल पर पहुँची, किंतु विधाता का खेल, इतनी मुसीबत उठाने पर ज्यों ही वे वहाँ पहुँचे, उन पर उबलती दाल गिर पड़ी और उनकी मृत्यु हो गई।

दूसरे जन्म में मादा कीड़े ने एक राजा के घर कन्या के रूप में जन्म लिया। नर कीड़े ने मछुए के घर बालक के रूप में। राजा कन्या-रत्न पा प्रसन्न था, उधर मछुआ भी पुत्र का मुख देखकर फूला न समाया। राजकुमारी का सौंदर्य चंद्रकला के समान

Digitised by
Tharah Kardu

बढ़ने लगा। उसका नख-शिख, रूप-रंग, आचार-व्यवहार सबका मन मोहने लगा। मछुए का पुत्र अपने पिता की सहायता करता और मछलियाँ पकड़कर राजदरबार में बेच आता।

राजकुमारी जब विवाह योग्य हो गई, तो वृद्ध राजा वर की खोज करने लगा। पुत्री की प्रखर बुद्धि को देख उसने निश्चय किया कि उसे स्वयं वर चुनने का अवसर दिया जाना चाहिए। अतः उसने देश-विदेश के राजकुमारों को स्वयंवर में सम्मिलित होने का निमंत्रण भिजवाया।

इन्हीं दिनों राजकुमारी ने स्वप्न में देखा कि पूर्वजन्म में वह कीड़ा थी। स्वप्न में ही वह पति कीड़े से पूछती है :

'स्वामी, आप कहाँ, किस रूप में, क्या कर रहे हैं ?'

'मैं इस नगर में रहता हूँ। मछुए का काम करता हूँ और प्रतिदिन मछलियाँ पकड़कर राजदरबार में दे आता हूँ।'

यह उत्तर मिलते ही उसका स्वप्न टूट गया। अब राजकुमारी मछुए के दर्शन के लिए लालायित हो उठी। बेसबरी से रात खुलने की प्रतीक्षा करने लगी। प्रातःकाल वह अपने पिता के संग दरबार में गई, जहाँ उसने मछुए को जी भरकर देखा। उसके बलिष्ठ शरीर और रूप-यौवन को देख राजकुमारी ने मन में प्रण किया कि वह उसी से ब्याह करेगी।

स्वयंवर का दिन आया। सैकड़ों राजा और राजकुमारों की सभा में राजकुमारी आई, परंतु उसने जयमाला किसी के गले में नहीं पहनाई। सभा समाप्त हुई, परंतु राजा की चिंता आरंभ हुई। पुत्री ने वर क्यों नहीं चुना, यह विचार उसके मस्तिष्क में बराबर उठता रहा। मंत्रियों से सलाह की गई और स्वयंवर के लिए प्रजा को भी आमंत्रित किया गया। राज्य के सभी धनी-मानी, ऊँची जाति के लोगों को बुलावा दिया गया, किंतु राजकुमारी थी कि उसने उनकी तरफ आँख उठाकर भी न देखा।

राजा परेशान हो गया। सभासद चिंतित थे। राजकुमारी का विवाह अवश्य कराना है, किंतु उसके मन में न जाने क्या है कि वह वर चुनती ही नहीं। एक दिन राजा ने बेटी के मन की बात जानने के लिए पूछा :

'बेटी, क्या कारण है, तुमने वर नहीं चुना, क्या तुम आजीवन कुमारी रहना चाहती हो ?'

'पिताजी, मेरा ऐसा कोई विचार नहीं है। आप सारी प्रजा को बिना किसी भेदभाव के बुला लीजिए, मैं देखूँगी कि उनमें मेरा वर बनने योग्य कोई युवक है या नहीं !'

प्यारी पुत्री की बात सुन राजा ने सारी रियासत में ढिंढोरा पिटवाया कि सब

tharahkardu.in

पुरुष अमुक दिन राजधानी में आएँ। उस दिन राजकुमारी प्रजा के किसी भाग्यशाली व्यक्ति को अपना पति चुनेगी।

बहुत-से लोग सज-धजकर नगर में आए। मछुआ भी कौतूहलवश आ गया और तमाशा देखने के लिए एक स्थान पर खड़ा हो गया। राजकुमारी की नजरें उसे खोज रही थीं। उसके सामने आते ही, युवती ने जयमाला उसके गले में डाल दी। वह स्वयं चकित खड़ा था। उपस्थित लोगों में कोलाहल मच गया। कई ओर से आवाजें आईं कि राजकुमारी पागल हो गई है। इसी शोरगुल में, अवसर पा, मछुआ और राजकुमारी भाग गए। सिपाही उनकी खोज में चारों ओर दौड़े और उन्हें कैदी बनाकर राजा के सामने उपस्थित किया।

वृद्ध राजा उन्हें देखते ही आगबबूला हो गया। एक तो बेटी की बेवकूफी पर क्रुद्ध था, दूसरे उसके भाग जाने के प्रयत्न ने आग पर घी छिड़क दिया। उसने राजकुमारी से कहा :

'दुष्टा, कुलटा, तूने मेरे वंश पर कालिख पोत दी है। क्या इसी दिन के लिए पाल-पोसकर मैंने तुम्हें बड़ा किया था ? इससे अच्छा था, मैं निस्संतान ही रहता।'

राजकुमारी शांत भाव से सुनती रही। उसने बड़ी विनम्रता से निवेदन किया :

'पिताजी, विधि के विधान को रोकना मनुष्य के सामर्थ्य से बाहर की बात है। आप बताइए, पतिव्रता पत्नी अपने पति को छोड़ क्या कभी किसी अन्य पुरुष का हाथ पकड़ सकती है ? यह मछुआ मेरे पूर्वजन्म का पति है।'

ऐसा कह राजकुमारी ने सारी घटना उसे सुनाई। कहानी सुन, पिता का हृदय पसीज गया। उसने दोनों को गले लगाया, उनका विधिवत् ब्याह किया और राजसिंहासन उनके हवाले कर स्वयं जंगल में तपस्या करने चला गया।"

'बी मा' आयोजन वस्तुतः राजस्थान से आया है।

संस्कार—जीवन को सुसंस्कृत करने के लिए, श्रेष्ठ बनाने के लिए कतिपय विधान किए जाते हैं। भारतीय परंपरा में इस प्रकार के सोलह संस्कारों का उल्लेख है। ये संस्कार हैं—गर्भाधान, पुंसवन, सीमंतोनयन, जातकर्म, नामकरण, निष्क्रमण, अन्नप्राशन, चूड़ाकर्म, कर्णबेध, उपनयन, वेदारंभ, समावर्तन, विवाह, वानप्रस्थ, संन्यास और अंत्येष्टि।

हिमाचल प्रदेश में ये सभी सोलह संस्कार शायद ही कभी प्रचलित रहे हों, हाँ, उनमें से किसी का कोई न कोई रूप अवश्य समाज द्वारा समादृत रहा है। मोटे तौर पर गर्भाधान, जातकर्म, नामकरण, निष्क्रमण, अन्नप्राशन, चूड़ाकर्म, उपनयन, विवाह और अंत्येष्टि संस्कारों का यहाँ रिवाज रहा है। धीरे-धीरे गर्भाधान, जातकर्म, निष्क्रमण और अन्नप्राशन भी लुप्त हो रहे हैं, अतः व्यवहार-रूप से इस प्रदेश में नामकरण,

Digitised by
Tharah Kardu

चूड़ाकर्म, उपनयन, विवाह और अंत्येष्टि ये पाँच संस्कार ही होते हैं। समाज के तथाकथित निम्नवर्गों में साधारण जनता अथवा 'लोक' में, केवल विवाह संस्कार ही हुआ करता था।

किन्नौर सरीखे कुछ इलाकों में गर्भ रह जाने पर तारा देवी से गर्भवती स्त्री तथा गर्भ की सुरक्षा के लिए प्रार्थना की जाती है। भोजपत्र पर लिखा रक्षाकवच स्त्री के गले में डाला जाता है।

सारे प्रदेश में कुछ वर्ष पूर्व तक प्रसव-कार्य दाई द्वारा ही संपन्न होता रहा है। दाई को सवाई भी कहा जाता है। दाई प्रायः गाँव की ही कोई महिला होती है, जिसकी दक्षता अनुभवजन्य होती है। नगरों तथा उन स्थानों पर, जहाँ आधुनिक डॉक्टरी सुविधा उपलब्ध है, प्रसव-कार्य सरकार से प्रशिक्षित दाइयाँ या नर्सें करती हैं। प्रसव-समय स्त्री को कहीं-कहीं अँधेरे और वायुरहित कमरे में रखा जाता है।

संतान होने के सातवें, ग्यारहवें या तेरहवें दिन प्रसवगृह में चारों ओर गंगाजल और गोमूत्र द्रुवा से छिड़का जाता है। यह पंचामृत पुरोहित अथवा लामा से मंत्रित होता है। यदि पुत्र उत्पन्न हुआ हो, तो इस दिन कन्याओं का पूजन भी किया जाता है। उत्तरी सीमांतक इलाकों में शिशु-जन्म के उपलक्ष्य में उसी दिन या किसी और दिन उत्सव मनाया जाता है। देवताओं की पूजा की जाती है। सगे-संबंधियों को नाच-गाने और भोजन का निमंत्रण दिया जाता था।

नामकरण यों तो बिना किसी विशेष संस्कार के होता है, किंतु कहीं-कहीं निष्क्रमण और नामकरण को एक कर थोड़ा-बहुत विधि-विधान का आयोजन होता है। इस संस्कार का नाम 'द्वार बाहर निकालना' भी है। यह संस्कार जन्म के तीसरे या पाँचवें महीने होता है। तब तक शिशु को घर की ड्योढ़ी से बाहर नहीं निकाला जाता है। उस दिन मुख्य द्वार के साथ वाले आँगन को गोबर से लीपा-पोता जाता है। गोबर से ही द्वार के साथ अर्धगोलाकार रेखा खींची जाती है, जिसके मध्य गोबर का पिंड-सा रखा जाता है। इस पिंड को द्रुवा और पुष्पों से सजाया जाता है। सगी-संबंधी स्त्रियाँ एकत्रित होती हैं। शिशु को नहला-धुलाकर मामा के घर से आए वस्त्र पहनाए जाते हैं। गाँव के सभी घरों से सगुन भेजा जाता है। माता बच्चे को गोद में लेकर द्वार की पूजा करती है। तदुपरांत पुरोहित बालक का नाम बताता है और माता एकत्रित संबंधियों को उस नाम से सूचित करती है।

चूड़ाकर्म—चूड़ाकर्म को मुंडन, जमालू उतारना, जड़ू निकालना, जडोलण जैसे विभिन्न नामों से जाना जाता है। जन्म के तीसरे या पाँचवें वर्ष यह संस्कार होता है। जमालू आम तौर पर बालकों के ही उतारे जाते हैं। यद्यपि कई परिवारों में कन्याओं का भी मुंडन किया जाता है। यह दिन पहले ही पंडित-पुरोहितों से पूछकर निश्चित

tharahkardu.in

किया जाता है। मुहूर्त के अनुसार मुंडन देव-मंदिर में कराया जाता है। अंबिका, ज्वालामुखी, चिंतपुरनी, चामुंडा, नयनादेवी, हाटेश्वरी आदि प्रसिद्ध देवी-मंदिरों में जाकर जमालू उतारना श्रेयस्कर माना जाता है। अतः दूर-दूर से लोग इस कार्य के लिए मंदिरों में आते हैं।

उपनयन—उपनयन को व्रतबंध, जनेऊ, यज्ञोपवीत डालना या बडारण भी कहते हैं। देश के अनेक भागों में यह प्रथा आम थी, किंतु हिमाचल प्रदेश में जनेऊ डालने का रिवाज मुख्यतः ब्राह्मणों और राजपूतों में है। खशों, कनेतों, राठियों, राहुओं, घिरथों एवं खत्रियों में इसका प्रचलन नहीं था। अब इनमें भी जनेऊ डालने का चाव बढ़ रहा है। आर्यसमाज के प्रचार के कारण कहीं-कहीं कोली भी जनेऊ डालने लग पड़े हैं। यद्यपि वे इसे संस्कार द्वारा नहीं पहनते, यों ही गले में डाल देते थे। अब वे भी संस्कार करते हैं अपने संस्कृत शिक्षित युवकों द्वारा।

यज्ञोपवीत संस्कार की पूर्व रात्रि को बालक व्रत रखता है। यदि संस्कार मंदिर में किया जाना हो, तो परिवार और कुटुंब के सभी व्यक्ति वहाँ जाते हैं। हवन शांति करने के पश्चात् बालक के शरीर पर उबटन लगाया जाता है। पुनः उसका स्नान कराया जाता है। संस्कार के समय वह केवल लँगोटी पहने रहता है। बड़ और पीपल की छोटी-छोटी टहनियों का गुच्छा उसके हाथ में होता है। शरीर पर वह बाघंबर ओढ़ता है। यह वेश धारण कर वह भिक्षा माँगने का उपक्रम करता है। भिक्षा प्राप्त कर वह काशी जाने की तैयारी करता है ताकि वहाँ विद्याध्ययन कर सके। इसके लिए वह मंदिर की परिक्रमा करता है और हवन-स्थल पर लौट आता है।

विवाह—सहस्रों वर्षों के विकास में मानव-समाज की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण व्यवस्था विवाह की है। सृष्टि के अन्य जीवों के समान प्रथम पुरुष और स्त्री भी मूलतः काम-तृप्ति के लिए एक-दूसरे की ओर आकर्षित हुए होंगे। संतानोत्पत्ति उस आकर्षण का फल ही है। समाज के व्यवस्थित होने के साथ-साथ पुरुष एवं स्त्री के इन संबंधों को निर्धारित करने के लिए तथा बालक के सामाजिक संबंधों और दायित्वों को निश्चित करने के लिए विवाह का आयोजन किया गया है।

संपूर्ण मानव-समाज में विवाह का मूल स्वरूप एवं प्रयोजन सर्वदा सर्वत्र एक-सा रहा है। संसार की कोई भी जाति, समुदाय या समाज ऐसा नहीं, जहाँ इस संस्कार की उपेक्षा होती हो या इसे अनिवार्य न समझा जाता हो।

भारत में भी विवाह को सामाजिक संगठन और दायित्व के दृष्टिकोण से ही देखा गया है। वैदिक तथा पौराणिक संस्कृति के अनुसार मनुष्य को अपने जीवनकाल में तीन ऋणों से उऋण होना पड़ता है। इसमें से एक पितृऋण है। इस ऋण की पूर्ति संतान उत्पत्ति से की जाती है। इस प्रकार भारतीय समाज ने केवल यौन तत्त्व या

Digitised by
Tharah Kardu

जैवकीय (बायोलोजिकल) पक्ष को ही प्रधानता नहीं दी, उसका सामाजिक दायित्व भी सामने रखा है। विवाह के आदर्श में सामाजिकता के साथ धार्मिकता का भी पुट शामिल कर लिया है और उसके तीन प्रमुख उद्देश्य सामने रखे हैं। पहला उद्देश्य स्त्री धारा को पुरुष धारा में मिलाकर उसे मुक्ति की अधिकारिणी बनाना तथा दोनों की अनर्गल, अनियमित पशु-प्रवृत्तियों को नियमित कर दोनों की शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक, ऐहलौकिक, पारलौकिक तथा आध्यात्मिक उन्नति करना और दोनों के मधुर समन्वय से उनकी पूर्णता सिद्ध कर सांसारिक सुख-शांति प्राप्त करना है। विवाह का दूसरा उद्देश्य उत्तम संतान की उत्पत्ति द्वारा पितृऋण से उऋण होना तथा प्रजांतु की रक्षा करना है। विवाह का तीसरा उद्देश्य पुरुष और स्त्री के समन्वय द्वारा पारिवारिक, सामाजिक तथा राष्ट्रीय जीवन की सुव्यवस्था एवं सुख, स्वास्थ्य तथा शांति की रक्षा करना है। हम कह सकते हैं कि विवाह नियमित कामतृप्ति और परिवार-सुख का साधन है।

स्मृति आदि ग्रंथों में ब्राह्म, दैव, आर्ष, प्राजापत्य, आसुर, गांधर्व, राक्षस और पैशाच नाम से आठ प्रकार के विवाहों की गणना की गई है।

कन्या को वस्त्र, अन्न, अलंकार आदि से सुसज्जित करके विद्वान्, शीलवान वर को आमंत्रित कर कन्यादान करने का नाम ब्राह्म विवाह है। 'तुम दोनों मिलकर गृहस्थ धर्म का आचरण करना'—यों कहकर विधिवत् वर की पूजा करके कन्यादान करना प्राजापत्य विवाह कहलाता है। इन दोनों प्रथाओं में कोई खास अंतर नहीं है। दैव विवाह में वस्त्रों और आभूषणों से आभूषित कन्या का दान उस यज्ञकर्ता ऋत्विक को किया जाता था, जो किसी यज्ञ आदि क्रिया में पुरोहित के कार्य को उचित ढंग में पूरा करता था। आर्ष विवाह का संबंध ऋषियों से था।

आसुर विवाह उसे कहते हैं जिसमें विवाह के लिए इच्छुक व्यक्ति अपनी इच्छा से कन्या के कुटुंबियों या कन्या को धन देकर विवाह करता है। उसके अनुसार स्त्री का मूल्य होता है। गांधर्व विवाह कन्या और वर के पारस्परिक प्रेम का फल होता है। 'कामसूत्र' में इस प्रकार के विवाह को आदर्श बताया गया है। राक्षस विवाह में विजित पक्ष की कन्याओं को जबरदस्ती उठा लाने की प्रथा है। पैशाच विवाह में निद्रित, मद्यपान से विह्वल अथवा किसी अन्य प्रकार से उन्मत्त स्त्री के साथ एकांत में संबंध करके विवाह किया जाता है।

हिमाचल प्रदेश में ब्राह्मण, गांधर्व, आसुर तथा राक्षस प्रकार के विवाहों का रिवाज है। यदाकदा पैशाच रीति के उदाहरण भी मिल जाते हैं, किंतु लोग इसे निंदनीय ही समझते हैं। अन्य पद्धतियाँ कभी रही हों, किंतु अब उनका सर्वथा लोप हो गया है। यहाँ पर इन विवाहों के अपने नाम हैं, और ये नाम भी भिन्न-भिन्न

tharahkardu.in

स्थानों पर भिन्न हैं। विवाह या ब्याह साधारणतया ब्राह्म विवाह का ही स्थानीय रूप है। हार, जराड़ फूकी, झिंड फूकी, खूँचिस, खूँरनूंकिमिक्क अथवा डबडब गांधर्व विवाह हैं। ढेरी आसुर विवाह है।

इन विवाहों के अतिरिक्त समाज में अंतर्जातीय विवाह, पुनर्विवाह और विधवा विवाह भी व्यापक रूप से प्रचलित हैं।

अंतर्जातीय विवाह—मदखूईया या सरीत इस विवाह के अच्छे उदाहरण हैं। ये अनुलोम विवाह ही हैं। इनमें ऊँची जाति के पुरुष नीची जाति की स्त्रियों से विवाह करते हैं। इनमें अनुष्ठानिक विधि-विधान का अधिक काम नहीं। स्त्री पुरुष के घर आती है और द्वार-पूजा करके भीतर प्रवेश करती है। ये दोनों बहुविवाह के ही रूप हैं। इन विवाहों से पूर्व एक अन्य शास्त्रीय पद्धति से हुआ विवाह अनिवार्य समझा जाता है। सरीत विवाह के नाम पर लाई गई वधू का नाम भी सरीत ही है। शास्त्रीय विधान से ब्याही गई स्त्री को ब्याहिता या लाड़ी कहा जाता है। सरीत की संतान पिता की जाति से नीच मानी जाती है और उसे 'सरतेरा' कहा जाता है। ये सरतेरे तीसरी-चौथी पीढ़ी के पश्चात् बहुधा पिता की जाति को प्राप्त कर लिया करते हैं। किंतु कहावत यह है कि सातवीं पीढ़ी में ही घिरथ की कन्या रानी बनती है।

उच्चवंशीय ब्राह्मण, राजपूत और महाजनों का यह प्रयास रहता है कि अपनी लड़की की शादी अपने से नीचे समजातीय कुल में न हो, बहू भले ही नीचे वंश की हो। इस संबंध में यह आम मान्यता है कि पुत्र का विवाह अपने से एक सीढ़ी नीचे घराने में और पुत्री का विवाह एक सीढ़ी ऊँचे घराने में होना चाहिए। इन जातियों में इस बात का विशेष ध्यान रखा जाता है कि शादी-ब्याह का रिश्ता जाति के भीतर ही हो, यद्यपि चंबा के भटयात और चौराह जैसे क्षेत्रों में ब्राह्मणों, राजपूतों, खशों, कनैतों, राठियों और खत्रियों में आपस में ब्याह हो जाता है। सिरमौर में कनैतों और ब्राह्मणों में भी।

विधवा विवाह—झंझराडा, करेवा, रंडोल, सरगुढ़ी और गरीबचारा विधवा विवाह के नाम हैं। कहीं-कहीं विधवा भावज पति के भाई को ही पति स्वीकार कर लेती है। इसे चादर डालना अथवा बंधलुआना कहा जाता है। पति की मृत्यु की क्रिया के दिन विधवा मृत पति के जेवरों को अलग रखकर उसके भाई द्वारा दिए गए जेवरों को पहनती है, जिसका यह अर्थ है कि वह उस भाई को पति-रूप में स्वीकार करती है। इस अवसर पर बकरा काटा जाता है। विधवा के पितृपक्ष वाले सामान्यतः इसमें शामिल नहीं होते हैं, किंतु उन्हें 'लाग' के रूप में बकरा दिया जाता है। सरगुढ़ी विधवा द्वारा किसी सजातीय पुरुष से विवाह को कहा जाता है। इसमें वर विधवा के घर भाई या किसी अन्य संबंधी के साथ जाता है। वहाँ जाकर वर वधू को एक

Digitised by
Tharah Kardu

आभूषण, जिसे बंध कहा जाता है, उपहार के रूप में भेंट करता है। इस प्रकार के विवाह में गणेश या द्वार-पूजा नहीं होती है। पुनर्विवाहित विधवा को रखोरड़ कहा जाता है।

झंझराडा या करेवा भी इसी श्रेणी के हैं, यद्यपि इसमें पतित्यक्ता भी विवाह करती है। स्त्री पति के स्वर्गवास होने पर अथवा जीवित पति से संबंध विच्छेद हो जाने पर किसी अन्य सजातीय व्यक्ति के घर बस सकती है। इस विवाह में दूल्हा बारात लेकर दुलहन लेने नहीं जाता है, अपितु उसके सगे-संबंधी, भाई, चाचा आदि जाते हैं। इससे पूर्व खेवट नाम की तहरीर लिखी जाती है, जिसमें बिरादरी या पंचों द्वारा इस रिश्ते की स्वीकृति दर्ज होती है। कहीं-कहीं झंझराडा में वधू उपस्थित लोगों के चरण धोती है, बुजुर्गों को मत्था टेकती है। विवाहस्वरूप उसकी नाक में 'लौंग' पहनाई जाती है।

हार—हार विवाह के अंतर्गत पुरुष किसी अविवाहिता कन्या को किसी मेला या धार्मिक स्थान से अपने साथ भगा लाता है। घर पहुँचकर वे द्वार-पूजा करते हैं, तत्पश्चात् कन्या चूल्हे की पूजा करती है और अन्द्रेला कर वे पति-पत्नी माने जाते हैं।

'हार' विवाह किसी पूर्व-विवाहिता स्त्री के साथ भी हो जाता है। यदि हार वधू अविवाहिता हो तो कुछ समय बीत जाने पर 'वर और वधू' वधू के पितृगृह जाते हैं और वर कुछ रुपया कन्या के माता-पिता को देता है, जिसे कहीं-कहीं 'हरजा' या 'बरीणा' कहा जाता है। यदि वधू विवाहिता हो तो उसके पूर्व पति को नया पति रुपया देता है, जिसे 'ढेरी', 'रीत' या 'रूश' कहते हैं।

अपहरण की रीति से एक अन्य विवाह 'डबडब' कहलाता है। इसके अंतर्गत लड़का-लड़की तो परस्पर विवाह के लिए सहमत होते हैं, किंतु यह रिश्ता माता-पिता को अस्वीकार होता है। इस हालत में लड़का लड़की को अकेला देख उठाकर ले जाता है और अपने घर जाकर विधिपूर्वक उससे ब्याह करता है। इस ब्याह की सूचना थोड़े दिनों उपरांत वधू के माता-पिता को दी जाती है। 'जराड़ फूकी' गांधर्व विवाह का पार्वतीय रूप है। वर और वधू एक झाड़ी को आग लगाते हैं और जलती झाड़ी के गिर्द सप्तपदी करते हैं, जिससे माता-पिता संबंध को अस्वीकार न कर सकें।

ढेरी विवाह—ढेरी विवाह में ब्याह के दिन वरपक्ष वाले कन्यापक्ष को एक निश्चित राशि देते हैं। कालांतर में यदि लड़की संबंधविच्छेद चाहे तो यह धन लड़के वालों को लौटा देना पड़ता है। यदि कोई अन्य पुरुष उस विवाहिता स्त्री को भगा ले जाए, तो उसे पहले पति को उतनी ही धनराशि देनी होती है।

द्रौपदी विवाह—इस विवाह में निश्चित दिन वरपक्ष वाले बारात लेकर कन्या के घर आते हैं। वहाँ पर पुरोहित या लामा मंत्रोच्चारण और हवन द्वारा विवाह संपन्न

tharahkardu.in

कराता है। उसके उपरांत मांस और मदिरा से बारातियों की आवभगत की जाती है। फिर बारात वधू को लेकर लौट आती है। गृह-प्रवेश के अवसर पर वधू का दायाँ हाथ पति के सभी भाइयों के हाथ में दिया जाता है और समझाया जाता है कि उससे सभी भाइयों का ब्याह हो गया है। इस विवाह के अंतर्गत सप्तपदी और लावाँ का रिवाज नहीं है। वधू केवल फूलों और फलों की माला वर को अर्पण करती है।

यह ध्यान में रखना होगा कि हार, झंझराडा, चादर डालना आदि समाज के निर्धन और निम्न वर्गों में ही प्रचलित हैं। ऊँची जातियों एवं वर्गों में विवाह संबंध अविच्छेद्य हैं। इस संबंध का वही धार्मिक एवं सामाजिक महत्त्व है जो शास्त्रोक्त है, स्मृति के अनुसार है तथा देश के अन्य भागों में समादृत है।

प्रमुख विशेषता—इस प्रदेश की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि रिश्ते की बात लड़के की ओर से चलाई जाती है। वरपक्ष वाले ही कन्यापक्ष के पास विवाह का प्रस्ताव लेकर जाते हैं। कन्यापक्ष वाले किसी भी हालत में पहल नहीं करते हैं। यह एक आम कहावत है कि रिश्ता पक्का होने से पूर्व लड़की के घर के दरवाजे घिस जाते हैं, अर्थात् उसके लिए इतने लोग प्रस्ताव लेकर इतनी बार आते हैं कि बेचारा लड़की का द्वार खुलते और बंद होते-होते घिस जाता है।

इसका सुखद परिणाम यह है कि हिमाचल प्रदेश में दहेज की कुप्रथा का नाम तक नहीं है। उलटे 'ढेरी' जैसे विवाह में वरपक्ष वाले कन्यापक्ष को कुछ धनराशि देते हैं।

सामान्यतः ब्याह में कन्या के माता-पिता तथा अन्य संबंधी उसे उपहार देते हैं, उसे 'दान' भी कहा जाता है। कहीं-कहीं यह दान लावाँ के उपरांत वेदी में ही दिया जाता है। यह उपहार इस प्रकार का होता है कि नववधू की गृहस्थी सुगमता से चल निकले, अतः आभूषण, बिस्तर, खाने-पीने के बर्तन, चारपाई, फर्नीचर और गाएँ दी जाती हैं। इन सब वस्तुओं पर आम तौर पर दो-चार हजार रुपयों से अधिक खर्च नहीं होता है। लेकिन अब यह दहेज प्रथा का रूप लेने लगा है और खर्च की राशि लाखों तक पहुँच जाती है। दान का यह रूप मैदानी परंपरा का परिणाम है। इसे उचित ठहराने के लिए कहा जाता है कि पुत्री को दान एक बार ही दिया जा सकता है। यों नए कानूनों के अनुसार पुत्री पिता की संपत्ति की हिस्सेदार बन गई है। किंतु बहनें प्रायः भाई से अपना भाग नहीं लेती हैं।

विवाह असीम उल्लास का अवसर है, इसलिए भोज, संगीत, नृत्य इत्यादि हर्ष और आनंद की अभिव्यक्ति के सभी रूप उससे संबद्ध हैं। इस अवसर पर घर को सजाया जाता है, वर और वधू का अलंकरण किया जाता है और सौंदर्यभाव-सूचक अन्य उपाय किए जाते हैं। संगीत विवाह का अभिन्न अंग है, कहीं-कहीं तो गीत और

Digitised by
Tharah Kardu

संगीत के लिए कुशल स्त्रियों का एक विशिष्ट वर्ग होता है, जिसे 'गीत गायक' कहा जाता है।

ब्याह—विवाह आम तौर पर ब्याह कहलाता है। प्रदेश की बहुत बड़ी जनसंख्या में विवाह का केवल यही रूप प्रचलित है। ब्याह का बीजारोपण कुड़माई या गुड़ देने से होता है। कुड़माई के उपरांत सारे संस्कार के अनेक चरण हैं, जिनमें लग्नोत्तरी बनाना, धाम के लिए लकड़ी काटना, दिन देखना, संबंधियों को निमंत्रण देना, समहूत, तेल, गोत्राचार, कन्यादान, वेदी, धाम और विदाई प्रमुख हैं।

लड़के की ओर से काफी पहले से लड़की के संबंधियों से रिश्ते की अनौपचारिक बात चलती रहती है। आरंभ में जान-पहचान, नाते-रिश्ते की स्त्रियाँ ही बात चलाती हैं। जब स्वीकृति की आशा बँध जाती है, तो औपचारिक रूप से लड़के के संबंधी लड़की के माता-पिता के पास जाते हैं। उनके रिश्ते को स्वीकार किए जाने पर किसी शुभ दिन पुरोहित के हाथ गुड़ भिजवाया जाता है। इसे कुड़माई भी कहा जाता है। कहीं-कहीं कुड़माई के लिए गुड़ के अलावा, लड़की के लिए आभूषण, कपड़ों का जोड़ा भी भिजवाया जाता है। साथ में लड़की की माता तथा छोटे भाई या बहन के लिए भी वस्त्र भेजे जाते हैं। पुरोहित सूर्य, धूप, दीप, कुंभ और गणपति की पूजा कर आभूषण और वस्त्र लड़की की माता के हवाले करता है और उपस्थित लागियों में गुड़ बाँटता है। इसी से विवाह की बात पक्की मानी जाती है।

विवाह के कुछ दिन पूर्व लड़के के माता-पिता अपने पुरोहित से लग्नोत्तरी बनवाते हैं। लग्नोत्तरी में विविध शास्त्रीय तथा वैदिक आचारों की तिथि तथा मुहूर्त दिया होता है। पहली तिथि प्रायः लकड़ी काटने की होती है। इस छोई अथवा छेई के मुहूर्त पर पड़ोसी और कुटुंबी जन मिलकर विवाह और धाम के लिए लकड़ी काटते हैं। उधर स्त्रियाँ घराट या चक्की पर आटा पीसने जाती हैं, धान कूटने के लिए देती हैं। अब बिजली से चलने वाली चक्कियों और गैस अथवा मिट्टी-तेल के चूल्हों ने आटा-चावल पीसने तथा लकड़ी काटने की आवश्यकता कम कर दी है।

एक शुभ दिन जिस घर में ब्याह होना होता है, उसकी सफाई, लिपाई-पुताई और सफेदी कराई जाती है।

विवाह की पूर्व संध्या को जागरण होता है, मंगल गीत गाए जाते हैं और भोज होता है। उससे पहले, दिन में मुख्य द्वार और भीति पर अनेक प्रकार के पशु-पक्षियों और मनुष्यों के चित्र बनाए जाते हैं। विविध रंगों से द्वार पर सेहरा-सा बनाया जाता है और कुंकुम छिड़का जाता है।

ब्याह के अनुष्ठान का सबसे पहला महत्त्वपूर्ण कार्य पुरोहित द्वारा कुंभ (श्यान) की स्थापना का होता है। जिस घर में ब्याह होता है, उसके एक कमरे में शयान की

tharahkardu.in

स्थापना की जाती है। कुंभ जल से भरा रहता है और उसमें बड़, पीपल और आम की टहनियाँ रखी होती हैं। सामने आटा, चावल और रंगों का चक्र बनाया जाता है। पास ही गणपति की मूर्ति रखी जाती है और दीपक जलाया जाता है।

उसके पश्चात् पुरोहित वधू के घर जेवर, वस्त्र, मेवा, मेहँदी, उबटन आदि लेकर जाता है। इसे समहूत कहते हैं। वर और वधू को कच्ची हल्दी, घी, मेहँदी आदि का उबटन लगाया जाता है। पहला उबटन कुँवारी कन्या लगाती है, तत्पश्चात् माता, बहनें, भाभी, भावजें तथा चाची और मामी लगाती हैं। पवित्र जल से नहलाया जाता है। माना यह जाता है कि जल त्रिवेणी से लिया गया है।

दूसरा आचार तेल लगाने या डालने का है। किसी डूने या पात्र में द्रुवा डाली जाती है। डूने को तेल से लगभग आधा भरा जाता है। तेल डालते समय वर की एक ओर मामा रहता है। सामने पुरोहित बैठा होता है। पुरोहित मंत्रोच्चारण करता है और वर के संबंधी एक-एक कर डूने में द्रुवा डुबाकर उसे तेल से छींट देते हैं। उसके सिर पर पाँच-दस रुपए, पैसे वारणा के रूप में फिराते हैं और तेल-पात्र में डालते हैं। गाने वाली स्त्रियाँ गीत गाती रहती हैं।

तेल के उपरांत वर को ब्याह के वस्त्र और सेहरा पहनाया जाता है। सेहरा में सभी संबंधी आशीर्वाद के लिए हाथ लगाते हैं। बहनें इस अवसर पर अपने दुपट्टों से पंखा झलती हैं। वधूगृह के लिए प्रस्थान करने से पूर्व वर अपने द्वार की पूजा करता है। इसे 'अरगना' कहा जाता है। माता उसकी आरती उतारती है। इसके उपरांत वह पालकी या घोड़ी की ओर बढ़ता है और उस पर बैठकर वधू के घर की ओर अपनी बारात अथवा जंज सहित रवाना हो जाता है।

ज्योंही बारात कन्या के घर के निकट पहुँचती है, वर और वधू, दोनों पक्षों के दो-दो प्रतिनिधि आगे बढ़कर एक-दूसरे का आलिंगन करते हैं, फूलमालाएँ एक-दूसरे के गले में डालते हैं और सिर पर वारणा करते हैं। ये प्रतिनिधि सामान्यतः वर और वधू के पिता और मामा होते हैं। इसे मिलनी कहते हैं।

वर को इसके पश्चात् किसी स्वच्छ स्थान पर तब तक बैठाया जाता है जब तक कि गृह-प्रवेश का मुहूर्त न आ जाए। इस बीच बारातियों को भोजन खिलाया जाता है। शुभ मुहूर्त पर वर वधू के घर प्रविष्ट होता है। द्वार पर सास और ससुर उसकी आरती उतारते हैं। भीतर उसे उस स्थान पर ले जाते हैं जहाँ शयान स्थापित होता है। इसे देहरा भी कहते हैं। वर को देहरे के सामने बैठाते हैं। वधू को उसका पिता या कोई अन्य संबंधी वहाँ लाकर वर के बगल में बैठाता है। तब वर और वधू के एक-एक हाथ को मिलाकर उनमें मौली बाँधी जाती है। हाथ में दीपक दिया जाता है। ऊपर वधू का हाथ रहता है और नीचे वर का। वे देहरे के देवताओं की पूजा करते

Digitised by Tharah Kardu

हैं। कुंभ की भी पूजा होती है। उसके पश्चात् गोत्राचार और कन्यादान होता है। हाथों में बँधी मौली गोत्राचार के पश्चात् खोल दी जाती है। तब वर और वधू को मिठाई या घी मिला शहद खिलाया जाता है। ब्याह का शास्त्रीय आचार सामान्यतः गोत्राचार, कन्यादान और लग्न-फेरों के साथ पूर्ण हो जाता है, किंतु लोकाचार का एक अन्य महत्त्वपूर्ण अंग अभी शेष रहता है, इसे वेद या वेदी कहते हैं।

वेदी वर्गाकार की होती है। इसके चारों कोनों में केले के पत्तों से लिपटे बाँस गाड़े जाते हैं। उन पर लाल कपड़ा डाला जाता है, जिससे संपूर्ण वेदी पर एक प्रकार की छत बन जाए। चारों ओर पुष्प और कागजों के हार से वेदी को सुसज्जित किया जाता है। मध्य में कुंभ स्थापित किया जाता है। कुंभ में आम, पीपल और बड़ की पत्तों-भरी छोटी टहनियाँ रखी होती हैं। पास ही हवनकुंड बनाया या रखा जाता है, इसे गियारी कहते हैं। गियारी की पूर्व दिशा में नवग्रह स्थापित होते हैं।

वर और वधू को वेदी में लाया जाता है। वे गियारी की पूजा करते हैं, सूर्य को अर्घ्य देते हैं और गियारी के गिर्द सात फेरे जिन्हें लावाँ कहते हैं, देते हैं। पहले तीन फेरों में वर आगे होता है, पुनः वधू। कहीं-कहीं केवल चार फेरे दिए जाते हैं। पहले तीन फेरों में वधू आगे होती है। इन फेरों के बाद वर और वधू को आसन पर बिठाया जाता है। उन पर चादर डाली जाती है, जिससे अन्य उपस्थित लोग उन्हें न देख पाएँ। तब उन्हें एक-दूसरे का मुँह देखने को कहा जाता है। मुँह देखने पर वर वधू को एक अँगूठी पहना देता है, फिर चौथा लावाँ दिया जाता है। इसका नेतृत्व वर करता है। इसके उपरांत वर पहले दी हुई अँगूठी वापस ले लेता है। सिंदूर में डुबोकर उससे वधू की माँग को भरता है और अँगूठी लौटा देता है। एक बार फिर पूजा की जाती है। पूजा के बाद कहीं-कहीं वधू को उसके माता-पिता और अन्य रिश्तेदार 'दान' देते हैं। इस दान में सोने-चाँदी के आभूषण, सोने-पहनने के वस्त्र, खाने-पकाने के बर्तन आदि दिए जाते हैं। हिंदू उत्तराधिकार कानून से पूर्व सामर्थ्यवान गृहस्थ कन्या को खेत भी दिया करते थे। वेदी में जब फेरे और पूजा हो रही होती है तब गीत गाए जाते हैं।

वेदी के तुरंत बाद धाम होती है, जिसमें बारात और अन्य आमंत्रित लोग भोजन करते हैं।

भोजन से निवृत्त होकर विदाई का मुहूर्त आ जाता है। इस बीच वधू की सिर-गुँदाई होती है। इसमें वरपक्ष की स्त्रियाँ भी भाग लेती हैं। विदाई का दृश्य अत्यंत हृदयविदारक होता है। शायद ही कोई सहृदय व्यक्ति हो, जिसकी आँखों में आँसू न आ जाएँ। इस अवसर पर गाए जाने वाले गीत भी अत्यंत मार्मिक होते हैं और उनका संगीत अवसादपूर्ण। माता द्वार पर पुत्री और जामाता के चरण दूध से धोती

tharahkardu.in

है, उनकी आरती उतारती है। पुनः अश्रुपूर्ण नेत्रों, काँपते हाथों, शंकित मन और थकी देह से माँ अपनी बेटी को गले लगाकर विदा करती है। अज्ञात भविष्य की आशंका से माँ-बेटी सिहर उठती हैं। माँ लाड़ से पाली प्यारी बेटी को पराया बना गई है। बेटी माँ-बाप की छत्रछाया से वंचित बेगाने लोगों के बीच जा रही है। दोनों का दिल कुछ टूट-सा जाता है। बेटी की आँखों के सामने अपना संपूर्ण जीवन आ जाता है, पिता-घर का उल्लास, अपना अल्हड़पन अब कहाँ मिलेगा, माँ के लिए अपनी बेटी का साहचर्य, सान्निध्य कब नसीब होगा। पुनः पिता विदाई देता है या स्वयं अपनी बेटी से विदाई लेता है। बेटी के सिर पर हाथ रखकर वह उसे, पतिगृह में कैसे बर्ताव किया जाए, इसकी शिक्षा देता है। वह कहता है कि अब दो कुलों की मान-मर्यादा उसके हाथ में है, अतः उसका आचरण ऐसा हो कि दोनों वंश गर्व कर सकें। कन्या भाई-बहनों और अन्य रिश्तेदारों से विदा लेकर डोली में सवार हो जाती है। कुछ दूर तक उसके अपने संबंधी डोली को उठाते हैं, बाद में कहार उठाते हैं। वर की पालकी डोली के पीछे चलती है।

वर के घर में तुरंत प्रवेश नहीं किया जाता, उसके लिए शुभ घड़ी की प्रतीक्षा करनी होती है, जिसका उल्लेख लग्नोत्तरी में होता है। वधू-प्रवेश, जिसे अन्द्रेला या अन्दरोण कहते हैं, से पूर्व वर और वधू की पालकी और डोली ग्राम-देवता के मंदिर ले जाई जाती है, जहाँ वे देवता की पूजा करते हैं। द्वार पर आकर वर की माता उनका स्वागत करती है, उन्हें अरगती है। वे दोनों गृहदेवी, कुलजा और गणेश की पूजा करते हैं। भीतर जाकर वे शयान या देहरा की पूजा करते हैं। कहीं-कहीं इस अवसर पर भी वे कुंभ के गिर्द तीन फेरे काटते हैं। इन फेरों में वर आगे रहता है और वधू पीछे। फेरे के उपरांत घूँघट और कंगन उतारे जाते हैं। वधू पितृगृह से लाई मिठाई अपने सास-ससुर और परिवार के अन्य सदस्यों में बाँटती है। वे इसके बदले उसे कोई न कोई आभूषण या पैसे देते हैं। उसी दिन या अगले दिन वर के घर पर भी धाम दी जाती है।

धाम के चौथे दिन और सोलहवें दिन के बीच मकलावा होता है। नव दंपती वधू मायके जाते हैं और कुछ दिन वहाँ रहकर वापस लौटते हैं।

लाहुल जैसे सीमांतक क्षेत्रों में लड़के की ओर से उसका पिता और मामा विवाह का प्रस्ताव लेकर जाते हैं। वे अपने साथ छाँग नामक मादक पेय का भरा घड़ा ले जाते हैं। घड़ा कन्या के माता-पिता के समक्ष रखा जाता है। कन्या की माता विवाह-प्रस्ताव की सूचना लड़की को देती है। यदि लड़की स्वीकृति दे दे, तो सब मिलकर छाँग पीते हैं। किंतु यदि लड़की को रिश्ता मंजूर न हो तो उसके माता-पिता छाँग का भरा पात्र लौटा देते हैं। सगाई की बात पक्की करने से पूर्व दो बार छाँग

Digitised by
Tharah Kardu

पी जाती है, तीसरे अवसर पर कन्या के माता-पिता को छाँग के अतिरिक्त एक रुपया शगुन के रूप में भेंट किया जाता है। इसी दिन विवाह का मुहूर्त निश्चित किया जाता है।

कहीं-कहीं विवाह के लिए वर स्वयं नहीं जाता है, उसके प्रतिनिधिस्वरूप एक ढाल और तलवार भेजे जाते हैं। ढाल-तलवार या कटार भेजने का रिवाज लाहुल के अलावा प्रदेश के कुछ और भागों में भी है। बारात ढाल-तलवार, वस्त्र, आभूषण, खाद्य-पदार्थ और छाँग लेकर लड़की के गाँव जाते हैं। कन्यापक्ष के लोग घर से कुछ दूर बारात का स्वागत करते हैं। यहाँ बैठकर छाँग पी जाती है। फिर वरपक्ष वालों की बुद्धि-परीक्षा होती है। कन्या के घर तक मार्ग में इक्कीस पत्थर रखे जाते हैं। पहले पत्थर से आगे बढ़ने से पूर्व एक प्रश्न किया जाता है, यदि उत्तर ठीक न हो, तो क्षमा-याचना कर पिंड छुड़ाने पड़ते हैं। यही क्रम प्रत्येक पत्थर के सामने रहता है और इसका अंत कन्या के घर के द्वार पर होता है। भेड़ का ताजा कलेजा कहीं छिपाकर रखा जाता है और बुझौल द्वारा उस स्थान का संकेत भी दिया जाता है। वरपक्ष का कर्तव्य यह होता है कि बुझौल को बुझाकर तलवार की नोक से कलेजे को ढूँढ़ निकाले। कभी-कभी तो वरपक्ष वालों को कलेजे का पता पाने के लिए रिश्वत तक देनी होती है। इस आचार की समाप्ति पर बाराती घर के भीतर जाते हैं और साथ लाए हुए उपहार भेंट करते हैं। भोजन होता है जिसमें मांस और मदिरा का प्रचुर मात्रा में उपभोग होता है। तदनंतर लड़की के परिवार की ओर से उसे 'दान' दी जाने वाली वस्तुएँ सामने रखी जाती हैं। ये परिवार की आर्थिक स्थिति के अनुरूप होती हैं। इनमें प्रायः आभूषण, कुछ नकदी, गाय, याक या घोड़ा होते हैं। सब लोग जहेज की प्रशंसा करते हैं। तब वधू को वर के घर लाया जाता है। गृह-प्रवेश से पूर्व किसी पाप या दोष का निराकरण करने के लिए घर की छत पर से एक भेड़ बारातियों के बीच फेंकी जाती है। प्रायः यह वर का कर्तव्य होता है। भेड़ के गिरते ही इसे काटा जाता है और कलेजा निकालकर सब बारातियों में बाँटा जाता है, जिसे वे कच्चा ही खा जाते हैं। इस बीच भूत-प्रेतों को दूर भगाने के लिए लामा मंत्र बोलता रहता है। लामा के पास बर्तन में आटे की बनी हुई एक प्रेतात्मा होती है। बर्तन तोड़कर उस प्रेतात्मा को नष्ट किया जाता है। तब बाराती वधू को लेकर घर के अंदर प्रविष्ट होते हैं।

चंबा के पांगी इलाके में विवाह के तीन चरण होते हैं—पीलम, फरवी और चरवी। सर्वप्रथम लड़के की ओर से लड़की वालों से पूछताछ की जाती है। जब वे रिश्ते के लिए हामी भर लेते हैं, तो लड़का अपने तीन-चार मित्रों के साथ लड़की के घर जाता है। वह अपने साथ घी में तली हुई लूचियाँ, शराब और जेवर ले जाता है। कन्या के घर पहुँचकर दोनों पक्ष वाले मिलकर खाते-पीते हैं। लड़का आभूषण लड़की

tharahkardu.in

को देता है। इसे पीलम कहते हैं। यह आचार केवल एक रात का है। लड़का शाम को लड़की के घर आता है और प्रातःकाल लौट जाता है। इसके लिए कोई मुहूर्त नहीं देखा जाता। वह किसी भी रविवार, मंगलवार और बृहस्पतिवार को जा सकता है।

पीलम विवाह के वास्तविक संस्कार से भी अधिक महत्त्वपूर्ण माना जाता है। इस दिन से ही लड़की परंपरा और कानून की दृष्टि से लड़के की पत्नी बन जाती है। इसके पश्चात् लड़का उसके घर आता-जाता रहता है और यदि लड़की गर्भवती हो जाए, तो संतान लड़के की मानी जाती है।

पीलम के एक वर्ष के भीतर फरवी का आचार पूरा हो जाना चाहिए। लड़का अपने किसी संबंधी या अन्य गण्यमान्य व्यक्ति के साथ, जिसे दीवान कहा जाता है, लड़की के घर आता है। अपने साथ शराब की बोतलें, लूचियाँ और हलवा लाता है। कोई-कोई लड़का तो 60-70 शराब की बोतलें, एक मन लूची और 20 सेर हलवा ढो लाता है। रात को दोनों पक्ष इकट्ठे बैठते हैं। इस अवसर पर लड़की का पिता लड़के से लुम माँगता है। लुम में कन्या के संबंधियों को कुछ रुपए दिए जाते हैं, और यह उन संबंधियों पर निर्भर है कि वे वह नकदी अपने लिए रखें या लौटा दें।

लुम के आदान-प्रदान के उपरांत लड़के के साथी एक पट्टु में कुछ लूचियाँ बाँधकर लड़की के मामा को देते हैं, वह लूचियाँ तो उपस्थित लोगों में बाँट देता है और पट्टु लड़की को देता है। सुबह भोज होता है, शाम को लड़के वाले वापस चले जाते हैं।

फरवी के साल-डेढ़ साल बाद चरवी संस्कार होता है। चरवी के अवसर पर बारात लड़की के घर आती है। बारात में अन्य लोगों के अलावा दीवान और लड़के के चचेरे, ममेरे भाई अवश्य होते हैं। एक चचेरा या ममेरा भाई वर की तलवार को लेकर चलता है। इस बार भी फरवी जैसी मात्रा में ही शराब, लूचियाँ और हलवा लाया जाता है। वर-वधू को एक कमरे में साथ बैठाया जाता है। सामने धूप जलता होता है। दोनों कुलजा और ग्राम-देवता की पूजा करते हैं। शाम को धाम दी जाती है, तत्पश्चात् गाँव के स्त्री और पुरुष पृथक्-पृथक् नृत्य करते हैं।

एक अन्य प्रथा के अनुसार लड़के का पिता लड़की के घर जाता है। यदि रिश्ता मंजूर होता है, तो वह लड़की के पिता को एक रुपया भेंट करता है। इसे फक्की दीति, अर्थात् 'हाँ' कर दिया कहते हैं। इसके एक वर्ष के भीतर लड़के के पिता को पुनः लड़की के घर संबंध को पक्का करने के लिए जाना होता है। इसे चखनी अर्थात् अन्न चख लिया कहते हैं। तत्पश्चात् लड़का और उसका मित्र लड़की के घर आते हैं। वहाँ लड़का लड़की को एक बाली या बालू की जोड़ी और कंगन भेंट करता है, जिसे बँधा देना कहा जाता है। इस अवसर पर सब उपस्थित लोगों में लूचियाँ बाँटी

Digitised by
Tharah Kardu

जाती हैं। इसे ही कुड़माई माना जाता है। अतः यदि कोई पक्ष रिश्ता तोड़ देना चाहे, तो उसे 'मान' के रूप में जुर्माना या हरजाना भरना होता है।

बाद में किसी भी रवि, मंगल या बृहस्पतिवार को लड़के वाले उसके मामा को शादी का दिन निश्चित करने के लिए लड़की के घर भेजते हैं। निश्चित दिन लड़का बारात लेकर पहुँच जाता है। सब लोग एक कमरे में चले जाते हैं। वहाँ पर वर और वधू को अगल-बगल बैठाया जाता है। उनके दाएँ-बाएँ उनके मामा बैठते हैं। लड़की का मामा पानी में सत्तू घोलता है और फिर सत्तू के सात या अधिक टोटू बनाता है। उन पर मक्खन लगाता है और ऊपर से प्रत्येक पर फूल रख देता है। तब वह धूनच में जलते कोयले डालता है, जिस पर धूप रख लेता है, साथ में एक दीपक जलाता है. फिर बाएँ हाथ में धूनच, दाएँ हाथ से वह टोटू के ऊपर का भाग तोड़ता है। उससे चूल्हे को और बाद में कमरे की भीतियों को पूर्व, दक्षिण, पश्चिम और उत्तर इस क्रम से छूता है। इसके उपरांत मामा के द्वार के ऊपरी चौखट से टोटू के टुकड़े को छुवाता है। यह कर चुकने पर वह तो बैठ जाता है, फिर वधू की माता टोटुओं के बचे हुए भाग को एकत्रित कर उसके अनेक छोटे-छोटे पेड़े-से बनाती है। बीच में से इन पेड़ों को दबाया जाता है, जिसमें लड़की का पिता घी डालता है। ये पेड़े उपस्थित लोगों को खाने के लिए दिए जाते हैं। लाड़ा और लाड़ी को वधू का मामा खिलाता है। टोटू के पेड़े खा चुकने के बाद भोज होता है और नृत्य का आयोजन किया जाता है।

दूसरी सुबह लड़की के संबंधी उसे जेवर, बर्तन आदि देते हैं। इसे सुआज कहा जाता है। फिर लाड़ा-लाड़ी धूप जलाते हैं और माता-पिता को साष्टांग प्रणाम करते हैं। इसे पैर-बंदन कहा जाता है। तब बारात लौट आती है। लड़के को लड़की का मामा और लड़की को लड़के का मामा पीठ पर उठाकर चलते हैं। लाड़े के द्वार पर पहुँचकर उसकी माता वारण करती है और इसके लिए वर और वधू के सिरों के ऊपर एक भेड़ को तीन बार फिराती है। अब भेड़ के स्थान पर रुपया-पैसा ही वारणा के लिए प्रयुक्त किया जाता है। द्वार-प्रवेश के साथ ही शादी पूरी हो जाती है। यहाँ पर भी टोटू खिलाया जाता है, बाद में धाम दी जाती है। एक महीने के भीतर मकलावा या फिरन्नी होती है।

शादी की एक अन्य प्रथा का भी यहाँ प्रचलन है। सगाई के तुरंत बाद ही लड़का बिना ब्याह के लड़की को अपने घर ले आता है। लड़का लड़की के घर आता है और उसके माता-पिता से उसे अपने साथ ले जाने का प्रस्ताव करता है। वे चाहे सहमत हों या न, यदि कन्या वयस्का है, तो वह उसे साथ ले जाता है। हाँ, जहाँ लड़की की उमर छोटी हो, वहाँ माता-पिता की स्वीकृति अनिवार्य मानी जाती है। अपने घर आकर लड़का विधिपूर्वक शादी करता है, जिसमें उसके अपने संबंधी तो

tharahkardu.in

शामिल होते हैं, लड़की के नहीं होते हैं।

चंबा के भ्रमौर इलाके में लग्न-फेरों के तुरंत बाद सास वर को कामदेव की मूर्ति के सामने ले जाती है और उसकी पूजा करवाती है। वधू से भी पूजा करवाई जाती है। उसके सामने ही वधू की सिर-गुँदाई की जाती है, उसकी माँग भरी जाती है। कामदेव को लड़की के सुहाग का साक्षी बनाना बड़ी सारगर्भित और रोचक प्रथा है।

रीत—समाज के निम्न वर्ग में पुनर्विवाह निंदित नहीं है। पुनर्विवाह, हम देख चुके हैं, विधवा भी कर लेती है और ऐसी स्त्री भी, जिसका पति जीवित है। विधवा तो पति की मृत्यु पर उसके प्रति दायित्व से मुक्त हो जाती है, किंतु सधवा को पति से संबंधविच्छेद करना होता है। इस संबंधविच्छेद को 'रीत' कहा जाता है। रीत, वस्तुतः उन वस्त्राभूषण का मूल्य होता है, जो पति विवाह के अवसर पर अपनी पत्नी को देता है। इसमें ढेरी की रकम भी शामिल होती है। संबंधविच्छेद कभी-कभी स्त्री के दूसरे पति के घर बसने के बाद अन्यथा उससे पूर्व हो जाता है। रीत अथवा तलाक के लिए किसी कचहरी में जाने और कागज-पत्र लिखने-लिखवाने की आवश्यकता नहीं है। यह सामाजिक दायित्व है और समाज के पंचों के सम्मुख यह पूरा हो जाता है। रीत की सर्वप्रचलित विधि लकड़ी की नाजुक टहनी, घास का तिनका या ऊनी धागे को दो भागों में तोड़ने तक सीमित होती है। संबंधविच्छेद किसी भी पक्ष की माँग पर हो सकता है। आम तौर पर होता यह है कि पुरुष और स्त्री जब इकट्ठे रहना सुखकर नहीं पाते, तो स्त्री अपने मायके चली जाती है और पति के घर लौटने से इनकार कर देती है। कुछ समय के बाद पति या पत्नी, किसी की ओर से, गाँव के प्रतिष्ठित लोगों की पंचायत बुलाई जाती है और उसके सम्मुख उभयपक्ष अपनी-अपनी शिकायतें रखते हैं। पंचों का पहला प्रयत्न यह होता है कि उनकी गलतफहमियों को दूर कराकर, उनकी शिकायतों का निराकरण कर, उन्हें पुनः प्रीतिपूर्वक रहने को प्रेरित किया जाए। यदि वे अपने इस मनोरथ में असफल रहते हैं, तो स्त्री और पुरुष के हाथ में एक तिनका या लकड़ी दी जाती है। उसे बीच से तोड़ दिया जाता है। ज्योंही वह टूट जाती है, विवाह भी टूटा समझा जाता है और दोनों पक्ष एक-दूसरे के दायित्व से मुक्त माने जाते हैं। लाहुल में स्त्री और पुरुष ऊन का कच्चा धागा अपनी कनिष्ठ अंगुली में लपेटते हैं और हाथों को एक-दूसरे के हाथ से लगाकर कहते हैं कि अब उनका आपस में कोई संबंध नहीं है। यह कहकर वे हाथ खींच लेते हैं और नाजुक धागा टूट जाता है।

जहाँ स्त्री तलाक तो ले लेती है किंतु तुरंत ब्याह न करना चाहे, वहाँ रीत की राशि उसके माता-पिता या वह स्वयं देती है। यदि वह किसी के घर बस जाए, तो यह सारा भार उसका पति उठाता है। इसे ढेरी भरना कहा जाता है। यदि तलाक की

Digitised by
Tharah Kardu

माँग पुरुष की तरफ से हो, तो स्त्री अपना दहेज अपने साथ ले जाती है। पति की ओर से उसे कुछ रकम 'मान' के लिए दी जाती है।

नारी—यह कहना कदापि अतिशयोक्ति नहीं है कि पहाड़ी प्रदेश में आर्थिक और सामाजिक जीवन का मूलाधार नारी है। इसी कारण वह स्वतंत्र भी है और परतंत्र भी। कठिन जीवन, रात-दिन का कमरतोड़ परिश्रम, घर से दूर खेतों, वनों, जंगलों में काम, गृहस्थ की देखभाल और लगभग समूचे कृषि-कर्म के उत्तरदायित्व ने उसे अतुलनीय रूप से स्वच्छंदता, स्वतंत्रता, आत्मनिर्भरता और आत्मविश्वास दिया है, किंतु समाज के संपन्न, शिष्ट, सुसंस्कृत और उच्च वर्गों में वह एकदम परतंत्र है। यह विरोध विहंगम दृष्टि से देखने पर भी मालूम हो जाता है।

उच्च, संपन्न वर्गों में नारी जीवनपर्यंत आर्थिक रूप से परतंत्र है। बचपन में वह अपने माता-पिता और विवाहोपरांत पति पर निर्भर है। हिंदू उत्तराधिकार कानून से पूर्व उसकी अपनी न तो कोई जमीन होती थी और न ही तो अन्य जायदाद। वैधव्य में वह अपने ससुराल वालों अथवा अपने माता-पिता पर आश्रित थी। इस वर्ग की स्त्रियाँ, विशेषतः उच्च ब्राह्मण और राजपूत घरानों में केवल घर के भीतर का कामकाज ही देखती हैं। वे खाना बनाती हैं, चक्की चलाती हैं, कातती हैं, पानी भरती हैं, किंतु खेती का काम सामान्यतः नहीं करती हैं।

उनमें नारीत्व के प्रति गर्व है, अपनी मान की रक्षा वे जान पर खेलकर भी करती हैं। पातिव्रत्य का उनका आदर्श बहुत ऊँचा होता है। चंबा में छत्राड़ी तथा कुल्लू में निरमंड जैसे ऐतिहासिक सांस्कृतिक केंद्रों में स्त्रियाँ परपुरुष की परछाईं तक से दूर रहा करती थीं। उनका सदैव यह प्रयत्न रहा करता था कि पुरुष के सामने से वे गुजरें भी न, जिससे उसे उनके शरीर-सौष्ठव की ओर आकर्षित होने का अवसर ही न मिले। यही कारण है कि वे स्थांग या थाणी और चौतेड़ के पीछे से चला करती थीं, ताकि थाणी पर बैठे समाज के गण्यमान्य व्यक्ति, जनपदीय नेता उन्हें न देख पाएँ। काँगड़ा में उच्च राजपूत घरानों की स्त्रियाँ बहुधा पालकी में आया-जाया करती थीं। जिनकी पालकी रखने की या कहार करने की सामर्थ्य नहीं थी, वे उस समय और ऐसे मार्ग से यात्रा करती थीं, जहाँ उन्हें परपुरुष देख न सकें। घर पर भी बड़े बुजुर्गों से पर्दा किया करती थीं और सिर झुकाकर ही बातचीत करती थीं। शील और संयम की वे प्रतिमूर्ति कही जा सकती हैं। समाज को भी उनसे शील और पातिव्रत्य का बहुत ऊँचा आदर्श अभीप्सित था। इसीलिए भूँडा जैसे धार्मिक अनुष्ठानों के अवसर पर सार्वजनिक तौर पर उनके पतिव्रत की परीक्षा ली जा सकती थी और सहस्रों लोगों की नजरों के आगे उन्हें 'दिया भरना' होता था। अब समय की गति के साथ ये मानदंड भी बदल रहे हैं, परंपराएँ परिवर्तित हो रही हैं और आदर्श भिन्न

tharahkardu.in

होते जा रहे हैं।

समाज के घिरथ, राठी, खश, कनैत, राहू और कोली आदि अन्य वर्गों में और उत्तरी सीमांतक क्षेत्रों में स्त्रियाँ नितांत परावलंबी नहीं हैं। वे पुरुषों से बढ़कर काम करती हैं। पुरुष तो केवल हल ही चलाते हैं, खेती की गुड़ाई, नलाई, गोबर डालना, फसल काटना, सभी कार्य स्त्रियाँ करती हैं। गाय, बैल, भैंस की देख-रेख उनके जिम्मे है। घास, लकड़ी लाना उनका काम है। खाना पकाना वे ही जानती हैं। उपजाऊ भूमि थोड़ी, काम करने का समय थोड़ा, उपज थोड़ी और जिम्मेदारियाँ ज्यादा हैं। यही कारण है कि वे एक ओर जीवन के भार तले दबी, कुचली, दीन-हीन, निरीह पशुतुल्य दीख पड़ती हैं, तो दूसरी ओर उनमें आत्मसम्मान की भी कमी नहीं। वे अपना आर्थिक मूल्य जानती हैं। अतः यदि पतिगृह उन्हें उचित सम्मान और तुष्टि देने में असमर्थ हो जाए, तो उसका परित्याग करने में भी उन्हें झिझक नहीं होती है। वे दूसरा घर बसा सकती हैं और कई बार बसा लेती हैं। अपने महत्त्व और अधिकार के प्रति यह जागरूकता ही पति-परित्याग और पुनर्विवाह का कारण है।

आभूषणों से सभी नारियों को प्रेम है। वे चाहती हैं कि नाक, कान, गले में अधिकाधिक जेवर डाले जाएँ। उनका सर्वप्रिय जेवर बालू है, जो नाक में पहना जाता है। यह सर्वदा सोने का बना होता है। कोका, फुली, लौंग, ब्लाक और नथ अन्य आभूषण हैं, जो नाक में पहने जाते हैं। बालू, लौंग और नथ सुहाग-चिह्न हैं। इन्हें केवल सुहागिनें पहनती हैं, कुँवारी लड़कियाँ नहीं। कानों में सोने या चाँदी की बालियाँ, खुंडियाँ और झुमके पहने जाते हैं। सिर पर जंजीर की आकृति का आभूषण पहना जाता है जिसका नाम भिन्न-भिन्न स्थानों में अलग-अलग है। बालू के साथ चाक भी सुहाग का चिह्न है। चाक बालों में सिर के पीछे पहना जाता है। यह भी सोने का होता है। गले में सोने का कंठा, सोना और काले मूँड़ों का काच एवं फुलझड़ी, दोलड़ी, दाड़माड़ा, हार, कंठी, चंपाकली आदि अनेक प्रकार की मालाएँ पहनी जाती हैं। संपन्न परिवारों में ये सोने की बनी होती हैं। किंतु आम तौर पर ये चाँदी की ही होती हैं। हाथ में पहनने का कंगन भी चाँदी का होता है, किंतु चूड़ियाँ सोने की होती हैं। अँगूठियाँ और छल्ले सोने और चाँदी दोनों के होते हैं। किन्नौर में गाची के साथ एक चाँदी की जंजीर पहनी जाती है, इसे शंगलंग कहते हैं। वहाँ स्त्रियाँ छापी पर पट्टु को बाँधने के लिए पान के पत्ते के आकार का चाँदी का जेवर प्रयुक्त करती हैं। इसके पीछे चाँदी का ही पिन लगा रहता है। घुटनों में पाजेब, झंझर, टोका और नेउरी पहनी जाती है। ये सभी चाँदी की बनी होती हैं। पाँव की अंगुलियों और अँगूठे के लिए पोली या फुल्लू नाम के जेवर होते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि हिमाचली नारी सिर से लेकर पैर तक आभूषणों से लदना पसंद करती है। यह उसकी आर्थिक

Digitised by
Tharah Kardu

स्थिति पर निर्भर है कि उसकी शृंगार पिटारी में कितने जेवर हैं। विधवाएँ जेवर नहीं पहनती हैं।

कुछ वर्ष पूर्व तक पुरुष भी कानों में ननेती या मुर्की पहना करते थे। गद्दी तो आज भी इस प्रकार के जेवर धारण किया करते हैं।

स्त्रियाँ इन जेवरों को तीज-त्योहार, ब्याह-शादी या अन्य शुभ अवसर पर, देव-पूजा तथा मेलों पर पहनती हैं। प्रतिदिन केवल सुहाग-चिह्न ही लगाए जाते हैं।

नारी जाति के सामाजिक और आर्थिक महत्त्व के कारण कन्या का जन्म यहाँ अभिशाप नहीं माना जाता। हाँ, यह अवश्य है कि उसके जन्म पर उस प्रकार का हर्षोल्लास प्रदर्शित नहीं किया जाता जैसे पुत्र के जन्म पर। बाल्यावस्था में कन्याओं की पूजा की जाती है, उन्हें देवी का रूप माना जाता है। घर में लड़की को बोझ नहीं गिना जाता, क्योंकि विवाह तक वह घर के कामकाज में पूरा भाग लेती है और माता-पिता के कृषि-कार्य में सहायता करती है। उसके ब्याह पर भी अधिक खर्च नहीं आता है। फिर भी माँ-बाप के अवचेतन मन में कहीं न कहीं यह भाव छिपा-सा मालूम होता है कि यदि पुत्री के बजाय पुत्र होता तो बेहतर होता। यह लोकोक्ति कि 'धियाँ दीयो राणी, बुढ़ापे भरे पाणी', इस ओर इंगित करती है।

tharahkardu.in

अष्टम अध्याय

कलात्मक संपदा

कला—आदिकाल से मनुष्य अपने चारों ओर देखता आया है। चतुर्दिक् वातावरण के अनेक चित्र उसके अचेतन मन पर बनते-बिगड़ते रहे, कई भाव मन में आते-जाते रहे। इन चित्रों को मूर्त रूप देने और भावों को अभिव्यक्त करने का उसने सदा प्रयत्न किया, क्योंकि अपने हर्ष-विषाद को व्यक्त करके ही वह संतुष्ट हो सकता है। इस आत्मतुष्टि के लिए, भावों को अभिव्यक्त करने के लिए उसने जिन संसाधनों का उपयोग किया, वे ही कला हैं।

जीवन को सुसंस्कृत बनाने वाले साधन कला हैं और विचारों की कुशल अभिव्यक्ति कला है। कला, मुख्यतः बुद्धि और हृदय से उपजती है, अतः उसका प्रभाव भी बुद्धि और हृदय पर पड़ता है और उसकी अनुभूति भी इन दो के द्वारा ही होती है। कोई चित्र, किसी संगीत की धुन हमारे हृदय और मस्तिष्क को आलोकित कर आनंद देते हैं। इसीलिए कला का सीधा संबंध अधिकतर हमारे बौद्धिक तथा मानसिक जीवन से है। वह जीवन को अनुप्राणित और अनुप्रेरित करती है।

भावों की अभिव्यक्ति का स्वरूप क्या है, इस आधार पर कला को छह वर्गों में बाँटा गया है। इनके नाम हैं—वास्तुकला, मूर्तिकला, चित्रकला, संगीतकला, नृत्यकला और काव्यकला।

ये भेद अंतिम नहीं। वस्तुतः कला की कोई सीमा नहीं है, वह तो मानवबोध को उजागर करने और मानव को आनंद प्रदान करने का साधन है। उसके विविध रूपों का विभाजन मोटे तौर पर सुविधा के लिए किया गया है।

हिमाचल के संदर्भ में हम संगीत, मूर्ति, मंदिर, चित्र, नाट्य, नृत्य और मेले पर ही प्रकाश डालेंगे।

भारतवर्ष में कला को सदा से विद्या के लिए प्रयुक्त किया गया है। दर्शन और धर्म के मूलभूत सिद्धांतों को लोगों तक नाटक, संगीत, नृत्य, चित्र और मूर्तियों द्वारा ही पहुँचाया जाता रहा है।

संगीत—कला पर एक प्राचीनतम कृति 'विष्णु धर्मोत्तरा' में संगीत, नृत्य और मूर्ति-निर्माण के पारस्परिक संबंधों की व्याख्या करते हुए कहा गया है कि ये बाह्य लय

Digitised by
Tharah Kardu

की आंतरिक अभिव्यक्ति हैं। रंग, ध्वनि और रूप अभिव्यक्ति की समान भाषा के ही विविध स्वरूप हैं।

जहाँ तक हिमाचल प्रदेश का संबंध है, वहाँ काव्य, संगीत और चित्रकला का समन्वय संसार में अद्वितीय है। प्रतीत होता है कि ये तीनों कलाएँ एक-दूसरे के लिए ही बनी हैं। गीत और नृत्य सामान्यतः संगीत के लिए ही हैं। यही उनकी उपादेयता है, यही आधार है। गीत तो गेय होते ही हैं, यहाँ पर अनेक कथाएँ और लोकगाथाएँ भी पद्यबद्ध हैं और फलस्वरूप उनमें भी लय का प्राथमिक महत्त्व है। गीत की सार्थकता गान में ही है, उसकी लय में है, संगीत में है।

वाद्य के संगीत के समान ही गीतों और गाथाओं के संगीत की अपनी विशेषता है। हृदय में करुणा, वीरता, शृंगार, उत्साह, विराग आदि भावों को जागृत करने की क्षमता गीतों की विषयवस्तु में ही नहीं, उनके संगीत में भी सम्मिलित मिलती है। झुरी, झँझोटी, लामण, वारें, छींजे, बिदाई गीत, गोपीचंद और भरथरी एवं कई नाटी गीतों को सुनते हुए उनके संगीत स्वरों के आधार पर कोई भी श्रोता उनका अर्थ समझे बिना भी उनकी भावभूमि का अनुमान लगा सकता है। यदि हम कहें कि इस प्रदेश के साहित्य के एक बहुत बड़े भाग का काम एक प्रकार से संगीत के लिए बोल उपलब्ध कराना है, तो अनुचित न होगा।

करुण गीतों की लय प्रायः लंबी और दबी-दबी-सी होती है। प्रेमगीत विशेषतः झुरी, लामण, दशी, झँझोटी, झुल्पिया और गुलाबी में हृदय का उल्लास ध्वनि के साथ नाचता-थिरकता प्रतीत होता है। गीत और संगीत के इस सम्मिलित रूप को ध्यान में रखते हुए ही यह कहा जाता होगा कि लामण दो हृदयों को एक करने का सशक्त माध्यम है। सुनने में यह भी आया है कि लामण गाने की होड़ के फलस्वरूप पहली बार मिले दो अपरिचित व्यक्ति ब्याह-सूत्र में बँध गए। वीर गीतों में स्वरों का आरोह अधिक होता है।

संगीत के विद्वानों का कहना है कि पहाड़ी प्रदेश में आज भी संगीत की वह पद्धति विद्यमान है जो प्राचीन यूनान और भारत की पद्धति की तरह अवरोह पर आधारित थी।

पहाड़ी संगीत का अध्ययन शास्त्रीय संगीत के सिद्धांतों के आधार पर नहीं हो सकता है। दोनों के मानदंड पृथक्-पृथक् हैं, किंतु आधार दोनों का एक ही है। संगीतशास्त्री यह मानते हैं कि रागों का जन्म तीन स्रोतों से हुआ है। अलौकिक, ऋषि-मुनियों द्वारा प्रगीत तथा लोकसंगीत। वस्तुतः लोकसंगीत का आधार बड़ा प्रबल है। राग पहाड़ी स्पष्टतः शास्त्रीय संगीत के लिए इस पर्वतीय प्रदेश की देन है। इसके अतिरिक्त दुर्गा, सारंग, पूरिया, पूर्वी, हिंडोल, भीम पलासी, भैरवी, मालकौंस,

tharahkardu.in

केदार आदि रागों की थोड़ी-बहुत रूपरेखा यहाँ के संगीत में भी मिलती है। अतः यह कहा जा सकता है कि पहाड़ी संगीत की पृथक् शैली या घराना नहीं है, किंतु इस संगीत में शास्त्रीय संगीत के मूल तत्त्व विद्यमान हैं। एक बात और है, संगीत शास्त्रों में उल्लिखित बहुत सारे राग अपना अस्तित्व खो बैठे हैं। परंतु हिमाचल की लयों में, धुनों में उन रागों का प्रारंभिक स्वरूप आज भी सुरक्षित है।

सुगम संगीत और चलचित्र संगीत को समृद्ध बनाने में हिमाचली संगीत ने बहुत योगदान दिया है।

अन्य ललितकलाओं के अनुरूप संगीत का उद्‌भव भी देवताओं से माना जाता है। ऐसा विश्वास है कि स्वयं शिव ने नाद को जन्म दिया। उन्होंने ही मुख्य छह रागों में से पाँच को प्रचलित किया। केवल एक राग पार्वती के लिए रख छोड़ा।

लोक मन में संगीत की श्रेष्ठता सिद्ध करने एवं इस कला का प्राचुर्य दर्शाने के लिए राजा इंद्र की सभा का उदाहरण दिया जाता है। उस सभा के प्रमुख संगीतज्ञ गंधर्वों और किन्नरों में से किन्नर वंशज आज भी हिमाचल में वर्तमान हैं, जबकि इंद्र के अन्य संगीतकार केवल पौराणिक उपाख्यान बनकर रह गए। इस दृष्टिकोण से यह निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि संगीत की एक विशिष्ट परंपरा हिमाचल प्रदेश में उपस्थित है।

संगीत के प्रति साधारण हिमाचली के मन में कितना मोह है, उससे कितना प्यार है, यह निम्नांकित लामण से सिद्ध हो जाता है, जिसमें गायक गाने से पूर्व देवता से प्रार्थना करता है कि :

'देउआ राजीआ, सेवा साहिबो तेरे,
लामण इयेरे शांगे, कोरे बाजले मेरे।'

"हे देव, मैं सदा तेरी सेवा करता आया हूँ। आज मैं लामण लगाना (गाना) चाहता हूँ। कृपया मेरे कंठ को साफ बना, जिससे इसमें सुरीलापन, लोच, माधुर्य और गांभीर्य आ जाए।"

वाद्य—हिमाचल को यह गौरव प्राप्त है कि शास्त्रों में जिन आदि वाद्यों का उल्लेख है, वे आज भी उसी रुचि से यहाँ बजाए जाते हैं। भारतीय समाज ने डमरू और बाँसुरी को देवतुल्य माना, क्योंकि वे शिव और कृष्ण के प्रिय वाद्य थे। यह माना जाता है कि सारा ब्रह्मांड इन्हीं दो यंत्रों के संगीत की लय पर घूमता है। इस प्रदेश में यही डमरू (जिसे ढेंकुली, हुलक और पैओल भी कहा जाता है) और बाँसुरी देव-पूजा विशेषतः विष्णु-पूजा के अनिवार्य यंत्र हैं। कई भागों में चाहे सामाजिक नृत्य हो या पौराणिक अथवा धार्मिक, देव-पूजा हो या कोई पर्व, उत्सव हो या त्योहार,

Digitised by
Tharah Kardu

डमरू और बाँसुरी का होना नितांत आवश्यक है। दियाउड़ी जैसे युद्ध-नृत्यों में भी इनका प्रयोग होता है। डमरू और बाँसुरी के अलावा मुख्यतः ढोल, दमामा, नगाड़ा, काहा, करनाल, नरसिंघा, तूरी, शंख, भाणा, शहनाई, डफ, थाली, खंजरी और मंजीर वाद्यों का प्रचलन है।

शंख और नरसिंघा को छोड़ प्रायः सभी वाद्य-यंत्र उन लोगों द्वारा बजाए जाते हैं जिन्हें बाजगी, डूमणे, ढोली, बजंतरी आदि कहा जाता है। देव-पूजा में शंख, नरसिंघा, भाणा और थाली सुवर्ण बजा लेते हैं, वैसे शंख और नरसिंघा पूर्णतः उन्हीं के यंत्र हैं।

बाँसुरी ऐसा स्वर-यंत्र है जिसे घर पर या वन के एकांत में कोई भी बजा लेता है, अन्यथा वाद्य-यंत्र विशेष अवसरों, मंगल कार्यों, उत्सवों, मेलों और देव-कार्यों पर ही बजाए जाते हैं।

हिमाचल के संगीत को बाजगियों की बहुत बड़ी देन है। वे एक प्रकार से स्वयंसिद्ध गायक हैं। ढोल और दमामा आकार में बहुत साधारण वाद्य हैं, किंतु बाजगी उनका वादन जिस निपुणता से करते हैं, वह सुनने योग्य है। परंपरा यह है कि यह वादन शास्त्रीय पद्धति पर आधारित है। देवता के आह्वान अर्थात् गूर छेराउणा के समय बाजगी जिस ताल-लय से ढोल बजाता है, वह सारे शरीर में रोमांच-सा ला देता है, हृदय काँप-सा जाता है। इसी प्रकार देवता के एक स्थान से दूसरे स्थान को जाते हुए तथा वरयात्रा में ढोल की ध्वनि में स्वाभाविक गति होती है। दूर से सुनने पर ही मालूम हो जाता है कि आया देवरथ अथवा वर-पालकी गतिशील है या कहीं ठहरी हुई है। इसी प्रकार नाटी आदि सामूहिक नृत्यों में तथा नाटारंभ और हाड़ी आदि वैयक्तिक नृत्यों में पृथक्-पृथक् वाद्यों, ताल और ध्वनि की परंपरा मिलती है। युद्ध और मृत्यु के वाद्य की बिलकुल भिन्न शैलियाँ होती हैं। इन शैलियों में व्यक्त अभिप्राय दूर से सुनकर ही समझा जा सकता है।

गीतों के साथ वाद्य का प्रयोग केवल उस स्थिति में होता है, जब नृत्य के साथ गीत भी गाए जा रहे हों। धार्मिक अवसरों, मेलों आदि में वाद्य, गीत और नृत्य तीनों का समावेश होता है।

समग्र रूप से देखा जाए, तो कला के क्षेत्र में इस प्रदेश का एक विशिष्ट स्थान है। जैसा हम आगे देखेंगे, सैकड़ों वर्षों तक कला अपने विभिन्न अंगों और विविध स्वरूपों में यहाँ पनपी, पल्लवित और पुष्पित हुई है।

मंदिर और मूर्ति—देश के कला इतिहास को क्रमबद्धता देने में हिमाचल का बहुत बड़ा हाथ रहा है। संभवतः अनेक लोगों को आश्चर्य होगा, यदि यह कहा जाए कि भारत के इतिहास में, जिसे कलाक्षेत्र में विद्वान् अंधकार युग कहते आए हैं, उसी

tharahkardu.in

युग के सैकड़ों स्मारक और अवशेष आज भी इस प्रदेश में विद्यमान हैं।

जब विभिन्न ऐतिहासिक कारणों से उत्तरी भारत में मंदिर और मूर्तियाँ नष्ट-भ्रष्ट हो गई थीं, कला के पनपने के लिए उपयुक्त वातावरण का अभाव हो गया था, तब हिमाचल प्रदेश ने न केवल देश के समृद्ध भंडार के अनूठे रत्नों को विध्वंसकारियों से बचाए रखा, अपितु अपने स्वच्छ, स्वच्छंद, उन्मुक्त, शांत तथा अनालोडित वातावरण में मूर्तिकला की विविध शैलियों को पनपने, पल्लवित एवं पुष्पित होने का अवसर दिया था। यही कारण है कि हिमाचल के एक छोर से लेकर दूसरे छोर तक, उत्तर से दक्षिणी भाग तक स्थान-स्थान पर गुप्तकालीन, गुप्तोत्तर, कुषाण, मौखरी, प्रतिहार, कश्मीर तथा स्थानीय त्रिगर्त कला के उत्कृष्ट नमूने मिलते हैं।

यही नहीं, भारत से बाहर दक्षिण-पूर्व एशिया के जावा, कंबोदिया तथा बाली में भारतीय कला के जो महान् स्मारक मिलते हैं, उनकी शैली का प्रतिरूप हमें हिमाचल में उपलब्ध है। कतिपय कला-समीक्षकों का कहना है कि कला के विकास और संरक्षण में हिमाचल के मंदिरों का वही स्थान है, जो अजंता, एलोरा और बाघ का।

यह प्रसन्नता एवं गर्व की बात है कि इस प्रदेश ने कला के विकास और प्रसार के लिए सभी साधनों का उपयोग किया। यहाँ पर काष्ठ, पत्थर, अष्टधातु, काँसा, सोना, चाँदी सभी धातुओं को इसके लिए बरता गया। इतना ही नहीं, संभवतः हिमाचल यह दावा कर सकता है कि उसने कला के लिए न केवल कागज, अपितु ऊन, सूत और कपड़े तक का प्रयोग किया है।

ईसा की पहली-दूसरी शताब्दी से लेकर अठारहवीं शताब्दी तक कला की एक अनवरत धारा यहाँ बहती रही है, जिसमें कभी भवन-निर्माण की, कभी मूर्तिकला की और कभी चित्रकला की प्रमुखता रही है। उत्तर गुप्तकालीन तथा कश्मीर कला के अलभ्य नमूने उत्तर भारत में केवल हिमाचल प्रदेश में ही प्राप्त हैं। यहाँ के मंदिरों को देखकर हमें यह समझने में आसानी रहती है कि मध्ययुगीन कला शैली किस प्रकार धीरे-धीरे लुप्त हो गई और किस प्रकार मुगल और सिख शैलियों ने जन्म लिया है।

मंदिर—हिमाचल मंदिरों का प्रदेश है। किसी गाँव में जाइए, चाहे वहाँ 10-15 निवासी हैं या सैकड़ों-हजारों, एक मंदिर तो अवश्य मिलेगा। साधारणतया मंदिरों का प्रिय स्थान वन, पर्वत-शिखर, झरना, तालाब या गुफा है। इन मंदिरों का न तो कोई भवन होता है और न ही यहाँ मूर्तियाँ स्थापित होती हैं। यदि किसी मंदिर में कोई मूर्ति हो भी, तो वह कई बार तो केवल शिलामात्र होती है, या भद्दी-सी प्रतिमा, गोल पिंड या केवल कंकर। इस प्रकार के मंदिरों की बड़ी पहचान उसके ऊपर और इर्द-गिर्द टँगी लाल-पीली झंडियाँ होती हैं। जब कभी कोई टूटा-फूटा-सा कमरा ही

Digitised by Tharah Kardu

मंदिर का काम दे देता है। इन मंदिरों के अतिरिक्त गाँव का पृथक् मंदिर या 'देउरा' अथवा 'देहरा' होता है। इन मंदिरों में प्रायः किसी देवी या नाग की मूर्ति अथवा शिवलिंग होता है। कुछ ऐसे भी 'देउरे' हैं, जहाँ केवल ग्राम देवता का रथ और मुखोटे, 'मीहरे' या 'मोहरे' रखे जाते हैं। सामान्यतः मूर्ति वाला मंदिर 'देउरा' कहलाता है और रथ तथा मुखोट का भंडार, कोठी।

स्थानीय देवी-देवताओं के मंदिरों के अलावा शिव, विष्णु और अन्य शास्त्रीय एवं पौराणिक देवी-देवताओं के मंदिर भी प्रायः सभी गाँव में होते हैं। इस प्रकार एक गाँव में दो-दो, चार-चार मंदिर होना सामान्य बात है। चंबा में भ्रमौर का सारा इलाका शिव भूमि, मंडी शिव की नगरी और निरमंड पांडित्य तथा मंदिरों की संख्या के कारण पर्वतीय काशी के नाम से जाने जाते हैं। चंबा में तो एक स्थान पर छह मंदिरों की पंक्ति है, जिनमें विष्णु और शिव सह-अस्तित्व की नीति का अनुसरण कर भाईचारे से निवास करते हैं। चौरासी स्थान पर नाम के अनुरूप चौरासी मंदिर हैं। शिमला में हाटकोटी और मंडी में ममेल और काव प्राचीन मंदिरों के लिए विख्यात हैं। यही स्थिति रामपुर बुशैहर, जुब्बल, नाहन, रेणुका, पुराना बिलासपुर, नग्गर और जगतसुख की है। काँगड़ा, बैजनाथ, ज्वालामुखी और टीरा सुजानपुर शताब्दियों से मंदिरों के कारण प्रसिद्ध हैं। काँगड़ा के मंदिरों की ख्याति भारत से बाहर के देशों तक फैली थी और किसी समय उनकी तुलना सोमनाथ जैसे मंदिरों से की जाती थी। यही कारण है कि दसवीं शताब्दी में महमूद गजनवी ने अपनी लूटपाट में काँगड़ा देवी के मंदिर को भी सम्मिलित किया था।

इससे ज्ञात होता है कि पुरानी राजधानियों और प्रमुख सांस्कृतिक केंद्रों में इन मंदिरों का आधिक्य है। यहाँ पर मंदिरों के सुंदर भवन बने हैं, जिन्हें हम निर्माण-सामग्री के आधार पर तीन भागों में बाँट सकते हैं—पाषाण मंदिर, काष्ठ मंदिर और मिश्रित मंदिर।

गुफा मंदिरों की एक पृथक् श्रेणी है। प्रमुख गुफा मंदिर मसरूर, त्रिलोकपुर और निरमंड (बाइल) में हैं।

मसरूर—हरिपुर से आठ मील तथा काँगड़ा से बैजनाथ की ओर बारह मील की दूरी पर स्थित मसरूर के मंदिर हिमाचल प्रदेश में गुफा मंदिरों के सर्वोत्कृष्ट उदाहरण हैं। 160 फुट लंबी और 105 फुट चौड़ी बलुआ चट्टानों को काटकर बनाए गए शिखर शैली के ये 15 मंदिर महाबलिपुरम और एलोरा के विश्वविख्यात मंदिरों की तरह भव्य हैं।

ये मंदिर शिलाखंडों पर अंकित मूर्तियों से भरे पड़े हैं। सभी मूर्तियाँ सजीव हैं, जिनके अंकन में विवरण का विशेष ध्यान रखा गया है। गंधर्व और मत्स्य चित्रण

tharahkardu.in

सशक्त है। वस्तुतः मसरूर के गंधर्व औरंगाबाद (एलोरा) की गुफा के विख्यात गंधर्वों से भी अधिक संतुलित हैं। सर्वोत्तम मंदिर ठाकुरद्वारा है, जिसके मुख्य द्वार के ऊपर तो शिव की सुंदर मूर्ति है और गर्भगृह में राम, सीता और लक्ष्मण की मूर्तियाँ हैं।

इन मंदिरों का निर्माण अनुमानतः आठवीं शताब्दी में हुआ है। ठाकुरद्वारे की निर्माण-योजना जावा और खमेर के प्रख्यात मंदिरों जैसी है।

सतलुज उपत्यका में बायल का 'देउढाँक' गुफा मंदिर खड़िया की एक बहुत बड़ी चट्टान में बीचोबीच प्राकृतिक रूप से बना है। इसका प्रवेश-मार्ग सँकरा है, किंतु भीतर से गुफा काफ़ी चौड़ी है। गुफा में पूर्व दिशा की ओर चट्टान में ही दो लिंग बने हैं, जिन पर बूँद-बूँद कर पानी टपकता रहता है।

पाषाण मंदिर—इन मंदिरों के निर्माण में केवल पत्थर प्रयुक्त हुए हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि पाषाण मंदिरों का प्रचलन मुख्यतः 5वीं शताब्दी से 12वीं शताब्दी तक रहा है, और उस समय का शायद ही कोई महत्त्वपूर्ण ग्राम या नगर ऐसा हो, जहाँ ये मंदिर न हों।

पाषाण मंदिर सामान्यतः शिव, विष्णु और सूर्य के हैं। ऐतिहासिक पाषाण मंदिरों में हम मसरूर की भी गिनती कर सकते हैं। इसके अतिरिक्त शिमला में निरत और चंबा में गुम के सूर्य मंदिर, बजौरा, बैजनाथ, मनिमहेश, निरमंड, नग्गर, जगत-सुख, मंडी, रामपुर बुशैहर और चंबा के शिव मंदिर उल्लेखनीय हैं। नग्गर में शिवलिंग के स्थान पर उमाशंकर की तीन फुट लंबी मूर्ति है।

चंबा के लक्ष्मीनारायण और वज्रेश्वरी मंदिर पाषाण पर अंकित सुंदर और भव्य मूर्तियों के लिए प्रसिद्ध हैं। प्रायः सभी पाषाण मंदिर गुप्तकालीन शिखर मंदिरों के आकार के हैं।

बैजनाथ—बैजनाथ के विख्यात शिव वैद्यनाथ मंदिर का निर्माण काँगड़ा के दो शिल्पी, नयका और ठोडुक ने किया है। सामू नामक शिल्पीराज ने मंदिर की परियोजना बनाई थी।

12वीं शताब्दी के इस मंदिर के प्रवेश-द्वार में द्वारपाल के रूप में गंगा और यमुना की वीणा और कुंभधारिणी सुंदर मूर्तियाँ हैं। गर्भगृह में शिवलिंग है। मंडप की उत्तरी और दक्षिणी भीति के छोर पर शिखर शैली के छोटे-छोटे मंदिर हैं। पूर्वी भीति में बूट-कोटधारी सूर्य की मूर्ति है।

वैद्यनाथ के मंदिर में भी काँगड़ा की स्वच्छंद भैरवी की मूर्ति के नर्तक गणेश की तरह नृत्यरत गणपति है। साथ में नटराज शिव की विशाल पाषाण मूर्ति है। अनेक भुजाओं वाली यह संपूर्ण मूर्ति लयात्मक है।

Digitised by
Tharah Kardu

मंडी के शिवद्वारों में स्थित पाषाण नंदी जैसा ही वृहत् नंदी यहाँ भी है, जो संभवतः 12वीं शताब्दी के बाद का है।

बैजनाथ में मूर्तिकला और वास्तुकला का अपूर्व समन्वय देखने में आता है।

बजौरा—लगभग यही विशेषता हमें कुल्लू में व्यास के किनारे स्थित बजौरा के प्रसिद्ध मंदिर में भी दिखाई देती है। यहाँ शैव, शाक्त और वैष्णव संप्रदायों की प्रतिनिधि मूर्तियाँ हैं। भवन आकार में बहुत बड़ा नहीं, किंतु उस पर अंकित तथा अंदर रखी गई विष्णु, महिषासुरमर्दिनी और गणेश जैसी मूर्तियाँ कला की दृष्टि से उत्कृष्ट हैं।

विष्णु में सौम्यता है और महिषासुरमर्दिनी में गतिशीलता और क्रियात्मकता है। एक हाथ में त्रिशूल लिए और एक दूसरे से महिषासुर के बाल पकड़ने वाली अष्ट-भुजा दुर्गा ऐसे लगती है मानो उसी क्षण वह अपने शत्रु के प्राण ले रही है। पत्थर की इस मूर्ति में उतनी ही सजीवता और कला-सौष्ठव है जितना किसी अष्टधातु की मूर्ति में हो सकता है।

दुशाल—कुल्लू में ही दुशाल का शिव-मंदिर कला-चित्रण में प्रख्यात खजुराहो मंदिर जैसा है। प्रवेश-द्वार के दोनों ओर मैथुन युगल अंकित हैं। उत्तरी भारत में यह अकेला उदाहरण है। सारे का सारा भवन अलंकृत है, किंतु खेद है कि सुरक्षा की समुचित व्यवस्था न होने से कला की यह अमूल्य थाती भग्न हो रही है। द्वार के स्तंभ टूट रहे हैं और एक ओर का द्वारपाल धूल-धूसरित हो गया है। भवन में दरारें आ गई हैं।

निरत—निरत का सूर्य मंदिर सतलुज उपत्यका में शक राज्य का स्मरण कराता है। इसका भवन छोटा है जिसे स्थानीय शिल्पियों ने बनाया है। मंदिर के आँगन में पुरानी खंडित मूर्तियाँ हैं, जो संभवतः कभी मंदिर में स्थापित की गई थीं। इनमें एक विष्णु की मूर्ति है। गणेश और सूर्य की दो अन्य सुंदर मूर्तियाँ हैं। इनके हाथ में सूर्यमुखी पुष्प हैं। मंदिर के भीतर जगमोहन में भी सूर्य की बड़ी-बड़ी मूर्तियाँ हैं, और वैसी ही वृहदाकार सूर्य-मूर्ति गर्भ-मंदिर में है। मंडप में विष्णु और हर गौरी की प्रतिमाएँ हैं। निर्माण की दृष्टि से यह मंदिर बंगाल में बाकुरा के सिद्धेश्वर (शिव) मंदिर जैसा है।

काष्ठ मंदिर—इस प्रकार के मंदिरों में लकड़ी का बहुत अधिक प्रयोग होता है, इसी कारण इन्हें काष्ठ मंदिर कहा गया है। दीवारों में पत्थर की एक बारीक-सी पट्टी, लकड़ी के चौड़े-चौड़े शहतीरों के बीच में होती है। छतें, प्रांगण, मंडप, थंभ आदि सब काष्ठ के होते हैं। किन्नौर में कोठी देवी का मंदिर, भीमाकाली भवन, निरमंड में दक्षिणेश्वर महादेव का भग्नप्राय मंदिर और नग्गर का मंदिर इस वर्ग के कुछ उत्कृष्ट

tharahkardu.in

नमूने हैं।

किंतु काष्ठ मंदिरों में सर्वोच्च स्थान लाहुल के मृकुला देवी के मंदिर को प्राप्त है। भ्रमौर का लक्षणा देवी मंदिर और चित्राढ़ी का शक्ति देवी मंदिर भी इस प्रकार के उत्तम उदाहरण हैं। इनके अतिरिक्त मिंथल, मनाली, पराशर, करसोग, सराहन, सराहाँ, मूरंग और किल्बा में भी सुंदर प्राचीन काष्ठ मंदिर हैं। इस वर्ग के मंदिरों के भवन कहीं-कहीं तो प्राचीनकाल से ही चले आए हैं, परंतु कई स्थानों पर पुराने भवन ढह गए हैं। उनकी मूर्तियाँ और खुदे हुए पत्थरों और लकड़ी को उन्हीं के ऊपर नए बने भवन के निर्माण में प्रयुक्त किया गया है। कुछ मंदिर ऐसे भी हैं, जिनमें पुरानी मूर्तियों, खुदी हुई देवी-देवताओं की मूर्तियों, पुष्प, पशु-पक्षी, नाग, किन्नर, गंधर्व और यक्षों की आकृतियों की नकल कर नई मूर्तियाँ बनाई गई हैं। इस प्रकार 6-7वीं शताब्दी से लेकर आधुनिक युग तक के भवन हमें देखने को मिलते हैं। इस संबंध में एक बात ध्यान में रखनी होगी। शिल्प और कला उत्तरोत्तर निखरने के बदले क्षीण होते गए और मूर्तियाँ कई बार नितांत स्थानीय तथा अपरिपक्व रूप में बदल गईं, जिनमें पुरानी मूर्तियों का सौंदर्य नहीं रहा।

जहाँ तक मृकूला, भ्रमौर और चित्राढ़ी के मंदिरों का संबंध है, वे गुप्तोत्तर शैली के समझने की केवल मात्र कुंजी हैं। इसी कला ने नेपाल, बृहत् भारत, पूर्वी तुर्किस्तान, चीन और जापान की बौद्ध शैली को प्रभावित किया था। ये तीनों मंदिर चंबा के राजा मेरुवर्मन द्वारा 7-8वीं शताब्दी में बनवाए गए थे। इनमें देवदारु के बड़े-बड़े शहतीर प्रयुक्त हुए हैं, जिन पर खुदाई कर अति सुंदर और सजीव मूर्तियाँ बनाई गई हैं। पूजा की मूर्तियाँ अष्टधातु की बनी हैं।

ये मंदिर गुप्त और गुप्तोत्तर कला का भव्य उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। एक कला-समीक्षक का कहना है कि इन मंदिरों की काष्ठ एवं अष्टधातु मूर्तियाँ उतनी ही सुंदर हैं, जितनी अजंता, औरंगाबाद, एलोरा आदि गुफा मंदिरों की। उसके अनुसार चौथी-पाँचवीं शताब्दियों के उपरांत की भारतीय कला और शिल्प के उदाहरण देश के दक्षिणी और मध्यवर्ती भागों में तो उपलब्ध हैं, किंतु उत्तर में हमें केवल ये मंदिर ही मिलते हैं। इस अर्थ में ये तीनों मंदिर कला के तथाकथित अंधयुग में प्रकाश-स्तंभ का कार्य करते हैं।

मृकुला-उदयपुर का मृकुला देवी मंदिर—यह बड़े सुखद आश्चर्य की बात है कि हिमाचल प्रदेश का सबसे बड़ा कलात्मक मंदिर यहाँ के ऐतिहासिक तथा सांस्कृतिक नगरों से दूर सीमांत लाहुल में है। वहाँ चंद्रभगा और मेयर नाले के संगम पर मृकुला नाम का गाँव है, जिसे सन् 1695 के आसपास चंबा के राजा उदयसिंह ने उदयपुर में बदल डाला था। तब से यह मृकुला-उदयपुर भी कहलाता है।

Digitised by
Tharah Kardu

धार के ढलान पर स्थित लकड़ी की नुकीली छत वाला यह मंदिर दूर से देखने पर इलाके के अन्य सामान्य घरों जैसा लगता है। किंतु ज्योंही इसके निकट पहुँचकर देखते हैं, तो प्रवेश-द्वार पर खुदी मूर्तियों की बहुलता, प्रतीकात्मकता और सजीवता तुरंत प्रभावित कर देती है। भीतर प्रविष्ट होने पर जो दृश्य सामने आता है, दर्शक, किंकर्तव्यविमूढ़-सा हो कुछ क्षणों के लिए स्तंभित हो जाता है। उसके सम्मुख चारों ओर, छत पर, दीवार पर, खिड़कियों में, मंडप और मंडप के थंभ (स्तंभों) पर, जगमोहन और गर्भ-मंदिर के द्वार पर समस्त भारतीय संस्कृति का मूर्त रूप सामने आ जाता है। देवदारु के शहतीरों और तख्तों पर खुदी मूर्तियाँ इतनी सशक्त और सजीव हैं, मानो वे स्वयं अपनी कहानी सुना रही हों।

एक ओर महाभारत का दृश्य है, तो दूसरी ओर रामायण-प्रसंग खुदा है। तीसरी ओर बौद्ध इतिहास है और चौथी ओर पौराणिक गाथाएँ चित्रित हैं। थंभ दुर्गों का अभिप्रायः प्रस्तुत करते हैं। एक थंभ पर महारथी अर्जुन 'कपिध्वज' वाले अपने रथ में खड़े हैं, पीछे विष्णु हैं और सामने अन्य रथ पर महावीर कर्ण। दोनों ने तीर साध रखे हैं। एक अन्य चित्र गोहरण का चित्र प्रस्तुत करता है, जिसमें संभवतः त्रिगर्त के राजा सुशर्मण को पांडव बंधुओं से युद्ध करते दिखाया गया है।

द्रौपदी-स्वयंवर का मूर्तिकरण अत्यंत सजीव है। भिन्न-भिन्न दृश्यों में पहले राजा द्रुपद राजसिंहासन पर बैठे मंत्रणा करते दीखते हैं। द्रौपदी धीरे-धीरे प्रवेश करती है। पुनः एक व्यक्ति हलके से उसके बाजू को छू उसे पंडाल की ओर ले जाता है। अर्जुन अपना तीर साध रहा है। पूरी तन्मयता से वह बाण चलाता है, मछली पर निशाना लगाता है। इसी क्रम में एक दृश्य में राज्याभिषेक चित्रित है।

पश्चिमी भीति पर रामायण के सुंदरकांड और युद्धकांड की कथाओं को अंकित किया गया है। सीताहरण हो गया है, उसकी खोज हो रही है। राम और लक्ष्मण, हनुमान को लंका भेज रहे हैं। दूसरे दृश्य में वह लंका से लौटकर राम को सूचना दे रहे हैं। तीसरे दृश्य में हनुमान महेंद्र पर्वत पर से छलाँग लगा समुद्र को पार कर लंका पहुँच रहे हैं। समुद्र की प्रतीक दो मछलियाँ हैं। तदुपरांत कपिश्रेष्ठ अशोकवाटिका में त्रस्त सीता के दर्शन करते हैं। उनसे वार्तालाप कर संभवतः राम का संदेश और चिह्न दे रहे हैं। बाद में हनुमान द्वारा लंकादहन और हनुमान-दशशीश रावण-संवाद दिखाए गए हैं। इस संबंध में हमें ध्यान रखना होगा कि प्रत्येक घटना को अभिव्यक्त करने के लिए अनेक मूर्तियों और प्रतीकों का प्रयोग किया गया है।

यही नहीं, दस अवतारों संबंधी आख्यान, वामन द्वारा राजा बलि से पृथ्वी लेकर उसे पाताल में डालना, समुद्र-मंथन, असुर पराजय आदि गाथाओं को बड़े रोचक ढंग से खुदाया गया है।

tharahkardu.in

मूर्तियों के एक अन्य क्रम में माराधर्षण प्रसंग है। भगवान् बुद्ध वज्रासन में भूमि-स्पर्श मुद्रा में बैठकर मृत्यु तथा माया पर अपनी विजय घोषित कर रहे हैं।

केवल वैष्णव और बौद्ध विषय ही इस मंदिर के मूर्तिकारों के प्रिय विषय नहीं हैं। उन्होंने उसी लगन और श्रद्धा से नटराज शिव, गौरी और शिव-परिवार के अन्य सदस्यों को भी मूर्त किया है। गंधर्वों द्वारा शिवलिंग की पूजा का दृश्य तथा यक्ष, गंधर्व और किन्नरों के नृत्य का दृश्य चिरस्मरणीय है।

ऐसा माना जाता है कि इस मंदिर का निर्माण सातवीं शताब्दी के अंत या आठवीं शताब्दी के आरंभ में चंबा के राजा मेरुवर्मन ने कराया था। चित्राढ़ी का शक्ति देवी मंदिर और भ्रमौर के लक्षणा देवी तथा अन्य प्रमुख मंदिर भी इसी राजा ने बनवाए थे। इन मंदिरों तथा इनमें स्थापित मूर्तियों पर अंकित है कि उनका मूर्तिकार गुग्गा नाम का व्यक्ति था।

ताबो—मृकुला मंदिर की बौद्ध मूर्तियों जैसी काष्ठ मूर्तियाँ स्पिति के विख्यात ताबो मठ में भी मिलती हैं। वहाँ दो बड़े-बड़े चौखटे हैं जिन पर जातक से कुछ प्रसंग खुदे हैं। ताबो गोंपा हिमालय के अजंता के रूप में माना जाता है। 6,300 वर्ग मीटर में फैला, विश्वविख्यात गोंपा लगभग 995 ईसवी में महागुरु रत्नभद्र द्वारा निर्मित कराया गया था। परिसर में 9 मंदिर, 23 चौर्टन और भिक्षु-भिक्षुणी विश्रामगृह हैं। गोंपा में विश्व की महानतम कलाकृतियाँ हैं, जिनमें विशालकाय 'बैरोचन' महाकाल और वज्र भैरव प्रमुख हैं। ये मूर्तियाँ धातु तथा महीन चूने से बनी हैं। दीवार के साथ लगे बड़े-बड़े काष्ठ चौखटों में वज्र-धातु मंडल के चूने की बनी 33 मूर्तियाँ हैं। इसके अतिरिक्त जातक के अनेक प्रसंग खुदे हैं। इस गोंपा की सभी भीतियाँ चित्रित हैं। बोधिसत्व मैत्रेय मंदिर में मैत्रेय की छह मीटर ऊँची प्रतिमा है।

लक्षणा देवी मंदिर—गद्दियों का क्षेत्र भ्रमौर मंदिरों के लिए सारे प्रदेश में प्रख्यात है। निरमंड के ध्वस्त शिवशूलपाणि मंदिर और चंडी मंदिर के प्रांगण के शिवालय और नग्गर के निकट मुरलीधर मंदिर के आधार को छोड़, जो 7वीं शताब्दी से पहले के हैं, भ्रमौर के मंदिर प्राचीनतम भवनों में से हैं। यहाँ के मंदिरों में मनीमहेश, गणेश, नरसिंह और लक्षणा देवी के मंदिर प्रसिद्ध हैं। ऐसा माना जाता है कि लक्षणा देवी के भवन को छोड़ अन्य मंदिरों के भवन 7वीं शताब्दी के बाद के हैं, यद्यपि मूर्तियाँ उसी शताब्दी की हैं। लक्षणा देवी का मंदिर और मूर्ति दोनों अपने पूर्व रूप में चले आ रहे हैं। यह मंदिर 8वीं शताब्दी के कीर आक्रामकों के हाथों से बच गया।

काष्ठ मंदिरों के वर्ग में लक्षणा मंदिर का विशेष स्थान है। प्रवेश-द्वार के ऊपर बारह हाथों वाली एक मूर्ति है जिसे कुछ लोग काली मानते हैं, तो कुछ सूर्य। इस मूर्ति

Digitised by
Tharah Kardu

के सम्मुख सात झुकी हुई आकृतियाँ हैं। समझा जाता है कि मूर्ति के विभिन्न चिह्न लिए बारह हाथ महीनों के प्रतीक हैं और झुकी हुई आकृतियाँ वारों की हैं। द्वार के ऊपर के मरेठ और पल्ले पर हार लिए गंधर्व चित्रित हैं। देहलीज की दोनों ओर कमलदल और जलकुंभ लिए अपने वाहन मकर पर खड़ी गंगा और कूर्म पर खड़ी यमुना दिखाई गई है।

गर्भ-मंदिर में लक्षणा देवी की तीन फुट चार इंच ऊँची अष्ट धातु की चतुर्भुज मूर्ति है। देवी का दाहिना पैर महिषासुर के सिर पर दिखाया गया है, बाएँ हाथ में त्रिशूल है। अन्य दो हाथों में देवी खड्ग और घंटा धारण किए हुए है।

शक्ति देवी मंदिर—चंबा से 24 मील उत्तर-पूर्व की ओर चित्राढ़ी के गाँव के बीच में शक्ति देवी का मंदिर है। लक्षणा देवी के मंदिर की तरह ही इस भवन में देवदारु पर खुदी सुंदर मूर्तियाँ हैं। एक पंक्ति के बाद दूसरी पंक्ति पर कहीं नवग्रह अंकित है, तो कहीं षट्मुख कार्तिकेय, ऐरावत के साथ वज्रधारी इंद्र और चतुर्भुज ब्रह्मा, जिसके हाथ में कुंभ, माला और गीता है। एक ओर त्रिमुख विष्णु, महिषासुर मर्दिनी दुर्गा और गंगा और यमुना अंकित हैं। कहा जाता है कि शक्ति देवी का मंदिर एक पेड़ के तने पर बना हुआ है। कलात्मकता के लिए अष्ट धातु की शक्ति देवी मूर्ति का विशेष स्थान है।

काष्ठ मूर्तियों और चित्रकारी के लिए निरमंड में परशुराम मंदिर के बाहर की कोठियाँ भी दर्शनीय हैं। तीन कोठियों में लगभग पचास फुट लंबे और छह फुट ऊँचे बरामदों के चौखटों में बाहर की ओर ये चित्र खुदे हुए हैं।

मिश्रित—हिमाचल प्रदेश में मिश्रित मंदिर ही सर्वाधिक हैं। इन मंदिरों में लकड़ी और वृत्ताकार छिले हुए पत्थरों का प्रयोग होता है। द्वार के मरेठा साधारणतया मूर्तियों से भरे होते हैं। इस प्रकार के मंदिरों में अधिकांश देवी मंदिर और ठाकुरद्वारे हैं। इनमें हाटकोटी की महिषमर्दिनी पार्वती, निरमंड की देवी अंबिका, रेणुका में रेणुका देवी और परशुराम मंदिर, मंडी का तारणा देवी मंदिर आदि का उल्लेख किया जा सकता है।

हाटेश्वरी मंदिर—पब्बर नदी के किनारे स्थित हाटकोटी में एक प्राचीन मंदिर है जिसकी अधिष्ठात्री देवी को हाटेश्वरी अथवा वज्रेश्वरी कहा जाता है। वस्तुतः यह पाँच फुट ऊँची अष्टभुजा स्वर्ण-मूर्ति महिषासुरमर्दिनी की है। माना जाता है कि इस मूर्ति की स्थापना स्वयं आदि शंकराचार्य ने की थी। स्वर्ण-मूर्ति के पार्श्व में पाषाण महिषासुरमर्दिनी भी है।

साथ में ही एक शिवालय है, जिसकी छत (उलटान) पर गंधर्व, यक्ष, नवग्रह आदि चित्रित हैं। मुख्य मूर्ति यद्यपि शिवलिंग है, किंतु मंदिर के मंडप में गरुड़-आरूढ़

tharahkardu.in

शंख-चक्र-गदा और पद्म धारण किए विष्णु और लक्ष्मी की तीन फुट ऊँची और दो फुट चौड़ी मूर्ति है। ऐसा लगता है कि यह मूर्ति किसी ध्वंसित मंदिर से उठाकर यहाँ रखी गई हो।

शिवालय की भीति में एक विचित्र मूर्ति है। गणेश बैठे हैं, पर उनके सिर पर दो सिंहमुख बने हैं। ये सब मूर्तियाँ छह से नौवीं शताब्दी की हैं और गुप्त शैली से प्रभावित हैं। हाटकोटी में उड़ीसा के भुवनेश्वर लिंगराज और मुक्तेश्वर मंदिरों की शैली के कई मंदिर हैं, जिनमें 'पांजो पांडू रे घोड़ू' भी है। हाटकोटी एक अत्यंत प्राचीन ग्राम है, इसमें कोई संदेह नहीं। इसके चारों ओर बहुत-से नष्ट-भ्रष्ट स्मारक हैं, जो या तो जमीन के नीचे दब गए हैं, या प्राकृतिक तत्त्वों ने बरबाद कर दिए हैं।

अंबिका मंदिर—निरमंड में अंबिका मंदिर बहुत पुराना नहीं है, किंतु देवी की प्रस्तर शिला पर अंकित मूर्ति दसवीं-ग्यारहवीं शताब्दी की है। कहा जाता है कि महमूद गजनवी ने जब काँगड़ा मंदिर को लूट लिया, तो वहाँ के कुछ प्रबंधकों एवं पुजारियों ने यहाँ आकर शरण ली और काँगड़ा देवी की प्रतिमूर्ति स्थापित की।

खैर, जो भी हो, इस मंदिर में अधिष्ठात्री देवी के अतिरिक्त महत्त्वपूर्ण मूर्तियाँ सिंह युगल की हैं। गर्भ-मंदिर के सामने प्रदक्षिणा पथ में विशालकाय पाषाण सिंह और सिंहनी खड़े हैं। मुखाकृति से इस प्रकार लगता है कि यह अंबिका वाहन और उसकी सहचरी देवी के किसी शत्रु पर प्रहार करने वाले हों।

मूर्तियाँ—जैसा हम देख चुके हैं, पाषाण के अतिरिक्त काष्ठ तथा धातु भी मूर्ति-निर्माण में प्रयुक्त हुए हैं। हिमाचल प्रदेश में सामान्यतः मूर्तियाँ देवी-देवताओं के रथों पर लगाए जाने वाली प्रतिमाओं के रूप में हैं। इस प्रकार की हजारों मूर्तियाँ मंदिरों के भंडारों में पड़ी हैं। ये प्रतिमाएँ सोने, चाँदी, काँसा और अष्ट धातु की बनी हैं, जिससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि इस प्रदेश में इन मूर्तियों के निर्माण का उन्नीसवीं सदी तक सुव्यवस्थित व्यवसाय था। ये प्रतिमाएँ छठी शताब्दी से बाद के वर्षों में बनी हैं। यह निरमंड के परशुराम मंदिर में पड़ी मुंजनी देवी की प्रतिमा से ज्ञात होता है। 15 इंच लंबी इस अष्ट धातु की प्रतिमा पर शारदा और देवनागरी लिपि में राजा हेमप्रकाश की रानी मुंजनी देवी का उल्लेख है। यह प्रतिमा नवीं-दसवीं शताब्दी की है। इसमें अंकित मूर्ति सजीव है, नाक तीखी, चेहरा भरा हुआ है। सिर पर त्रिकोण मुकुट है, कान में बालियाँ हैं और गले में मूँड़ों की माला और हार है। पंद्रहवीं शताब्दी में दुंगरी में देवी हिडिंबा के मीहरे की अपेक्षा यह प्रतिमा अधिक कलात्मक है।

रथों पर लगने वाली इन प्रतिमाओं में सौम्य, शांत, रौद्र और क्रूर जैसे भावों की सशक्त अभिव्यक्ति हुई है। ये प्रतिमाएँ लघु आकार की होती हैं किंतु इनसे

Digitised by
Tharah Kardu

निर्माण-तिथि नहीं जानी जा सकती है।

मुंजनी देवी की मूर्ति की तरह ही पुरानी फतेहपुर की काँसे की बुद्ध मूर्ति है, जो गांधार और गुप्त शैलियों के सम्मिश्रण से बनी है। गुमा से प्राप्त सूर्य प्रतिमा कुषाणकाल की मानी जाती है। इसी काल की मूर्ति बजौरा मंदिर में है। उसी काल की एक सूर्य मूर्ति निरमंड से भी मिली थी, जो राज्य म्यूजियम, शिमला में रखी गई है।

मूर्ति-निर्माण के क्षेत्र में 7वीं शताब्दी में इस प्रदेश में बहुत अधिक काम हुआ। भ्रमौर, चित्राढ़ी और मृकुला की अधिष्ठात्री मूर्तियों के अलावा सुलतानपुर कुल्लू में विष्णु मूर्ति, बजोरा के विष्णु, गणेश और दुर्गा, जगतसुख की महिषमर्दिनी, चंडी की वज्रवाराही, हरिपुर की देशमुच देवी, भ्रमौर के नृसिंह का इस संदर्भ में उल्लेख किया जा सकता है।

8वीं और 9वीं शताब्दी में त्रिमुख विष्णु का जोर रहा, क्योंकि इसी काल में शकों के आराध्य देव सूर्य की उपासना शनैः-शनैः विष्णु-पूजा में परिवर्तित हो गई और फलस्वरूप सूर्य ने विष्णु का रूप ले लिया, जिसके नृसिंह, वाराह और सूर्य—ये तीन मुख हैं। लाहुल में त्रिलोकनाथ के मंदिर की पहली मूर्ति इसी युग की बनी थी। मंदिर के भवन-निर्माण में त्रिगर्त शैली का आरंभिक स्वरूप भी इसी काल में प्रकट होना शुरू हो गया था।

पाषाण मूर्तियों का सुव्यवस्थित क्रम हमें 12वीं शताब्दी तक मिलता है। इनके अनेक उदाहरण पनिहारों पर खुदी मूर्तियों में प्राप्त हैं, जिनका काल के साथ-साथ ऐतिहासिक महत्त्व भी है।

स्वच्छंद भैरवी—अष्टधातु की मूर्तियों में सबसे विलक्षण स्वच्छंद भैरवी की मूर्ति है, जो काँगड़ा से प्राप्त हुई है। अब यह मूर्ति नई दिल्ली के राष्ट्रीय संग्रहालय में है।

12वीं शताब्दी की इस मूर्ति की पीठिका पर पाँच व्यक्तियों का शारदा लिपि में एक अभिलेख खुदा है, जिसमें किसी नरनायक राजा का नाम है। लेख को अभी तक ठीक तरह पढ़ा नहीं गया है। जब इसका सारा विवरण मालूम हो जाएगा, तो इस प्रदेश के उस समय के राजनीतिक और कला-इतिहास पर काफी प्रकाश पड़ेगा।

स्वच्छंद भैरवी की पंचानन दस बाहु मूर्ति एक भक्तिविभोर चतुरानन पुरुष पर सुखासन में बैठी है। भैरवी के चार मुख तो चारों दिशाओं में हैं और पाँचवाँ मुख उनके ऊपर है। दाहिनी ओर का चौथा हाथ अभय मुद्रा में है और बाईं ओर का वरद मुद्रा में है। अन्य आठ हाथों में खड्ग, पद्म, त्रिशूल, चक्र, कपाल, अंकुश, पाश, पुस्तक और अमृतघट हैं।

tharahkardu.in

भैरवी के दाएँ-बाएँ नृत्य-मुद्रा में गणेश और शिव हैं। कला की दृष्टि से स्वच्छंद भैरवी पहाड़ी मूर्तिकला की एक विशिष्ट उपलब्धि है।

कोठी का भैरव—किन्नौर के अत्यंत प्राचीन ऐतिहासिक स्थान, कोठी में देवी के मंदिर के पास ही दस भुज भैरव की तीन फुट लंबी मूर्ति है। भैरव की दस भुजाओं में स्वच्छंद भैरवी के समान खड्ग, शूल, धनुष, चक्र आदि हैं। दाहिनी ओर की भुजा वरद हस्त मुद्रा में है।

कोठी देवी के मंदिर में हर गौरी, सरस्वती की चार लकड़ी और 17 पत्थर की मूर्तियाँ हैं। अनुमान है कि ये सभी मूर्तियाँ दसवीं शताब्दी की हैं।

चित्रकला

सार्वभौमिकता—भारतीय चित्रकला के इतिहास में एक महत्त्वपूर्ण अध्याय हिमाचल प्रदेश ने जोड़ा है। विश्व के प्रमुख संग्रहालयों में भारतीय चित्रों को प्राप्त करने की होड़ हिमाचली चित्रों की देन है और देश-विदेश के कलाप्रेमियों के मन में अपने प्रति उत्कंठा और गहन श्रद्धा जागृत करने का सौभाग्य इन्हीं चित्रों को प्राप्त है।

इस प्रदेश के चित्रों में कला की सार्वभौमिकता मुखरित हुई है। इनमें भारतीय आत्मा की काव्यात्मक अभिव्यक्ति है। इनका प्रकृति-चित्रण अनूठा है और रूप-चित्रण सजीव है। प्रेम का जैसा अपूर्व, अलौकिक और भावपूर्ण निरूपण इन चित्रों में हुआ है, वैसा शायद ही किसी अन्य कला-शैली में हुआ हो। इनकी लयात्मकता में ब्रह्मांड की गति की प्रतिध्वनि है। इन चित्रों में देश का वर्तमान और अतीत दोनों हैं, परंतु साथ में ये देशातीत भी हैं। प्रेम किसी एक जाति, वर्ग, समाज या देश की एकांतिक थाती नहीं है, उस पर किसी समुदाय-विशेष का एकाधिकार नहीं है। अतः प्रेम को अंकित करने वाले ये चित्र भी समस्त मानव-समाज की संपत्ति हैं।

इन चित्रों में समाज प्रतिबिंबित है, संस्कृति गुंफित है। इनके द्वारा पहाड़ी सभ्यता बोलती है। ये चित्र प्रदेश की धार्मिक मान्यताओं की झाँकी प्रस्तुत करते हैं और यहाँ के राजनीतिक उत्कर्ष की कथा कहते हैं।

'की' चित्र—स्वयं इन चित्रों की अपनी कथा भी कम रोचक नहीं। ईसा से दो शताब्दियों पूर्व जिस कला का हमारे देश में समारंभ हुआ और जो गुप्तकालीन स्वर्ण युग में अजंता और एलोरा तथा बाघ की गुफाओं में हिमालय जैसी ऊँचाई को छू गई थी, हिमाचल प्रदेश की कला उसी की सहोदरा है, उसकी की जाया है। अजंता और बाघ की गुफाओं को जिन कलाकारों ने अमरत्व प्रदान किया और जिनके वंशजों तथा उत्तराधिकारियों ने एलोरा के विश्वविख्यात चित्रों को अंकित किया, उन्हीं के भाई-बंदों ने हिमाचल के सीमांत में 'की' विहार की भीतियों को चित्रित किया है।

Digitised by
Tharah Kardu

स्पिति के इस बौद्ध मठ की भीतियाँ बौद्ध सत्त्व नारसंग, महात्मा बुद्ध के जीवन तथा जातक की अन्य कथाओं पर आधरित चित्रों से भरी हैं। चौकठे के बाद चौकठे कला-सौष्ठव के इन मनोहारी उदाहरणों से अंकित हैं। उनमें देवी-देवताओं की भी आकृतियाँ हैं, जिनमें तारादेवी और दुर्गा उल्लेखनीय हैं। एक ओर तो 30 फुट ऊँची और लगभग 40 फुट लंबी भीति में एक ही चित्र है, जो आज भी अपनी चमक अक्षुण्ण बनाए है। दुर्भाग्यवश, इनमें से बहुत-से चित्रों को स्वतंत्रता के उपरांत स्पिति में स्थित कला से अनभिज्ञ एक सरकारी कर्मचारी ने किसी अनाड़ी चित्रकार से पुनः रंग भरवाकर प्रायः नष्ट कर दिया है। न मूल रंगों का ध्यान रखा गया है, न रेखाओं की गहनता का ही।

जो कुछ थोड़े-से चित्र, इस चितेरे के हाथों से अपनी रक्षा कर पाए और अपने मौलिक स्वरूप को बनाए रखे, उनके देखने से ज्ञात होता है कि इनमें एक विचित्र-सा गौरव, एक अनूठी भारतुल्यता और कुछ-कुछ अलगाव-सा है। सभी चित्रों में रेखा का सुंदर प्रयोग हुआ है। शैली में निपुणता है। रंगों में चमकीलेपन और संतुलन का आग्रह दिखाई देता है। भारतीय शैली के इन चित्रों पर तांत्रिकता का प्रभाव स्पष्ट दीखता है।

चित्रों पर तांत्रिक प्रभाव का होना स्वाभाविक ही है। जब स्पिति, लद्दाख तथा तिब्बत में बौद्धमत का प्रसार हुआ, तब वह अपनी जन्मभूमि में तांत्रिक बाना ओढ़ चुका था। बौद्धमत का महान् प्रचारक, पद्मसंभव स्वयं तांत्रिक मत का प्रकांड विद्वान् था। नालंदा विश्वविद्यालय के महान् आचार्य, शांतरक्षित ने तिब्बत के सम्राट् ख्री-रोन्-ल्ये-सन (755-797) को तिब्बत में धर्म-प्रचार के लिए तांत्रिक विद्या के अधिकारी होने के कारण पद्मसंभव को निमंत्रण देने के लिए प्रेरित किया था।

परंपरा यह मानती है कि उन्होंने ही स्पिति, लाहुल और लद्दाख में बौद्ध धर्म की स्थापना की थी। यही कारण है कि भारत के इन सीमांत क्षेत्रों के बौद्धों के लिए मंडी में रिवालसर का पद्मसंभव का मंदिर तीर्थस्थान है। 'की' विहार के लामा का कहना है कि दसवीं शताब्दी के लगभग भारतीय चित्रकारों ने इन चित्रों का अंकन किया था। चित्रों के नवपरिमार्जित स्वरूप के कारण इस दावे पर स्पष्ट मत व्यक्त करना कठिन हो गया था। खेद यह है कि भारतीय संस्कृति की इस अनमोल थाती की ओर कलापारखियों का ध्यान समय रहते नहीं गया।

किंतु हिमाचल की चित्रकला को ऊँचे आसन पर बिठाने का श्रेय इन चित्रों को नहीं है। इसके लिए 'की' से लगभग छह शताब्दियों के उपरांत कलाक्षेत्र में एक नवजागरण की लहर आई, जो 17वीं शताब्दी तक समूचे प्रदेश को उत्तर से दक्षिण और पूर्व से पश्चिम तक आप्लावित करती रही है। इस नवजागरण की विविध

tharahkardu.in

चित्र-शैलियों का नाम ही समग्र रूप में पहाड़ी कला, काँगड़ा कला अथवा हिमाचल कला है।

लोककला—यहाँ ध्यान देने वाली बात यह है कि 'की' और इस नवजागरण के बीच के वर्ष ऊसर नहीं थे, उनमें कला विलुप्त नहीं हो गई थी। वह तो कला एवं मूर्तिकला के रूप में पनपती रही। भीतिचित्र और चंबा जैसे क्षेत्रों की निजी रूमाल-चित्र शैली तथा किन्नर और कुल्लू की पट्टु और चादरों पर चित्रकारी इस कला के प्रवाह के उदाहरण हैं। हुआ यह कि 17वीं शताब्दी के मध्य में इस लोककला को उपयुक्त वातावरण मिला, नए चित्रकार उपलब्ध हुए, नई शैली से इसका साक्षात्कार हुआ और राज्य प्रश्रय तथा प्रोत्साहन मिला। इन साजगार हालात में यह कला खिल उठी और विकास की सभी संभावनाओं का लाभ उठा विश्व कला क्षेत्र में अपने लिए विशिष्ट स्थान बना पाई।

नवजागरण—प्रश्न यह उठता है कि वे परिस्थितियाँ क्या थीं, जिनके कारण कला में यह नवजागरण आया ? सबसे बड़ा कारण मुगल साम्राज्य का पतन था। मुगल दरबार की कमजोरी पहाड़ी कला के लिए वरदान सिद्ध हुई। किसी भी कला के लिए सर्वाधिक आवश्यक तत्त्व शांत वातावरण है। वातावरण थोड़ा-सा भी अशांत और आक्रांत हुआ कि फलती-फूलती कला कुम्हलाने लगती है। 17वीं-18वीं शताब्दियों में देश में एक प्रकार से अराजकता थी। केंद्रीय सत्ता अपना अधिकार खो बैठी थी। मुगल साम्राज्य समाप्तप्राय था। सन् 1739 में नादिरशाह के आक्रमण से दिल्ली त्रस्त थी। उसके पश्चात् अहमदशाह अब्दाली ने मुगलों की शक्ति को जर्जरित कर दिया था। पंजाब अब्दाली के अधिकार-क्षेत्र में था। पूर्व और दक्षिण के सूबे केंद्रीय सत्ता की पहुँच से बाहर हो रहे थे। मरहठा शक्ति दिल्ली तक प्रभाव जमा चुकी थी। आगरा और दिल्ली में अकबर के काल से चले आए कलाकार वर्ग को राज्य-प्रश्रय मिलना कठिन हो गया था। कलाकार एक प्रकार से अपने आपको निराधार और असुरक्षित महसूस करने लगे थे। वे शांत वातावरण और आश्रयदाताओं की खोज में थे।

पहाड़ी राजाओं का मुगलों के साथ गहरा संपर्क था। गुलेर जैसे राज्य तो मुगल सीमा पर स्थित थे। ये राजा इन चित्रकारों और उनकी कला से परिचित थे। उनमें मुगलों से स्पर्धा करने की चाह भी थी। दोनों ने उपयुक्त अवसर पाया। चित्रकार आगरा और दिल्ली छोड़ शिवालिक और हिमालय की गोद में आ गए। यहाँ आकर उन्हें सुरक्षा मिली, प्रश्रय मिला, अपने अभिभावकों और प्रश्रयदाताओं से व्यक्तिगत दैनिक संपर्क का अवसर मिला और हिमालय का नयनाभिराम प्राकृतिक सौंदर्य तथा अद्वितीय पहाड़ी मानवी रूप मिले।

Digitised by
Tharah Kardu

इसके अतिरिक्त, इन चित्रकारों को लगभग एक सौ वर्ष बाद अपनी कला की अभिव्यक्ति की पूर्ण स्वतंत्रता मिली। मुगल दरबार में मुस्लिम धर्म के प्रतिबंध के कारण तथा औरंगजेब जैसे कलाद्वेषी शासकों की संकुचित नीतियों के कारण वे कुछ घुटे-घुटे महसूस कर रहे थे। इनका कलाक्षेत्र भी सीमित-सा हो गया था। ये रूप चित्र तथा पुष्प, पशु और पक्षियों का अंकन ही प्रायः कर पाते थे। सजातीय संरक्षण मिलने से यह रोक दूर हुई और ये कलाकार खुलकर अपने साहित्य, धर्म और संस्कृति को आधार बना चित्र बनाने लगे।

उत्तरी भारत में साहित्य का भक्तिकाल समाप्त होकर रीतिकाल में परिवर्तित हो रहा था। परंतु 12वीं शताब्दी से चले आते वैष्णव आंदोलन का अंत नहीं हुआ था। हाँ, उसमें आराध्य राम और विशेषतः कृष्ण साधारण मानवीय रूप में परिवर्तित हुए जा रहे थे। साहित्यकार और कलाकार, कवि और चितेरे इस आंदोलन से प्रभावित थे। कवि तो अपने भावों की अभिव्यक्ति कर पाते थे, किंतु चित्रकार नहीं। चित्रकारों को पहाड़ी राज्यों में आकर ही उपयुक्त अवसर मिला।

इन राज्यों में परंपरा से चली आई लोककला के द्वारा मुख्यतः देवी-देवताओं को ही अंकित किया जाता था। यह बात भीतिचित्रों, रूमालों, चोलियों, पंखों आदि पर की जाने वाली कशीदाकारी से सिद्ध हो जाती है। अतः लोककला ने पहले ही उपयुक्त भूमि तैयार कर रखी थी, जो वैष्णव साहित्य और रीतिकालीन शृंगारिक कथावस्तु के सम्मिश्रण से नए रूप में वेगवती धारा के रूप में प्रवाहित हो गई।

अठारहवीं शताब्दी पहाड़ी राजाओं के लिए आशा का काल थी। त्रिगर्त का प्राचीन राज्य एक बार अपनी ऐतिहासिक भूमिका निभाने के स्वप्न देख रहा था। समूचे समाज में आगे बढ़ने का उत्साह था, अपने आप पर विश्वास था। मुगल सेना में उच्च पदों पर आसीन होकर, मध्य एशिया जैसे क्षेत्रों पर विजय पाकर, यहाँ का शासक वर्ग अपनी शक्ति पहचान चुका था। सन् 1758 में अहमदशाह दुर्रानी, काँगड़ा के महाराजा संसारचंद के पितामह घमंडचंद को जालंधर दोआब का गवर्नर नियुक्त कर गया था। इस घटना ने कटोचों के मन की चिर-संचित अभिलाषा को प्रोत्साहन दिया। वे अनुभव करने लगे कि एक बार पुनः खोया हुआ जालंधर दोआब त्रिगर्त राज्य का भाग बन जाएगा। इस ऐतिहासिक स्वप्न ने काँगड़ा राज्य को विद्युत् की तरह झंकृत कर दिया। सन् 1786 में राजा संसारचंद सिख सरदार जयसिंह से पहाड़ों में शक्ति के प्रतीक, दुर्जेय काँगड़ा किला को वापस लेने में सफल हो चुका था। संसारचंद की शक्ति बढ़ रही थी, सारा पहाड़ी प्रदेश उसके प्रभावाधीन था। इस प्रकार की उत्साहवर्धक परिस्थितियाँ ही वस्तुतः उच्च कला की जन्मदात्री हैं, अतः आश्चर्य नहीं कि इस काल में उत्कृष्टतम कृतियाँ सामने आईं।

tharahkardu.in

विभिन्न केंद्र—दो सौ वर्षों के लंबे काल में हिमाचल प्रदेश में चित्रकला के लगभग 40 केंद्र रहे। हम यह कह सकते हैं कि इस भूखंड में जितने राज्य थे, उनकी राजधानियाँ सामान्यतः कला के विकास की मुख्य स्थली थीं। उल्लेखनीय केंद्र गुलेर, हरिपुर, काँगड़ा, नूरपुर, नादौन, टीरा सुजानपुर, आलमपुर, चंबा, मंडी, सुकेत, कुल्लू, बिलासपुर, अर्की, सिरमौर और रामपुर बुशैहर थे। इस संबंध में यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता था कि प्रत्येक केंद्र में चितेरों का पृथक् वर्ग था, उनका अपना-अपना घराना था, या चित्रकार एक राज्य के कमजोर हो जाने से, राजाश्रय समाप्त हो जाने से दूसरे राज्य में गए। स्थिति यह लगती है कि बड़े-बड़े केंद्रों में चित्रकारों के अपने वर्ग, अपने घराने भी रहे और अन्य स्थानों से वे एक दूसरे राज्य में भी जाकर बसे। चित्रकारों का कई पुश्तों तक सक्रिय घराना पंडित सेओ का था। पंडित सेओ मैदान से आकर बसोहली के निकट जसरोटा में आकर बसा था। इस वंश का सेओ-पुत्र नैनसुख तो वहाँ रहा, किंतु उसका पुत्र निक्का गुलेर आ गया। यहाँ इसी परिवार के अन्य चितेरे कामा, मानक अथवा मानकू, जौहरू और रामलाल हुए। महाराजा संसारचंद के कतिपय चित्रकार खुशाला, कुशनलाल, बसिया, फत्तु और पुरखु थे। पुरखु निपुण कलाकार था और बसिया सिद्धहस्त चितेरा। बसिया का प्रपौत्र लक्ष्मणदास बीसवीं शताब्दी के तीसरे दशक तक भी जीवित था। सिमलोटी में एक अन्य चित्रकार गुलाबूराम हाल तक चित्र बनाता रहा। पद्मु और दोखू नाम के दो अन्य चितेरों का नाम काँगड़ा दरबार से संबंधित है। चंबा में दुर्गा, कुल्लू में सजनू और भगवान्, नूरपुर में गोलमंडी में गाहिया नरोत्तम, मोतीराम राजड़ा और मुहम्मदी के नाम विख्यात हैं। साधारणतया, ये चित्रकार त्रखाण कहलाते थे। इनमें ब्राह्मण, राजपूत, हिंदू, मुसलमान सभी थे।

गुलेर और काँगड़ा—उपर्युक्त केंद्रों में भी शैली के दृष्टिकोण से गुलेर और काँगड़ा का स्थान सर्वोपरि है। वस्तुतः हिमाचली कला का नवजागरण गुलेर से ही आरंभ हुआ। गुलेर कलम का प्रथम चित्र 17वीं शताब्दी का मध्य का मिलता है। इस कलम ने राजा दलीपसिंह (1695-1730), राजा गोवर्धनसिंह (1730-1773) और राजा प्रकाशसिंह (1773-1790) के राज्यकाल में बड़ा विकास किया। गुलेर कलम की विशेषता आकृतियों का लालित्य और सुकुमारता है। सन् 1765 ई० के लगभग अंकित 'प्रेम विवाद' और समकालीन 'बाज़वाली रमणी' इस कलम के उत्तम उदाहरण हैं। गुलेर के चित्रों के विषय में मुख्यतः रामायण और महाभारत की घटनाएँ, राजा और उनके दरबार हैं, परंतु कृतियों पर मुगल-प्रभाव स्पष्ट है। समय बीतने पर यह प्रभाव कम होता गया और अपने सर्वोच्च निखार पर गुलेर शैली काँगड़ा शैली के रूप में उभरी है।

Digitised by Tharah Kardu

काँगड़ा कलम का स्वर्ण युग यद्यपि संसारचंद के शासनकाल के सन् 1775 से 1810 ई० के वर्ष हैं, किंतु कला को उसके तीन पूर्वजों, हमीरचंद (1700-47), अभयचंद (1747-50) और घमंडचंद (1751-74) ने भी पर्याप्त प्रोत्साहन दिया है। सन् 1800 ई० के आसपास के 'ग्रीष्म स्नान', 'प्रेमज्वर' आदि चित्र इस कलम के उत्कृष्ट नमूनों में से हैं।

माध्यम—हिमाचल की चित्रकला तीन माध्यमों द्वारा अभिव्यक्त हुई है। ये माध्यम हैं :

(1) लघु चित्र,

(2) भीति-चित्र, तथा

(3) रूमाल, पट्टु, चादरों आदि पर कशीदाकारी या चित्रकारी।

लघु चित्र—भूरे रंग के सियालकोटी कागजों पर बने लघु चित्र ही वस्तुतः हिमाचली कला के प्रतिनिधि हैं। हजारों की संख्या में अंकित ये चित्र रूप-चित्रण, मुद्रा-अभिव्यक्ति, भावों की संपन्नता, स्निग्ध सौम्य, प्रकृति-चित्रण और रंगों एवं रेखाओं के सफल निर्वाह के लिए प्रख्यात हैं। इन्हें देखने वालों के शरीर में एक थिरकन-सी उत्पन्न होती है, मन को सुख मिलता है। नेत्र चाहते हैं कि देखते ही रहें। ये चित्र आह्लाद के मूर्त रूप हैं। इनमें स्वप्निलता और मादकता है।

इनमें अंकित विषयों का क्षेत्र अत्यंत व्यापक है। जीवन का शायद ही कोई पक्ष हो, जो अछूता रह गया हो। चाहे धार्मिक मान्यताएँ हों या दरबार का जीवन, दिनचर्या हो या साहित्य, युद्ध हो या प्रणय-प्रसंग, पूजा-पाठ हो या आखेट, सभी का चित्रण हुआ है। प्रकृति सभी रंगों में चित्रित है। वनस्पती है, वनस्पतियाँ हैं, वृक्ष, लता, पुष्प, विस्तृत भूखंड, नीला दीप्त या मेघाच्छादित आकाश, काले-सफेद, कड़कते बादल, तड़पती बिजली, रिमझिम फुहार और शांत-मौन तारांकित रात्रि या झंझावात इन चित्रों में किसी न किसी रूप में विद्यमान हैं।

विषयवस्तु—विषयवस्तु के आधार पर, सुविधा के लिए हम इन चित्रों का इस प्रकार विभाजन कर सकते हैं :

(1) धार्मिक और पौराणिक,

(2) ऐतिहासिक,

(3) शृंगारिक,

(4) राग माला संबंधी, और

(5) लोकजीवन पर आधारित।

रामायण, महाभारत, जातक, भागवत, विष्णु और शिव पुराण के रोचक प्रसंगों पर सहस्रों चित्र बनाए गए हैं। नल-दमयंती, सत्यवान-सावित्री के उपाख्यानों को भी

tharahkardu.in

हम धार्मिक और पौराणिक वर्ग के अंदर रख सकते हैं। एक वाक्य में कहें, तो वैष्णव, शैव, शाक्त और बौद्ध सभी प्राचीन धार्मिक आंदोलनों का प्रतिनिधित्व करने वाले चित्र बहुत बड़ी संख्या में हैं। ऐतिहासिक चित्र मुख्यतः चित्रकारों के आश्रयदाता नरेशों, उनके दरबारियों के रूप चित्र हैं। दरबारों की अन्य घटनाएँ भी इन्हीं में सम्मिलित हैं। सिख गुरुओं के चित्र भी हम इसी श्रेणी में रख सकते हैं। राग माला के चित्र पृथक् वर्ग बनाते हैं। इसी प्रकार पनिहारिन, ब्रह्मभोज, चौसरखेल, नृत्य जैसे लौकिक विषय और हमीरहठ, विक्रम-बेताल चरित्र, माधवानल-कामकंदला और सोहनी-महीवाल जैसी लोक गाथाओं का अलग भेद है।

शृंगार ऐसा विषय है, जिससे समूची हिमाचली कला ओतप्रोत है। जयदेव कृत 'गीत गोविंद' जैसे वैष्णव साहित्य के ग्रंथ, केशवदास की 'कवि प्रिया' और 'रसिक प्रिया' तथा बिहारी की 'सतसई' सरीखे रीतिकालीन काव्य, बारहमासा, कृष्णलीला और रासलीला को मूर्त रूप देने का श्रेय इसी कला को है। पहाड़ी चित्रकार का मन राधा और कृष्ण के चित्रण में लगा। भागवत के दशम स्कंध में वर्णित कृष्ण का बाल्य-जीवन और यौवन इन्हें प्यारा था।

केंद्रबिंदु नारी—सच तो यह है कि नारी और उसका प्रेम हिमाचली कला का केंद्रबिंदु है। स्त्रियों की आकृतियों के रेखांकन में प्रवाह है, लय है। रेखाओं से एक अनिर्वचनीय संतुलन और लयात्मकता का सृजन किया है। उजले रंग और बारीक रेखाओं से चित्रकार ने नारी की सुकुमार आकृति में अपार सुषमा, शरीर में लावण्य और मुख पर विशिष्ट कांति भर दी है।

लगभग दो शताब्दियों तक यहाँ का चित्रकार नारी को चित्रित करता रहा। परिणामतः उसका जो स्वरूप निखरा है वह अद्वितीय है। अत्यंत श्रेष्ठ इक्के-दुक्के स्त्री-चित्र हर कहीं बने होंगे। 'मोनालिसा' और 'वर्जिन मेरी' जैसी महान् कृतियाँ कई चितेरे बना पाए हैं, किंतु स्त्री-शरीर का ऐसा लयात्मक, गीतात्मक, कलात्मक रूप और उसका सामूहिक सृजन अन्य कला शैलियों में कम ही होगा।

रीतिकाल के कवियों की तरह इन त्रखानों ने नारी के अंग-प्रत्यंग और नख-शिख का चित्रण किया। उसका जो आठों पहर और बारह महीने का जीवन है, उसी के ताने-बाने से इन्होंने अपना पट बनाया है। पुरुषों को, यहाँ तक कि स्वयं कृष्ण को, कई बार केवल पृष्ठभूमि के लिए, या राधा के प्रभाव को बढ़ाने के लिए अंकित किया गया है। यदि इन चित्रों से कृष्ण की आकृति हटा दी जाए, तो भी चित्र के सौंदर्य में अधिक अंतर नहीं आएगा। हाँ, यदि राधा को निकाल लिया जाए, तो संपूर्ण चित्र अपनी सार्थकता खो बैठेगा।

कृष्ण—स्पष्ट है कि पहाड़ी चितेरों ने कृष्ण की कल्पना विशुद्ध मानवीय

Digitised by Tharah Kardu

परिवेश में की है। उन्हें गीत गोविंद में वर्णित कृष्ण के प्रेमाचार को चित्रित करना ही प्रिय लगा। कृष्ण एक मानव है, प्रेमी है। वह मात्र नायक है। राधिका ने भी नायिका का रूप ले लिया है। इस प्रकार वैष्णवों के आराध्य राधा-कृष्ण, जिनका गान करते-करते अंधा सूरदास भक्ति भाव से आत्मविभोर हो उठता था, शृंगार के विविध चरणों, पूर्वराग, मिलन, संभोग, विरह और भाव-सम्मिलन के स्पष्टीकरण के केवल माध्यम बन गए। प्रत्येक नायक कृष्ण बन गया और प्रत्येक नायिका राधा। कभी-कभी ऐसा प्रतीत होता है कि भक्ति का स्थान कामुकता ने ले लिया है और राधा-कृष्ण मानवीय प्रेम-भावना की अभिव्यक्ति के साधन बन गए हैं। संभवतः इसका मुख्य कारण समाज का सामंती स्वरूप है। ऐसा लगता है कि उस समय संपूर्ण समाज अपने दायित्व को भूलकर शृंगार में डूबा रंगरलियाँ मना रहा हो। प्रेम के चित्रण के लिए पहाड़ी चित्रकारों ने लाल रंग को चुना है।

अपने समग्र रूप में 18वीं शताब्दी की भारतीय कला का प्रतिनिधित्व हिमाचली कलम ही करती है। यदि अजंता भारतीय कला का स्रोत है, तो हिमाचली कला ने न केवल उसे पुष्ट किया, अपितु सरस्वती की भाँति भूगर्भस्थ हो उसका संरक्षण भी किया है। इस कला के द्वारा भारतीय दर्शन मुखरित हुआ है।

भीतिचित्र—'की' गोंपा के भीतिचित्रों की तरह दीवार पर चित्र बनाने की एक वेगवती लहर 18वीं और 19वीं शताब्दियों में इस प्रदेश में आई। फलस्वरूप रंगमहलों, शीशमहलों, राजा के निवास भवनों और मंदिरों की भीतियों पर अत्यंत सुंदर और सजीव चित्र बनाए गए। इन चित्रों का मुख्य विषय धार्मिक है और जिस प्रकार लघु चित्रों की एक बड़ी संख्या में राधा और कृष्ण नायक-नायिका बनकर रह गए, वह स्थिति इनमें नहीं है। प्रतीत होता है कि इनके चितेरे विशुद्ध धार्मिक भावना से प्रेरित थे।

भीतिचित्र हमें चंबा के रंगमहल, अखंड चंडी भवन और लक्ष्मीनारायण मंदिर, नदौन और टीरा सुजानपुर के मंदिर, विशेषतः गौरी-शंकर का संसारचंदेश्वर मंदिर, कृष्ण मंदिर और नवर्देश्वर मंदिर, डाडासिबा के पुराने महल, कुल्लू और रामपुर के शीशमहल, मंडी में दमदमा भवन और कामेश्वर शिवालय तथा अर्की में दीवानखाना में बड़ी संख्या में मिलते हैं।

वैष्णव विषयवस्तु तो प्रमुख है, शिव और शक्ति के भी बड़े आकर्षक चित्र बने हैं। मार्कंडेय पुराण के चंडी पर्व के आधार पर दुर्गा के अनेक चित्र बने हैं। इसके अतिरिक्त चंडिका, महिषासुरमर्दिनी, कौशिकी, लक्ष्मी, सरस्वती और अंबिका भी चित्रित हैं। कुल्लू में 'त्रिपुरा सुंदरी का स्वर्ग' भीतिचित्र पहाड़ के देवी चित्रों में सुंदरतम है। चंबा के रंगमहल के भीतिचित्र या तो स्थानीय भूरीसिंह संग्रहालय में हैं,

tharahkardu.in

या राष्ट्रीय संग्रहालय, दिल्ली में रखा गया है।

इन चित्रों में गेरुआ रंग अनुराग और आसक्ति, काला बुराई, सफेद शांति, पीला आह्लाद और नारंगी रंग आस्था और विश्वास के लिए प्रयुक्त हुआ है।

जैसा हम पहले कह चुके हैं, कई कलाविदों का यह कहना है कि भीतिचित्रों की हजारों वर्षों की पुरानी परंपरा थी, और अनेक लघुचित्र इन्हीं भीतिचित्रों की प्रतिलिपि हैं।

रूमाल—नवजागरण ने समूचे समाज को प्रभावित किया था। पुरुषों ने कलम और ब्रुश पकड़ा, कागजों और दीवारों पर सैकड़ों-हजारों चित्र बना, अपने भावों को व्यक्त किया, अपने स्वप्न साकार बनाए। स्त्रियों ने भी कला के सृजन में हाथ बँटाया। उन्होंने सूई-धागा लेकर, रेशमी, सूती, ऊनी और पश्मीने वस्त्रों पर कशीदाकारी की। वस्त्रों की साज-सज्जा बढ़ाने के लिए उन्होंने वही विषय चुने, जिनका चित्रण पुरुष वर्ग कर रहा था।

इन वस्त्रों में सर्वाधिक प्रयोग रूमालों का हुआ है। और चंबा में तो वे इस कदर बने, कि चित्रकला की इस शैली का नाम ही चंबा रूमाल पड़ गया। वैसे रूमालों पर कशीदाकारी चंबा के अलावा काँगड़ा, मंडी, बिलासपुर और कुल्लू में भी होती थी। यह अवश्य है कि अन्य स्थानों पर रूमालों का प्रचलन समाप्त हो गया है, किंतु चंबा में आज भी रूमालों पर सुंदर कशीदा निकाला जाता है।

कपड़े का प्रयोग रूमालों के अतिरिक्त थापड़, कौहरा, गद्दियाँ, चोलियाँ, टोपियाँ, पंखे, चौपड़ और माला डालने की गौमुखी के लिए भी हुआ है।

'की' के मठ में रेशमी वस्त्रों पर बौद्ध जातकों तथा तिब्बती, लद्दाखी और स्पिति के लामामत के सिद्धांतों पर आधारित अनेक चित्र आज भी प्राप्य हैं।

ह्रास—जिस प्रकार 17वीं शताब्दी में उत्तरी भारत की अव्यवस्था ने चित्रकारों को पहाड़ों में शरण लेने के लिए प्रेरित किया था, उसी प्रकार 19वीं शताब्दी में काँगड़ा तथा अन्य पहाड़ी राज्यों के दुर्दिनों के कारण कला के लिए वातावरण एकदम क्षुब्ध हो गया। कलाकार निराश्रय हो गए। उधर पंजाब में एक नई शक्ति जन्म ले चुकी थी। महाराजा रणजीतसिंह एक समृद्ध, विशाल और शक्तिशाली राज्य की स्थापना कर चुका था। उसने ही काँगड़ा के महाराजा संसारचंद के स्वप्नों को धूलि में मिला दिया था। कलाकारों के लिए लाहौर दरबार का आकर्षण इतना बढ़ गया था कि वे उसे दबा न सके। यों भी दोहरी सत्ता—सिखों और गोरखों—से टकराने से पूर्व महाराजा संसारचंद पहाड़ी रियासतों को एक के बाद दूसरी को हड़प कर चुका था। उसी अनुपात से कलाकारों के आश्रयदाता कम हो गए थे। महाराजा संसारचंद का जादू उड़ चुका था। उसका वैभव क्षीण हो गया था। परिणाम यह कि कलाकार बड़ी

Digitised by
Tharah Kardu

संख्या में लाहौर दरबार चले गए, जहाँ उन्हें महाराजा रणजीतसिंह में नया समर्थ प्रश्रयदाता मिला।

स्वयं पहाड़ी क्षेत्र पहले सिखों और बाद में अंग्रेजों के आधिपत्य में चला गया। काँगड़ा के बचे-खुचे चितेरे उन रियासतों में चले गए जहाँ के शासक अभी तक अपनी गद्दियों पर बने हुए थे।

पहाड़ी कला की बलवती धारा के शुष्क हो जाने का एक कारण सन् 1905 का काँगड़ा भूचाल भी बना। इस भूकंप में हजारों चित्र नष्ट हुए, अनेक कलाकार मारे गए, जान-माल का बहुत नुकसान हुआ। गोरखों की लूटमार, सिखों के तानाशाही शासन और अंग्रेजों के आधिपत्य से मृतप्राय कला-परंपरा को इस भूचाल ने ऐसा धक्का दिया कि वह विलुप्त ही हो गई।

मेले

मेले इस प्रदेश के जन-प्राण में हैं, वे जीवन के अभिन्न अंग हैं। इन्हीं अवसरों पर हिमाचलियों का नृत्य-संगीत-प्रेम मुख्यतः सामने आता है। यदि मेले न हों तो यहाँ का जीवन नितांत शुष्क और नीरस हो जाएगा।

कठिन भौगोलिक परिस्थितियों में जीवन बिताने वाले लोगों के मनोरंजन के साधन ये मेले हैं। इन मेलों के अवसर पर ही वे जीवन की कठिनाइयों, प्रकृति के आकस्मिक प्रकोप तथा दुःख को भूलकर नाच-गाने में अपने आपको खो देते हैं। इससे वे आने वाले संघर्षों का सामना करने के लिए नवशक्ति का सृजन करते हैं।

इन मेलों की सामान्यतः कोई निश्चित अवधि नहीं। कोई मेले केवल एक दिन अथवा एक रात में ही समाप्त हो जाते हैं तो किन्नर प्रदेश का ऊक्योग एवं मंडी की शिवरात्रि 8-9 दिन, चंबा का मिंजर 10 दिन, किन्नर का सुस्कर उत्सव और चच्योट का कुटोहच 15-15 दिनों तक चलता रहता है। चंबा की चंपावती जातर तो पूरे 23 दिनों की होती है। हाँ, इन मेलों के मनाए जाने की तिथि निश्चित होती है। तिथि की गणना प्रायः विक्रमी संवत् के आधार पर की जाती है।

एक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि ये मेले साधारणतया फसल के आरंभ से पूर्व तथा फसल की कटाई के उपरांत होते हैं। किंतु हिमाचल प्रदेश की भौगोलिक स्थिति ऐसी है कि एक स्थान पर फसली कार्य यदि समाप्त हो जाए, तो अन्यत्र उसे आरंभ होने में सप्ताह-भर की भी देर होती है। इसी प्रकार यदि कहीं दो-दो फसलें वर्ष में होती हैं, तो ऐसे स्थानों की भी कमी नहीं, जहाँ केवल एक ही फसल हो सकती है। परिणाम यह कि वर्ष के 365 दिनों में प्रतिदिन किसी न किसी ग्राम में कोई न कोई मेला होता रहता है। अतः हम यह निःसंकोच कह सकते हैं कि इस प्रदेश में संगीत

tharahkardu.in

की स्वरलहरी, वाद्य-यंत्रों की धुन और नर्तक की पदचाप कभी बंद नहीं होती है। दूसरी विशेष बात यह कि अधिकांश मेलों में देवी-देवता भी उपस्थित होते हैं।

इन मेलों में इतिहास और पुराण हैं, यहाँ के देवी-देवता, मंदिर-मस्जिद का वर्णन है, नृत्य-संगीत, हर्ष-उल्लास, हास्य-विनोद, पूजा-अर्चना की झंकार है। सामाजिक मेल-मिलाप के ये सर्वसुलभ अवसर हैं। इसलिए यह स्वाभाविक है कि प्रत्येक हिमाचली इन मेलों में भाग लेने के लिए लालायित रहता है।

चंबा की युवती यदि अपनी माता से अनुरोध करती है कि :

'अया बसोआ माये, सूहियाँ लगियाँ,
कुड़ियाँ अड़ियाँ पांदीयाँ हो,
लेई देयाँ अम्माँ मोचड़े,
ओ मैं सूहियाँ देखण जाणा हो।'

तो पाँगी की कन्या नाग देवता से केवल यह वर माँगती है कि वह फूल जातर देखने जा सके।

काँगड़ा का एक स्वर यह कहते सुनाई देता है :

'फूली सरसों, ओ मोया फूली सरसों,
होलियाँ दे मेले जो फूली सरसों,
ओ मोया, हालियाँ दे मेले जाणा परसों,
हत्थ गहणे, मोथा हत्थ गहणे,
होलियाँ दे मेले जो दो ही जणे।'

होली के मेले में सम्मिलित होने के लिए हाथ में गहने डालने होंगे। तो दूसरा जमादार पति से अनुरोध करता है कि :

'सुनियार सुने दीयाँ लरजाँ जिन्दे,
गारी रोई राई करदी अरजाँ जिन्दे,
मेले चल जमेदारा।'

उधर कुल्लू-शिमला की एक नारी को यह खेद है कि :

'खौरे दपौहरे नाणी आई कापड़े धोई,
लाला खाई माखीए, जातरे शौका खोई।'

कड़कड़ाती धूप में कपड़े धो-धुलाकर साफ किए। खेद, पनघट से लौटती बार,

Digitised by
Tharah Kardu

मधु-लोलुप भ्रमर ने डंक मार दिया, आँखें सूज गईं, अतः मेला देखने से वंचित रहना पड़ा।

किंतु मेले में सम्मिलित होने का चाव इतनी आसानी से तो मिटता नहीं, अतः

'बाँठिणों चाली जातरे, लोगो,
धोइया मूँठू, हारशू आगे,
भरवी छाती दी बटणो लागे,
बाँठिणों चाली जातरे, लोगो।'

मेले मनोरंजन के साधन तो हैं ही, उनमें से कुछ-एक से दोष-शमन, सामाजिक मान्यता और संतति तथा समृद्धि-प्राप्ति भी वांछित होती है।

अनेक मेले हजारों वर्षों से निरंतर चले आ रहे हैं, किंतु काफी मेले ऐसे भी हैं, जो आधुनिक काल की किसी घटना-विशेष के उपलक्ष्य में मनाए जाते हैं। 'दियाउड़ी' और 'काईका' मेले, संभवतः चार-पाँच हजार वर्ष पुराने हैं, तो 'पंद्रह अगस्त का मेला' 1947 से आरंभ हुआ, जिसके द्वारा स्वतंत्रता-प्राप्ति पर आनंद मनाया जाता है। गीतों के समान ही, ये मेले बनते और बिगड़ते भी रहे हैं। बनने-बिगड़ने का यह क्रम आज भी जारी है। कहीं कोई नया मेला चलता है, तो अन्यत्र कोई दूसरा मेला समाप्त हो रहा है। आज एक मेले की मान्यता है, तो कुछ वर्षों बाद अन्य मेला उसका स्थान ले लेता है। बहुधा त्योहारों और उत्सवों ने भी मेले का रूप ले लिया है। मंडी की शिवरात्रि, कुल्लू का दुशैहरा और ज्वालामुखी के नवरात्रे इसी कोटि के हैं।

हिमाचल प्रदेश में मेले के लिए सामान्यतः जाच, जातर अथवा जात्रा शब्द का प्रयोग होता है। किसी गाँव के साथ 'जातर' जोड़ देने से उस मेले का नामकरण हो जाता है। यह स्थिति केवल लौकिक एवं सामाजिक तथा किसी सीमा तक व्यापारिक मेलों की है। बहुत बड़ी संख्या ऐसे मेलों की भी है, जिनके नाम पौराणिक, ऐतिहासिक एवं परंपरित हैं। त्योहारों से मेले बने नाम त्योहारों पर ही हैं।

वर्गीकरण—इस प्रदेश के मेलों को मोटे रूप में चार भागों में बाँटा जा सकता है :

(1) धार्मिक,
(2) सांस्कृतिक, ऐतिहासिक अथवा पौराणिक,
(3) व्यापार मेला, और
(4) लौकिक, सामाजिक।

(1) धार्मिक मेले—प्रयाग के कुंभ, अर्द्धकुंभ आदि के समान, इस प्रदेश में कतिपय ऐसे मेले हैं जो निश्चित अवधि के पश्चात् होते हैं, जिनमें जग, भूँड़ा, गनेर,

tharahkardu.in

शोली का ठिरशु, जागरा, नचार की शांद, मंडी में हुरंग का कैका, उद्यापन आदि सम्मिलित हैं।

इन मेलों का विशेष महत्त्व इनके धार्मिक तत्त्व के कारण है। संगीत, नृत्य आदि का आयोजन एकत्रित भीड़ के मनोरंजन के लिए होता है। अधिक ध्यान धार्मिक पहलू, कर्मकांड, देवी-देवताओं की शास्त्र-विधि से पूजा, हवन तथा अन्य संबंधित बातों पर दिया जाता है।

कुल्लू-शिमला क्षेत्र का भूँडा, उद्यापन, किन्नर का शेरकन, मंडी का कैका, कतिपय ऐसे मेले हैं, जिनमें नर-बलि का आभास होता है।

ये मेले निश्चित अवधि के पश्चात् होते हैं। उदाहरणार्थ, उद्यापन का विधान एक सौ वर्ष में एक बार होता है। यद्यपि रामपुर बुशैहर का अंतिम उद्यापन-यज्ञ लगभग 280 वर्षों के उपरांत सन् 1904 में हुआ था।

भूँडा—भूँडा इसी प्रकार का यज्ञ है, जो सामान्यतः बारह वर्षों के उपरांत हुआ करता था। इधर अब यह विशेष मेला अनेक वर्षों से नहीं हो रहा है। कहा जाता है कि यह प्रयाग के कुंभ के साथ ही हुआ करता था। भूँडा मुख्यतः परशुराम से संबंधित है, यद्यपि देवी अंबिका के उपासक भी इस यज्ञ में विश्वास रखते हैं। कहीं-कहीं यह मेला शिव और काली के निमित्त भी होता है। ऋग्वेद में इस तरह के आयोजन का संकेत है, जिसमें वरुण के निमित्त पुरुष को अर्पित किया गया था।

किसी आर्य देवता के उपलक्ष्य में, उसकी पूजा-अर्चना के लिए स्थान-स्थान पर यज्ञ हुआ करते हैं। ये यज्ञ ही 'जग' कहलाते हैं। सतलुज के किनारे-किनारे ऐसे कतिपय ग्राम हैं जहाँ पर इन जगों का विशेष प्रचलन है। मंडी में काव और ममेल ग्राम शिमला के निरत और दत्त नगर तथा कुल्लू का निरमंड इनमें प्रमुख हैं।

उद्यापन और भूँडा वैदिककालीन गोमेध, अश्वमेध तथा नरमेध यज्ञों के ही परिवर्तित स्वरूप कहे जाते हैं। भूँडा को तो परंपरा से नरमेध यज्ञ ही जाना जाता है, यद्यपि एक-दो स्थान पर इसका अश्वमेध यज्ञ होने का भी उल्लेख है।

समाज में प्रचलित किंवदंतियों के अनुसार जमदग्नि ऋषि किसी कारण पत्नी अंबिका (रेणुका) से रुष्ट हो गए। उन्होंने पुत्र परशुराम को आज्ञा दी कि माता का वध करे। पिता का आदेश मान, परशुराम ने अंबिका का सिर काट तो डाला, किंतु मातृ-हत्या का पाप चढ़ा लिया। इस पाप का प्रायश्चित्त करने के लिए ही, कहा जाता है, परशुराम ने इस महान् यज्ञ का आयोजन किया।

इसी प्रसंग में सिरमौर में रेणुका मेला परशुराम की मातृ-पितृभक्ति एवं प्रेम की स्मृति में मनाया जाता है। प्रतिवर्ष मनाया जाने वाला यह तीन दिन का मेला परशुराम को अपनी तपस्या से निवृत्त हो माता-पिता के चरण छूने रेणुका सरोवर ले आता है।

Digitised by Tharah Kardu

'जग' भूँडा की ही कड़ियाँ हैं। सामान्यतः भूँडा के तीन वर्ष पश्चात् बड़ोची, फिर वदपूर और नवें वर्ष शांद नामक जग हुआ करते थे।

जग, भूँडा, उद्यापन आदि जहाँ द्विजों के मेले हैं, ठीक उनकी ही प्रतिलिपि 'जागरा' है। जागरा का मुख्य देवता विष्णु नरैण (नारायण) है।

(२) सांस्कृतिक, ऐतिहासिक अथवा पौराणिक मेले—जैसा हम देख चुके हैं, एक दृष्टि से तो सभी मेले धार्मिक एवं सांस्कृतिक होते हैं, सभी किसी न किसी देवता के सम्मान में मनाए जाते हैं, किंतु दुशैहरा, दियाउड़ी (बुढ़ी दीवाली), गुग्गे के मेले, सुई, मिंजर, रेणुका, नवरात्रे, झंडा आदि मेलों में तुलनात्मक रूप से ऐतिहासिकता एवं पौराणिकता का अधिक पुट है।

दुशैहरा, हमें इस प्रांत में वैष्णव धर्म का आगमन बताता है, तो बुढ़ी दियाउड़ी आदिकाल में हुए इंद्र-वृत्र संघर्ष और रामायण-महाभारत के अनेक युद्धों का सजीव चित्रण करती है। शोली का ठिरशू, कुम्हारसैन तथा उससे संलग्न इलाकों के राणा भंबूराय की स्मृति हमारे मस्तिष्क में उबार देता है। रेणुका का मेला परशुराम आख्यान का वृत्तांत उपस्थित करता है, तो चंबा का सूई मेला ऐतिहासिक राजा साहिल वर्मा की रानी द्वारा जन-कल्याण के लिए जीवन उत्सर्ग की कहानी को अमर बनाता है। और रथ-रथनी का मेला पौराणिक भस्मासुर-वध आख्यान को हमारे सामने लाता है। शिवरात्रि, चाहे मंडी की हो चाहे अन्यत्र, इस प्रदेश के शैव होने का स्पष्ट प्रमाण उपस्थित करती है। साथ में यहाँ की संस्कृति को एकदम अखिल भारतीय तथा प्रागैतिहासिक स्वरूप देती है। रिवालसर का सेचू मेला महान् भारतीय बौद्ध विद्वान् पद्मसंभव के तिब्बत में बौद्धधर्म-प्रचार की ऐतिहासिक घटना की ओर इंगित करता है।

इसी प्रकार चंबा का मिंजर मेला इस प्रदेश पर नाथ संप्रदाय के प्रभाव को स्पष्ट करता है। यह भी माना जाता है कि यह मेला 'वरुण देवता' की पूजा के निमित्त मनाया जाता है।

इनके अतिरिक्त और कई मेले हैं जो परंपरा पर आधारित होते हुए सप्राण संस्कृति के परिचायक हैं। इन मेलों में जहाँ एक ओर मनोरंजन के प्रचुर साधन हैं, वहाँ दूसरी ओर मन बरबस अतीत की घटनाओं के लेखे-जोखे में उलझ जाता है और उन भूली-बिसरी बातों को पुनः ताजा कर देता है। देश में प्राचीन संस्कृति के मुख्य केंद्रों से कटे होने के कारण, ये मेले इस प्रदेश के लोगों का भावात्मक संबंध मैदानी भाइयों से जुड़ाते हैं। इसके अतिरिक्त उनके लिए वर्तमान को गत और आगत से जोड़ने वाली कड़ियों का भी काम करते हैं।

(३) व्यापार मेले—सभी मेलों में थोड़ा-बहुत व्यापार होता है, परंतु रामपुर की

tharahkardu.in

लवी और बिलासपुर, मंडी और काँगड़ा जिलों के नलबाढ़ मेले विशुद्ध रूप से व्यापारिक हैं। इन मेलों में न तो कोई देवता आता है और न संगीत और नृत्य का ही आयोजन होता है।

एक समय में कुल्लू के दुशैहरे के समान ही रामपुर की लवी तिब्बत के साथ व्यापार का महत्त्वपूर्ण अवसर प्रदान करती थी, किंतु जब से तिब्बत पर चीन ने अधिकार जमाया है, इस व्यापार में कमी आई है और तद्नुरूप इस मेले का अंतर्राष्ट्रीय महत्त्व कम हुआ है। फिर भी व्यापारी वर्ग दिल्ली, हरियाणा, पंजाब तथा हिमाचल प्रदेश के प्रत्येक भाग से आकर अपना माल बेचते हैं, और यहाँ का माल खरीदते हैं। लवी में तीन ओर से माल आता है। किन्नर के व्यापारी पशम, ऊन, न्योजा, खुरमानियाँ, कड्डू, पतीश और गुदमे लाते हैं। कुल्लू तथा अन्य निकटवर्ती क्षेत्रों में ऊनी वस्त्र, पट्टू, पट्टियाँ, पूणें, खेती-बाड़ी के लिए द्रांत, द्रांतियाँ, कुल्हाड़ियाँ आदि औजार लाते हैं। देश के मैदानी इलाकों से काँसे, पीतल और लोहे के बर्तन, सोने-चाँदी के आभूषण आदि लाए जाते हैं। विनिमय के लिए यह मेला उपयुक्त है।

एक समय में देहरादून में चकराता सड़क पर पहाड़ के नीचे उतरते कालसी का पुराना ध्वस्त नगर पड़ता है, जो कभी हिमाचल और गढ़वाल तथा मध्य देश के व्यापार का केंद्र था। यहाँ यमुना तट पर अब भी वह शिला है, जिस पर अशोक के अन्य अभिलेखों की भाँति जनसमागम के स्थलों पर एक अभिलेख खुदा है। हिमालय से तब समूरी खाल (बुदली मृग), पशम तथा कोमल ऊन के गुदमें, कस्तूरी तथा दूसरी बहुमूल्य वस्तुएँ आकर बिकती थीं। आज भी काफी संख्या में कनौरे अपनी भेड़-बकरियों को लेकर कालसी पहुँचते हैं, यद्यपि व्यापार की मंडियाँ रामपुर और कुल्लू में खुलने से कालसी का महत्त्व बहुत कम हो गया है।

नलबाढ़ पशु-विक्रय का मेला है। विक्रेता हिसार, रोहतक, काँगड़ा, होशियारपुर एवं निकटवर्ती नालागढ़, रोपड़ आदि से सैकड़ों की संख्या में पशु लाते हैं। पशु खरीदने के लिए दूर-दूर से लोग इन मेलों में आते हैं।

(4) लौकिक एवं सामाजिक मेले—हिमाचल के अधिकांश मेले इस वर्ग के अंतर्गत आते हैं। इन मेलों का कोई विशेष धार्मिक, सांस्कृतिक अथवा व्यापारिक महत्त्व नहीं, ये केवल मनोरंजन के साधन हैं। ये मेले 'मेला मेलियों का' वाली कहावत को चरितार्थ करते हैं। इस श्रेणी में ग्राम मेले, जातर, जाच, शैरी, छिंज आदि का आधिक्य है।

हाँ, विशु, विर्शु, निर्शु या ठिरशु ऐसा मेला है जिसमें सांस्कृतिक पक्ष भी कई स्थानों पर उभरकर सामने आ जाता है।

विशु—विशु अपने विभिन्न नामों में प्रायः संपूर्ण हिमालय क्षेत्र में चंबा से लेकर

Digitised by
Tharah Kardu

सुदूर-पूर्व आसाम तक मनाया जाता है। इसका कारण शायद यह हो कि यह मेला उस पुरातन जाति का है जो इस समूचे भूखंड में फैली है। यह मुख्यतः वैशाख के पहले पखवाड़े में मनाया जाता है, पर कहीं-कहीं ज्येष्ठ और आषाढ़ में भी होता है। ठोडा का खेल इसी का अंग है।

सामान्यतः इस मेले में कई स्थानों पर स्वाँग भी दिखाए जाते हैं। यद्यपि 'करयाला' स्वाँगों का मुख्य क्षेत्र है। इन स्वाँगों द्वारा समाज की दुष्कृतियों, मध्ययुगीन विभूतियों, लौकिक यथार्थताओं और दैनिक जीवन की झाँकी उपस्थित की जाती है।

किन्नर प्रदेश में रिब्बा के स्थान पर विशु के अवसर पर राजा कंस की पूजा की जाती है, जो अपनी तरह का अनोखा उदाहरण है। यदि शेरी खरीफ फसल की कटाई से पूर्व का मेला है, तो विशु वसंत का अभिनंदन करता है।

'छिंज' शारीरिक बल की परीक्षा का मेला है। इस क्षेत्र की सैनिक परंपरा के अनुरूप छिंज मेले में कुश्तियों का आयोजन होता है, जो प्राचीनकाल के मल्लयुद्ध का स्मरण कराता है। यही कारण है कि डोगरों का क्षेत्र चंबा, काँगड़ा, मंडी और बिलासपुर जिले मुख्यतः इस मेले के केंद्र हैं।

फुलैच—भेड़-बकरियाँ पालने वालों का एक रोचक मेला है फुलैच, जिसे किन्नर-निवासी उख्यांग भी कहते हैं। प्राचीन युग के बहुचर्चित वसंतोत्सव के समान ही यह पुष्पोत्सव भी है। साथ में अनेक स्थानों पर इसमें मृतक-पूजा, प्रकृति-पूजा एवं कालि-पूजा के तत्त्व भी आ गए हैं।

नृत्य

नृत्य हिमाचली मानव की रग-रग में है। कोई मेला हो, त्योहार हो, अन्य शुभ अवसर हो, नृत्य के बिना निर्वाह नहीं है। फसली काम से निवृत्त हो गए हों और दूसरा विशेष कोई काम न हो, तो बेकार बैठने से लाभ क्या ? दो-चार मित्र इकट्ठे हुए और बुला लिया बाजगियों, डूमणों और बजंतरियों को, और नृत्य आरंभ हो गया। बाहर बर्फ गिरी है, इधर-उधर जाना कठिन है, खेत-खलियान दूर हैं, तो क्यों न इस सुअवसर से लाभ उठाया जाए और नृत्य का आयोजन किया जाए ? कोई त्योहार है, पर्व है, मेला है और इसी प्रकार का कोई मंगल दिवस, सामूहिक नृत्य होना ही चाहिए। नृत्य होता है, कई बार तो घंटों ही बीत जाते हैं। यों भी वह नृत्य ही क्या, जो पाँच-छह घंटों से पूर्व समाप्त हो जाए ?

संसार के अन्य प्रदेशों के समान, भारत में भी शास्त्रीय तथा लोकनृत्य, सनातन काल से मानव की धार्मिक भावना की अभिव्यक्ति और उल्लास के प्रकटीकरण का माध्यम रहा है। लगता है, इस देश में नृत्य का आरंभ ही आध्यात्मिक अभिव्यक्ति

tharahkardu.in

के रूप में हुआ है। साथ ही नृत्य मानव-मन की घुटित भावनाओं के प्रकटीकरण का भी तो एक मार्ग है। यह उल्लास, प्रसन्नता, आह्लाद और आनंद की सजीव प्रतिमूर्ति है। वनों में रहने वाले आदि मानव ने, जो कला तथा जीवन की बारीकियों से अनभिज्ञ था, कोयल की मधुर कू-कू को सुना और देखा मयूर को नाचते हुए। उसने अनुभव किया कि समूची प्रकृति में ही एक संगीत है, एक सुमधुर लय है।

मानव ने प्रकृति के हर व्यापार में एक लय का अनुभव किया। अपने अवचेतन मन में उसने पशु-पक्षियों तथा पुष्पों की तालात्मक स्थिति को अनुभव किया। वृक्षों की झूमती हुई शाखाओं का अनुसरण उसने अपने बाजुओं और टाँगों को उसी प्रकार हिलाने में, झुकाने में किया। शस्य से भरे खेतों तथा हरी-भरी चरागाहों में हिलोरें लेते अन्न और घास के अनुरूप उसने अपने शरीर से हिलोरें लीं। अन्न की बालों के समान उसने अपने शरीर को इधर-उधर डुलाया और प्रकृति के अनुकरण की इसी प्रक्रिया ने उसके नृत्य को जन्म दिया।

नाच कब शुरू हुआ, इसकी तिथि, वर्ष या काल निर्धारित नहीं किए जा सकते हैं। मानव तभी से नाचा होगा, जब वह इस योग्य हुआ होगा। अपने जन्म के साथ ही उसने प्रकृति को देखा। भँवरे को पुष्पों के इर्द-गिर्द नाचते देखा है। घूघती (फाख्ता) को फुदकते देखा है। उसने देखा कि बादल को देखकर मोर सुधबुध खो, आत्मविभोर हो, नाच उठा है। यह नाचना तो प्राणिमात्र का स्वभाव है, आखिर मनुष्य भी तो एक प्राणी ही है।

हिमाचल प्रदेश में नाच और गाना, नृत्य और संगीत, जीवन के अभिन्न अंग हैं। आपस में भी ये दोनों कलाएँ सहोदराएँ तो हैं ही, जुड़वाँ बहनें भी हैं। एक को दूसरे से पृथक् नहीं किया जा सकता। संभवतः यही कारण है कि इनके संयुक्त प्रदर्शन के लिए ही मेलों का आयोजन होता होगा, जिससे नृत्य, गीत और मेला एकाकार हो गए हैं।

शास्त्रीय नृत्य—नृत्य मुख्यतः दो भागों में विभक्त किया जाता है : शास्त्रीय नृत्य और लोकनृत्य। शास्त्रीय नृत्य मानव जाति के अमूर्त, अव्यक्त अनुभवों की मूर्त, व्यक्त व्याख्या है। लोकनृत्य विश्वात्मा के साथ साक्षात्कार करने का साधन। लोकनृत्य आधुनिक युग की जटिलताओं से मुक्त, उन्मुक्त जीवन का प्रकाशन है। यह अपने निर्बंध, परंपरारहित रूप में व्यक्ति की भावनाओं की अभिव्यक्ति करता है। इसमें सामूहिक जीवन के आनंद की झलक मिलती है, उस आनंद का यह नृत्य दर्पण है। हम कह सकते हैं कि "जन साधारण के स्वप्न और आदर्श, उद्देश्य और कल्पना सब कुछ लोक नृत्यों में मुखरित हुआ है।"

लोकनृत्य—लोकनृत्य स्वतःसिद्ध अभिनय है, जिसके लिए न तो पूर्व तैयारी की

Digitised by Tharah Kardu

आवश्यकता होती है और न रिहर्सल की। इसका रंगमंच ग्रामीण भूमि, हरी-हरी चरागाहें एवं विशाल विस्तृत आकाश है।

हिमाचल प्रदेश में भरतनाट्यम, कथकली, कत्थक, मणिपुरी जैसे शास्त्रीय नृत्यों का नितांत अभाव है। यहाँ की पूँजी केवल लोकनृत्य है, जिनकी यहाँ प्रचुरता है। अतः हिमाचल के संदर्भ में हम इन्हीं लोकनृत्यों को ही नृत्य कहेंगे।

इन लोकनृत्यों में से कुछ-एक में अंग-संचालन भावाभिव्यक्ति का अनुसरण करता है और कुछ ऐसे भी हैं, जिनमें आंगिक चेष्टाओं का भावाभिव्यक्ति से कोई संबंध नहीं होता है।

हम पहले कह चुके हैं कि नृत्य का धर्म के साथ गहरा संबंध रहा है। हिमाचल प्रदेश में तो नृत्य में ही एक प्रकार से देवत्व का आरोप हो गया है। किसी भी नृत्य से पूर्व वादक अपने वाद्यों पर ब्याहुल, सेवा अथवा अर्चना की धुन बजाते हैं। अन्यथा यह ब्याहुल देवताओं की पूजा-अर्चना के समय ही बजाई जाती है। इसी प्रकार जब नाटी नृत्य आरंभ होता है तो ब्याहुल बजती है। पुनः जब कोई व्यक्ति नृत्य की माला (नाटी) का अगुआ अथवा 'धुरी' बनता है, तो इससे पूर्व कि वह नृत्य आरंभ करे, उसके सम्मुख ब्याहुल बजाई जाती है। इससे स्पष्ट है कि इस प्रदेश में नृत्य को कितना अधिक धार्मिक महत्त्व दिया जाता है।

यही नहीं, नृत्य में तो देवत्व देखा ही गया है, परंतु स्वयं देवता भी यहाँ नृत्य में भाग लेते हैं। जिन ग्रामीण देवी-देवताओं के रथ हैं, वे सभी नाचते हैं। यह नाच देवताओं को इतना प्रिय है कि विष्णु भगवान् भी छाड़ी नृत्य में नाच उठते हैं। शिव तो नर्तक हैं ही, यों भी उनका नाम नटराज है। शिवरात्रि के पर्व पर शिव आत्म-विस्मृत होकर नाचते हैं और यहाँ तक कि रात खुल जाने पर भी मृत्युलोक से वह कैलाशधाम नहीं जाना चाहते हैं।

नाचने का शिव को इतना शौक है कि लंबी, दुष्कर यात्रा भी उन्हें सुगम लगती है। स्वयं तो चल पड़ते हैं, बेचारी गिरिजा (पार्वती) को भी साथ घसीटकर ले चलते हैं। पतिव्रता गिरिजा केवल यह शिकायत कर रह जाती है कि "भोले ईश्वर, तू मुझे कहाँ ले आया। मार्ग में न कहीं छाओं है, न पीने के लिए पानी। मेरे पाँव में जूते भी तो नहीं, और मार्ग बीहड़, कंकर और काँटों-भरा।" संभवतः शिव की देखादेखी ही हिमाचल के स्त्री-पुरुष कोसों दूर मेले में भाग लेने को उत्सुक रहते हैं।

वैसे भी भारत की प्राचीन परंपरा के अनुसार ब्रह्मा ने नाट्यवेद की रचना की। उन्होंने ऋग्वेद से शब्द, सामवेद से लय, यजुर्वेद से अभिनय और अथर्ववेद से रस और भाव लिए।

नाट्यशास्त्र के रचयिता भरत मुनि ने एक बार नाटक प्रदर्शित किया। उससे

tharahkardu.in

शिव और पार्वती प्रसन्न हुए। उन्होंने भरत मुनि को तांडव और लास्य नृत्य की शिक्षा दी। पार्वती ने भी शोड़ितपुर (रामपुर बुशैहर का सराहन) के राजा वाणासुर की पुत्री ऊषा को लास्य सिखाया। ऊषा ने किन्नरियों को इस नृत्य की शिक्षा दी।

हिमाचली नृत्यों का नामकरण और स्वभाव, स्वरूप और वर्ग-निर्धारण कठिन समस्या है। इस क्षेत्र में एक प्रकार की अराजकता-सी है। नामकरण कहीं स्थानों के नाम पर, कहीं किसी पक्षी को लेकर, कहीं नृत्य की गति को देखते हुए और कहीं नृत्य के अवसर पर अंग-विशेष के अधिक हिलने-डुलने के आधार पर हुआ प्रतीत होता है।

नामकरण—इस वैविध्य में कुछ सूत्रता लाने के लिए हम कह सकते हैं कि पांगी, साँगला, कुल्लू, नावरी, सराजी, बुशैहरी, चायलू, लाहुली आदि नृत्यों के नाम स्थान अथवा क्षेत्र विशेष के नाम पर रखे गए हैं। वास्तव में ये सभी नृत्य नाटी अथवा भाला नृत्य के ही विविध नाम हैं।

कुछ ऐसे नृत्य हैं जो अवसरानुकूलता के आधार पर जाने जाते हैं, जैसे बी मा नृत्य, जो विधिमाता त्योहार के अवसर पर किया जाता है, इसी प्रकार नाटारंभ, सूई, दियाउड़ी, चैती, विशु, सेन ग्याचम आदि नृत्य हैं। नाटारंभ छाड़ी के अवसर पर नाचा जाता है और सूई इसी नाम के मेले के अवसर पर। इसी प्रकार दियाउड़ी नृत्य मेले की रात को किया जाता है।

कतिपय नृत्यों का नाम उनके साथ गाए जाने वाले गीतों के नाम पर रखा गया है, जैसे लाल्हड़ी नृत्य, घुरैही नृत्य, धरमाड़, धरमाड़ी और चंद्राउड़ी बाँठड़ा।

कई ऐसे भी नृत्य हैं जो उन अंगों के नाम से जाने जाते हैं जिनका नृत्य में अधिक प्रयोग होता है, जैसे जानूजंघ, बाजूबंद।

चीड़ी-लूड़ी अथवा घूघती और घूघी ऐसे नृत्य हैं जो घूघती (फाख्ता) पक्षी के नाम से जाने जाते हैं। जिस प्रकार घूघती कूदती, फुदकती है उसी प्रकार नृत्य में भी नर्तक कूदते-फुदकते-से लगते हैं।

सामान्यतः पद-गति, हाथों की स्थिति तथा अन्य अंगों के संचालन के आधार पर भी इन गीतों के भेद जाने जा सकते हैं। इसके अतिरिक्त गीत की गति भी इस दिशा में सहायक हो सकती है। उदाहरणार्थ यदि गीत की स्वर-गति तीव्र है तो नृत्य की गति भी तीव्र होगी। पद-संचालन द्रुत गति से होगा। हाथ के बंधन मुक्त होंगे, गीत भी 'फूकी' नाटी के नाम से जाना जाएगा। दूसरी ओर यदि गति की लय ढीली-सी, स्वप्निल है, तो पद-संचालन भी उसी प्रकार झूमता-सा, हिलोरे लेता-सा होता है। हाथ दूसरे नर्तक के हाथ में या कंधे पर होंगे। तद्नुरूप नृत्य का नाम भी 'ढीली नाटी' ही होगा।

Digitised by
Tharah Kardu

नृत्य वर्ग—मोटे तौर पर इन नृत्यों को हम नर्तकों की संख्या, उनके लिंग, अवसर की अनुकूलता और पद-संचालन की गति के आधार पर विभक्त कर सकते हैं। नर्तकों की संख्या के अनुसार नृत्य सोलो या सामूहिक होता है। यदि अकेला व्यक्ति या एक से अधिक व्यक्ति पृथक्-पृथक्, स्वच्छंद नृत्य करें, तो सोलो कहलाएगा। यदि नाटी अथवा माला के रूप में अनेक व्यक्ति साथ-साथ नाचें तो सामूहिक नृत्य कहा जा सकता है। इसी तरह यदि केवल नारी नर्तक हो, तो स्त्री-नृत्य, यदि केवल पुरुष नर्तक हो, तो पुरुष-नृत्य और यदि दोनों स्त्री और पुरुष साथ-साथ हाथ मिलाकर नाचें तो संयुक्त नृत्य कह सकते हैं। स्त्री नृत्य के उदाहरण हैं सुई, बीमा, पूड़ुवा (सिरमौर), डाँगी और ठाकणी। यदि वे नाटी में नाचें तो चाहे पृथक् चाहे पुरुषों के साथ, तो उनका नृत्य उसी नाटी के नाम से जाना जाता है।

पुरुष-नृत्य संख्या में लगभग चालीस हैं, जिनमें नाटी, माला, घुघती, दीपक, शोनमा, लूड़ी, मैढथू, मुंजरा, बाजूबंद, फेटी घिर, बूढ़ा, बूझण, मगेल, खड़ायत, बिरशु, जानूजंघ, दियाउड़ी, धंधरास, कडमाऊ, फूकी, ढीली, लाल्हड़ी, धरमाड़ और धरमाड़ी प्रमुख हैं। संयुक्त नृत्य में चंबा का झंजर, शिमला का मुंजरा और मंडी का कुटाहच्छ नृत्य विशिष्ट हैं।

अवसरानुकूलता की दृष्टि से हम दो मोटे वर्ग कर सकते हैं—धार्मिक नृत्य और सामाजिक नृत्य। मेला नृत्य इन दोनों के ही अंतर्गत आ जाते हैं। धार्मिक नृत्यों में नाटारंभ, धरमाड़, धरमाड़ी, छाड़ी, बांठड़ा, बीमा नृत्यों का समावेश हो जाता है। सामाजिक नृत्य प्रायः सभी सामूहिक नाच हैं।

नाटारंभ और मुंजरा—प्रायः फसल की बिजाई या कटाई के उपरांत ग्राम देवता के उपलक्ष्य में किए जाने वाले मेलों या उत्सवों पर ही सामूहिक नृत्य किए जाते हैं। वैयक्तिक अथवा सोलो नृत्य तो किसी भी अवसर पर हो सकते हैं। सोलो नृत्य एक सीमा तक शास्त्रीय तांडव अथवा लास्य की झलक दिखाते हैं, विशेषकर स्त्रियों का वह नृत्य जो 'विधिमाता' जैसे त्योहारों पर किया जाता है। तांडव का कुछ धुँधला-सा रूप नाटारंभ और नाट नृत्यों में देखने को मिलता है। सोलो नृत्य में मुंजरा और नाटारंभ अपेक्षाकृत लोकप्रिय हैं। किन्नर के कानम क्षेत्र का 'चमा' नृत्य भी सोलो का अच्छा उदाहरण है।

मुंजरा नृत्य एक समय में एक या दो ही व्यक्ति नाच सकते हैं। यह प्रायः घर के अंदर या खलियान में होता है। इसमें स्त्री और पुरुष दोनों भाग ले सकते हैं। संगीत की एक लय और नृत्य की इस प्रकार समान गति के नर्तक सिर पर पानी भरी गागर और उस पर पानी भरा गिलास रखे जमीन पर से रूमाल उठाते हैं।

नाटारंभ में अभंग, समभंग और अतिभंग जैसे अनेकों भंगों की झलक मिलती

tharahkardu.in

है। मुद्राओं में पताका तथा अंजली का आभास प्राप्त होता है। इस नृत्य के साथ वाद्य-यंत्रों में ढोलक एवं ताली की आवश्यकता रहती है, किंतु गीत साथ-साथ गाए जाते हैं। ये गीत अधिकांशतः कबीर के पद हैं जिनमें ईश्वर-भक्ति अथवा संसार की असारता पर बल दिया गया है। कुछ गीत स्थानीय देवी-देवताओं की वंदना और प्रशस्ति के भी होते हैं। ये गीत नटावक या ब्रह्मखाड़ा कहलाते हैं।

एड़ी या पाँव के तलवों को भूमि पर जोर से मारना इस नृत्य की एक विशेषता है। शरीर का अंग-प्रत्यंग इस नृत्य में टूट-सा जाता है।

लगता है, आज से कई शताब्दियाँ पूर्व मैदानी भागों से जो लोग इस प्रदेश में आकर बसे थे, इन सोलो नृत्यों के पूर्वज भी उन्हीं आगंतुकों में से थे, जो अपने साथ शास्त्रीय नृत्य का ज्ञान भी लेते आए। इसी कारण नाटारंभ, सुई, मुंजरा और विधि-माता नृत्य में शास्त्रीय विधान के भी कतिपय चिह्न मिलते हैं।

छाड़ी तथा बाँठड़ा—छाड़ी और बाँठड़ा दो और पुरुष सोलो नृत्य हैं। छाड़ी के साथ बाँसुरी, ढेंकुली (पैंओल, छोटा ढोलक, जिसकी ध्वनि ढकी-ढकी-सी आती है), ताली और नडूर (बाँसुरी जैसा अन्य वाद्य-यंत्र) होते हैं। गीत धार्मिक, पौराणिक एवं लौकिक गाए जाते हैं, जिनमें किसी देवता का इतिहास अथवा राम और कृष्ण के जीवन की किसी घटना का उल्लेख होता है। ऐसा देखा गया है कि छाड़ी में एक नृत्य के लिए चार-चार गीतों का उल्लेख होता है। ऐसा देखा गया है कि छाड़ी में एक नृत्य के लिए चार-चार गीतों का क्रम होता है। पहला गीत विष्णु या अन्य देवता का लीला-वर्णन, दूसरा रामायण या महाभारत संबंधी, तीसरा स्थानीय इतिहास लिए हुए और चौथा विशुद्ध नाटी गीत होता है।

बाँठड़ा नृत्य में गीतों का अभाव रहता है, केवल शहनाई पर किसी गीत की लय बजाई जाती है। वाद्य-यंत्र शहनाई, ढोल, नगाढ़ा, ढेंकुली, बाँसुरी, काबा, करनाल और भाणा या भुगजल (थाली जैसी काँसे की दो तालियाँ) होते हैं। बाँठड़ा में कई नर्तक एक साथ ही नाचते हैं, इस प्रकार यह सोलो नृत्य तथा नाटी जैसे सामूहिक नृत्य के बीच की कड़ी है। ये नृत्य कुल्लू और शिमला में अधिक प्रचलित हैं।

चंबा में धंधरास नामक नृत्य में भी केवल बाजा ही बजता है, गीत नहीं गाया जाता। यों यह पुरुषों का सामूहिक नृत्य है।

नाटी—सामूहिक नृत्य में नाटी अथवा माला का स्थान सर्वोपरि है। यदि सूक्ष्म दृष्टि से विवेचना करें, तो प्रायः सभी सामूहिक नृत्य नाटी के ही विभिन्न रूप हैं, उनकी विविधता स्थान-भेद अथवा पद-संचालन गति-भेद में है। इस नृत्य में दस से लेकर तीन-चार सौ तक नर्तक भाग लेते हैं।

हिमाचल के सामूहिक नृत्य का मूल पद-संचालन इस प्रकार है। पहले बाएँ पाँव

Digitised by
Tharah Kardu

के दो हलके-हलके, छोटे-से कदम, जिसके पश्चात् दाएँ पाँव का एक पाँच-सात इंच लंबा कदम भूमि पर हलका-सा दबाव देकर लिया जाता है। साथ ही नर्तक शास्त्रीय नृत्य की अभंग जैसी स्थिति में रहता है। और अधिक स्पष्ट करने के लिए कहा जा सकता है कि नर्तक सर्वप्रथम बायाँ पाँव सामने की ओर उठाता है, दायाँ पाँव अपने स्थान से थोड़ा-सा ऊपर उठकर आगे बढ़ता है, पुनः बाएँ पाँव को सामने पहली तरह ही लाया जाता है और दाहिने पाँव को थोड़ा-सा ऊपर उठाकर आगे सरकाया जाता है। पाँव को सामने ले जाते हुए शरीर को थोड़ा-सा झुकाया जाता है, जो दाहिने पाँव के उठने के साथ अपनी पूर्व अवस्था में आकर, हलका-सा पीछे की ओर मुड़ता है। बाएँ पाँव की इस प्रकार दो गतियों के उपरांत दाहिना पाँव सामने की ओर एक बार उठाया जाता है। इसमें भी शरीर उसी प्रकार लहरों जैसी हिलोरें लेता है। इस प्रकार तीन, पाँच अथवा दस बार इस क्रम से नाचते हुए नर्तक समभंग स्थिति में आता है और साथ में हाथ के रूमाल या तलवार को सिर से ऊँचा या सामने लाकर हिलाता है। प्रायः हाथ माला के रूप में एक-दूसरे के हाथों से गुँथे होते हैं।

कुल्लू, किन्नर और शिमला की ढीली, लंबी, फूकी, दियाउड़ी, ताउड़ी, कड़माऊ और नावरी, मंडी और चंबा तथा कुल्लू की फेटीधिर, दोहरी, सराजी, चायलु अजगजमा, गढ़गढ़क, चंद्राउड़ी, बाजूबंद, जानूजंघ, तिणकी, ठाकुरी, पदरागी आदि सभी नृत्य नाटी के ही नाम हैं।

कड़माऊ—कड़माऊ आदि नाटी में गति बड़ी तेज होती है। नर्तक का सारा शरीर एक बार तो झकझोरा जाता है। कभी कदम ढीले, हलके से, तो दूसरे क्षण काफी तेज, तत्पश्चात् इतने गतिवान कि लगता है मानो छलाँग लगा दी गई हो। उसी प्रकार विद्युत्-गति से मुड़ना इस नाटी की विशेषता है।

घूघती—कड़माऊ के समान ही मंडी की लूड़ी तथा कुल्लू, शिमला और सिरमौर की घूघती नाटी है। नर्तक एक-दूसरे की पीठ के पीछे खड़े होकर हाथ आगे वाले के कंधों पर रखकर एक लंबी पंक्ति बनाते हैं। गीत केवल 'घूघती' गाया जाता है।

जानूजंघ—नर्तक सीधी माला में जंजीर के समान हाथ पिरोए रहते हैं। वे अपना दाहिना पाँव बाएँ जानू पर रखते हैं, पुनः बायाँ पाँव दाहिने जानू पर। धीरे-धीरे ज्यों-ज्यों नृत्य में तेजी आती जाती है तो नर्तक एक पाँव से ही कूदकर नाचने लगते हैं।

सेन ग्ये चम—(Tsen Gye Cham) यह तिब्बती नृत्य है जो मंडी में रिवालसर के स्थान पर सेचू मेले के अवसर पर किया जाता है। नर्तक स्पिति के दैत्य नृत्य में भाग लेने वालों की तरह ही, मुखौट पहनते हैं। इस नृत्य में आठ नर्तक होते हैं। जिनके हाथों में ढोल होते हैं, वे अर्द्धवृत्त में नाचते हैं। कहा जाता है कि इस नाच

tharahkardu.in

में सत्य और असत्य तथा पाप और पुण्य का संघर्ष दर्शाया जाता है।

ठोडा नृत्य—ठोडा वस्तुतः आयुधजीवी लोगों का प्राचीन नृत्य है। यह विशु आदि मेलों पर किया जाता है। इस नृत्य में गीत का अभाव होता है। केवल नगाड़ा और ढोल की ध्वनि ही उपयुक्त वातावरण का सृजन कर देती है। बहुधा दो-दो नर्तकों की जोड़ी धनुष और तीर के साथ इसमें भाग लेती है। बाजगी नाचने वालों से आगे-आगे होते हैं। एक आगंतुक जोर से कहता है :

'ठडेरी रा भूखा आओ थी, झमक लागी थी, हो ही।'

दूसरी ओर उत्तर मिलता है 'हो हो'। इस समय ठठोरी की धुन बजाई जाती है और खिलाड़ी एक-दूसरे की पिंडलियों को अपने तीर का निशाना बनाते हैं।

लाहुल और स्पिति में भी इस प्रकार का नृत्य होता है जिसमें धनुर्विद्या का प्रदर्शन होता है। नर्तक अपने शत्रु की हिम की प्रतिमा बनाकर उस पर तीर चलाता है।

खड्ग नाटी—खड्ग नाटी में नर्तक रूमाल के स्थान पर तलवार से नाच करते हैं। ढोल और नरसिंगे के बजते ही रंग-बिरंगे परिधानों, पुष्प-मालाओं, तलवारों तथा अनेक आभूषणों से सुसज्जित नर्तक नृत्य-स्थल में प्रवेश करते हैं। वाद्य-यंत्रों की गति के साथ ही उनकी तलवारें हवा में चमचमा उठती हैं। नृत्य की गति तीव्र हो जाती है। कुछ नर्तकों के पास एक तलवार और ढाल होती है, तो कुछ के पास दो तलवारें। कतिपय ऐसे भी नर्तक होते हैं जो तीसरी तलवार दाँतों में भी दबाकर रखते हैं। नाचने वाले दो भागों में बँट जाते हैं और कृत्रिम युद्ध करते हैं।

थोड़ी देर के बाद तलवारों को विश्राम दिया जाता है, और नाचने वाले दो-दो, चार-चार के दलों में बँट जाते हैं। युद्ध की ललकार करते हैं। नृत्य की गति धीमी पड़ जाती है।

बुढा नृत्य—कुल्लू, शिमला और सिरमौर में प्रचलित बुढा नृत्य विविध प्रकार किया जाता है। शिमला और कुल्लू में बैसाखी से पूर्व सप्ताह में इसका आयोजन होता है। इसे 'सिंह' अर्थात् व्याघ्र नृत्य भी कहा जाता है। नर्तक अपने मुख पर शेर और शेरनी का मुखोट चढ़ा लेते हैं और नृत्य करते हैं।

सिरमौर में इस नृत्य का प्रचलन दीवाली के त्योहार के उपरांत है। इस नृत्य में दस से लेकर पचास तक नर्तक भाग लेते हैं। ये नर्तक एक प्रकार से ठाकुरों और अपने राजपूतों का अभिवादन का संदेश उनके संबंधियों को नाच और गाने द्वारा पहुँचाते हैं।

Digitised by
Tharah Kardu

लोकनाट्य

लोकनाट्यों की बहुलता तथा लोकप्रियता को देखकर ही संभवतः किसी ने कहा है कि भारत की प्रत्येक गली का अपना नाटक है। साहित्यिक अनुशीलन से ज्ञात होता है कि संस्कृत नाटक तो सामान्य जनता तक पहुँच ही नहीं पाया। वह राजाओं और सामंतों के मनोरंजन का ही साधन रहा। सर्वसाधारण को केवल लोकनाट्य ही सुलभ था और है।

लोकनाट्य परिस्थितियों के अनुरूप बदला, विकसित तथा परिवर्धित हुआ। राजस्थान की नौटंकी, गुजरात की भवाई, उत्तर प्रदेश की राम और कृष्णलीला, आंध्र प्रदेश के बीढ़ी नाटकम्, महाराष्ट्र के तमाशा, बंगाल की यात्रा तथा हिमाचल के बूझण और करयाला, सभी की यही स्थिति रही।

हिमाचल प्रदेश में निर्शु, करयाला, बूझण, बाँठड़ा, बूढ़ा, चंद्राउड़ी और स्वाँग लोकनाट्य अधिक प्रसिद्ध हैं। यद्यपि इनका 'नौटंकी' और 'रास' जैसा स्वरूप नहीं है, किंतु लोकनाट्य के प्रायः सभी गुण इनमें किसी न किसी मात्रा में विद्यमान हैं। हाँ, इनके लिए विशद रूप से उपकरणों की आवश्यकता नहीं। खुला मैदान या मंदिर का प्रांगण मंच का कार्य करता है। अन्य आवश्यकताएँ हैं—स्वाँग, स्वाँग बनाने की कुछ चीजें, बाजगी, नर्तक और दर्शक। ये उपलब्ध हुए, तो करयाला, निर्शु या बूझण अभिनीत हुआ।

निर्शु—निर्शु अथवा विशु मेले सामान्यतः सारे प्रदेश में थोड़ा-बहुत स्थानीय पुट के अलावा एक-से होते हैं। बैसाख महीने के आरंभ में ये नृत्य-नाट्य मेले आरंभ होते हैं और प्रत्येक गाँव में एक, दो या तीन दिनों तक चलते रहते हैं। देवता आते हैं, मेला लगता है और नाटी होती है। सतलुज के किनारे अनेक स्थानों पर सायंकाल के भोजन के पश्चात् लोग किसी मैदान या अन्य खुली जगह एकत्रित हो जाते हैं। दर्शक मैदान के चारों ओर बैठ जाते हैं, बीच में थोड़ा-सा मार्ग स्वाँग के आने-जाने के लिए रहता है। बाजगी एक ओर बैठते हैं और नर्तक भी आसपास ही। दर्शकों में जाति संबंधी कोई भेदभाव नहीं होता, परंतु अभिनय प्रायः तथाकथित सवर्ण लोग ही करते हैं। प्रकाश के लिए मशालों का प्रयोग किया जाता रहा है। ये मेले सारी रात होते रहते हैं।

निर्शु में संगीत (गीत), नृत्य और अभिनय की त्रिवेणी बहती है। एक स्वाँग के पश्चात् दूसरे स्वाँग के आने में जो समय लगता है, उसका उपयोग दर्शक नर्तक 'बाँठड़ा' नाचकर करते हैं। गीत नृत्य का अभिन्न अंग है। बाजगी, नृत्य अथवा गीत के अनुरूप कभी ढोल-नगाढ़ा बजाते हैं, तो कभी धौंउस, ढेंकुली, भाणा आदि।

स्वाँग के लिए अभिनीत कथावस्तु या प्रसंग के योग्य वस्त्रादि मिल गए तो

tharahkardu.in

बेहतर, नहीं तो किसी शॉल या केवल कपड़े की चीर को ही सिर पर लपेटकर काम चलाया जाता है। हाँ, देवी-देवता तथा ऐतिहासिक पात्रों का अभिनय करने वाले स्वाँग पात्रोचित वस्त्र और आभूषण पहनते हैं।

रात्रि का सारा कार्यक्रम सुनियोजित होता है। इस संबंध में सतलुज उपत्यका के निर्शु के आधार पर हम यह विवरण उपस्थित करते हैं। आरंभ में कबीरी (भाट) मंगलाचरण गाते हैं। तत्पश्चात् 'डोल बरैकी' नामक स्वाँग निकलता है, जो एक असाधारण रूप से लंबी और पतली स्त्री का होता है। दूसरा स्वाँग 'नौताड़' का होता है। इस स्वाँग में नौ फुट ऊँचे हृष्ट-पुष्ट पुरुष को दिखाया जाता है। स्वाँग के साथ 'मियाँ दलीपा' का गीत गाया जाता है। दलीपा कोई ऐतिहासिक पुरुष था, जो क़ाँगड़ा का निवासी था।

इसके उपरांत चीड़ू (चिड़िया), गूजर, हेड़ू (शिकारी) आदि स्वाँग निकलते हैं। ये सभी प्रहसन हैं। पहली रात 'कंचदराउड़ी' (संभवतः चंदाराउड़ी), अर्द्धनारी, रायभट्ट, मियाँ, मल्ल, संत वैरागी आदि अन्य स्वाँग रहते हैं। दूसरी रात के स्वाँगों में साहूकार, ब्याह, बीरी भट्ट, नट, जम्मू का मियाँ, गुडकू देऊ (मेघ गर्जन), झाँकी, कूटना, पीसना और हल चलाना प्रमुख हैं।

जिन विषयों पर स्वाँग निकाले जाते हैं, उन्हें हम निम्नांकित सात भागों में बाँट सकते हैं :

(1) ऐतिहासिक
(2) धार्मिक
(3) पौराणिक
(4) सामाजिक
(5) मांगलिक
(6) साधु-वैरागी संबंधी और
(7) दैनिक जीवन संबंधी।

इन स्वाँगों का भी एक निश्चित क्रम प्रतीत होता है। पहला स्वाँग यदि ऐतिहासिक है, तो दूसरा प्रहसन, तीसरा धार्मिक तो बाद का सामाजिक। दैनिक जीवन से संबंधित कूटना, पीसना, हल चलाना आदि प्रसंग भी साथ-साथ चलते रहते हैं।

इस लोकनाट्य का उद्देश्य जन-जीवन का दर्पण उपस्थित करना तो है ही, समाज के दूषित पहलुओं पर तथा गाँव के किसी व्यक्ति के कटु स्वभाव पर भी बड़ा तीखा प्रहार करना होता है। स्वाँग के पर्दे में किसी की भी खिल्ली उड़ाना अनुचित नहीं समझा जाता।

Digitised by
Tharah Kardu

निर्शु भूत और वर्तमान का दर्पण है। साधु-वैरागी, रायभट्ट, मल्ल, जम्मू का मियाँ, मियाँ दलीपा आदि जहाँ अतीत की याद दिलाते हैं, वहाँ कूटना, पीसना, हल चलाना, ब्याह, साहूकार वर्तमान को चित्रित करते हैं।

करयाला—सतलुज और यमुना के बीच के क्षेत्र में इसी प्रकार का एक अन्य लोकनाट्य है—करयाला। करयाला का मुख्य उद्देश्य समाज की कुरीतियों पर व्यंग्य कर लोगों का मनोरंजन करना है। साथ में नीति और शिक्षा का उद्देश्य भी रहता है। कहीं-कहीं इतिहास की किसी घटना का उल्लेख शामिल किया जाता है। वैसे हास्य इस लोकनाट्य का प्राण है।

करयाला आम तौर पर दीवाली के आसपास किया जाता है। बहुधा इसे मनौती के रूप में भी मनाया जाता है।

करयाला के अभिनेताओं को 'करयाल्वी' और निर्देशक को 'करयाल्टू' कहा जाता है। करयाला लिखित नहीं होता, अतः पात्र समय, अवसर और कथानक के अनुरूप मनमाने संवाद गढ़ते हैं।

करयाला, निर्शु के नाट्य भाग के समान रात को होता है। इसमें इस्तेमाल में आने वाले बाजे खासकर ढोल, हारमोनियम, नरसिंघा, करनाल और शहनाई हैं। करयाल्वी का स्वाँग बनने के लिए अपनी-अपनी सामग्री—नकली मूँछें, दाढ़ियाँ, मुखोट तथा वस्त्र—होती है। प्रत्येक दृश्य 'डंग' या 'नगाड़ा' कहलाता है।

प्रांगण के एक भाग को रस्सियाँ बाँधकर एक चौकोर वर्ग में बदल दिया जाता है। इसके बीच में आग जलाई जाती है, जिसे 'घयाना' कहा जाता है। कुछ दूरी पर किसी छोटे तंबू या घास के छप्पर को करयाल्वी 'ग्रीन रूम', स्वाँग बनने के लिए इस्तेमाल करते हैं।

यह नाट्य 'जंगताल' नामक धुन से आरंभ होता है। ज्योंही वादक जंगताल को समाप्त करते हैं, त्योंही 'करयाला ताल' बज उठता है। इस धुन के बजते ही चंद्रावली (चंदराउड़ी अथवा लक्ष्मी) हाथ में दीपक लिए अखाड़े में प्रविष्ट होती है। एक हाथ आकाश की ओर उठाकर वह सरस्वती का आह्वान करती है, वाद्य-यंत्रों को छूती है और घयाने के गिर्द करयाला ताल में नृत्य करती है। पुरुष कलाकार ही चंद्रावली का वेश बनाते हैं। कई बार उसके साथ 'डाँगरा कान्ह' (हाथ में डाँगरा लिए कन्हैया) भी प्रवेश करता है।

कहीं-कहीं दूसरा स्वाँग कृष्ण का होता है, जो पाँच-छह सखियों सहित आते हैं। सखियाँ थाली में दीप लेकर उनकी आरती उतारती हैं, उनकी स्तुति में भजन गाती हैं।

तत्तापानी के करयाला के अवसर पर इस वैष्णव दृश्य के उपरांत साधुओं के

tharahkardu.in

स्वाँग आते हैं। उनमें एक-दो जंगम होते हैं। अखाड़े में प्रविष्ट होते ये जंगम श्लोक पढ़ते हैं। तभी विभिन्न दिशाओं से चौरमुठा, किल्टा, तुंबरी और लाठियाँ लिए अन्य साधु 'अलख निरंजन' का घोष करते हुए आते हैं।

इस साधु-स्वाँग में एक व्यक्ति इन साधुओं से पूछता है कि वे कहाँ से आए। उत्तर मिलता है, "बद्रीनाथ, ऋषिकेश से। चार धाम नहाकर।"

प्रश्न—"क्या ज्ञान-ध्यान की बातें बताएँगे ?"

उत्तर—"हाँ।"

प्रश्न—"तो बताइए :

'किधर देश तुम जोगी आए,
कहाँ तुम्हारा भाव,
कहाँ तुम्हारी बहन-भानजी,
कहाँ धरोगे पाँव।'"

उत्तर—*"पूर्व से हम जोगी आए, पश्चिम हमारा भाव,*
धरती माता हमारी भानजी-बहन, सभी केसर भसमा लगाओ।"

उत्तर का यह रूप भी है—*"दक्षिण से हम जोगी आए, पूर्व हमारा गाँव,*
दया हमारी बहन-भानजी, यहाँ धरेंगे पाँव।"

विदूषक—*"नोखूरे घ्राटे मुआ ऐसा रा बाब,*
मेरे भी लागा बोलने रा दाव।"

इस प्रकार थोड़ी देर तक वार्तालाप होता रहता है।

साधु स्वाँग के उपरांत कई स्थानों पर चूर्ण स्वाँग, नट स्वाँग, बुधु स्वाँग और जोगी-जोगिन स्वाँग भी होते हैं।

जोगी-जोगिन स्वाँग में जोगी कहता है :

"पर नारी पैनी छुरी, मत कोई लाए अंग,
दश शीश रावण के कटे, पर नारी के संग।"

इसका विस्तार करते वह कहता है :

"नागिन से पर नारी बुरी, जो तीन ठौर से खाए,
धन छीने, जोवन घटे, और पंचों में पति जाए।"

कभी-कभी गीतों और संवादों में अश्लीलता आ जाती है, जो संभवतः करयाल्वियों की अल्पशिक्षा का परिणाम है।

बाँठड़ा—करयाला का ही एक रूप बाँठड़ा लोकनाट्य है। बाँठड़ा वालों की भी अपनी पृथक् मंडली होती है। इसका उद्देश्य हास्य के बीच शिक्षा और मनोरंजन की सामग्री उपलब्ध कराना है। बाँठड़ा वाले अपने प्रदर्शन का समारंभ काहन और

Digitised by Tharah Kardu

चंद्रावली के स्वाँग से करते हैं। कई बार वे प्रहसन का अभिनय भी करते हैं। यह नाट्य मंडी जिले में प्रचलित है। यही नाट्य चंद्राउड़ी और स्वाँग के नाम से भी जाने जाते हैं।

सेचू का सेन ग्ये चम—रिवालसर के बौद्ध उत्सव सेचू के अवसर पर नृत्य-नाट्य का आयोजन होता है, जिसमें दर्शन के रूप में अरुणाचल (नेफा), भूटान, दार्जिलिंग, सिक्किम, कोलिंपोंग, लाहुल, स्पिति, किन्नौर, लद्दाख, पांगी, रामपुर और कुल्लू से बौद्ध सम्मिलित होते हैं।

सेन ग्ये चम वास्तव में तिब्बती लामाओं का मूक नाट्य है जिसमें सत् का असत् से संघर्ष, पाप का पुण्य से युद्ध, देवताओं की राक्षसों पर विजय दिखाई जाती है।

सेन ग्ये चम में आठ नर्तक अभिनेता भाग लेते थे, जिसके लिए वे महीनों पहले से रिहर्सल करते आते हैं। इन अभिनेताओं ने देव, दानव, मानव को चित्रित करने वाले मुखोट पहने होते हैं। हाथ में इनके ढोल होते हैं। वे अर्द्धवृत्त में नृत्य करते हैं। इसका अभिप्राय भगवान् पद्मसंभव तथा उनके अनुयायियों के मार्ग में आने वाली बाधाओं का शमन है। बौद्ध मतावलंबियों का विश्वास है कि इस नाट्य में भाग लेने वाले न केवल वे आठ दृश्य अभिनेता हैं, उनके साथ अनेक अदृश्य अभिनेता भी भाग लेते हैं, क्योंकि उन अदृश्य शक्तियों के लिए यह सचमुच का संघर्ष होता है।

अभिनेता दो वृत्तों में विभक्त माने जाते हैं। बाह्य वृत्त का नेतृत्व स्वयं पद्मसंभव करते हैं, उनके सहायक ब्रह्म, मानव, देवी-देवता, इंद्र, महादेव, नाग पुरुष, नाग देवता, विष्णु और यक्ष होते हैं आंतरिक वृत्त में राक्षस, दानव, यक्ष, कुबेर, मार तथा यमराज होते हैं।

प्रथम नृत्य का अभिनय इस क्रम से होता है :

(1) ज्ञान उर्मि का उदय

(2) कमल का खिलना

(3) प्रकाश का आगमन

(4) पाप हनन

(5) त्रैलोक्य विजय

(6) अज्ञानरूपी अंधकार का नाश

(7) त्रिभुवन का हिलाना और

(8) असत् शक्तियों का विभाजन।

बूझण—इन्हीं भावों को व्यक्त करने वाला एक अन्य मूक नाट्य है। इसका नाम बूझण है और इसका क्षेत्र स्पिति है। इस नाट्य में एक अथवा अधिक कथानक

tharahkardu.in

होते हैं। यह दो-तीन घंटों से लेकर 25-30 घंटों तक चलता रहता है।

बूझण के दो भेद हैं। एक में मुखोट पहनकर मूक नृत्य-अभिनय किया जाता है, दूसरे में अभिनेता बिना मुखोट के मंच पर आते हैं।

मुखोट बूझण का समारंभ ढोल और मँजीरे की मद्धिम, धीमी-सी धुन से होता है, जिसका प्रभाव अवसादपूर्ण होता है। मुखोट पहने दो नर्तक आते हैं। मुखोट दैत्यों के प्रतीक होते हैं। इनके वस्त्र रेशमी होते हैं, जिन पर राक्षसों, दैत्यों और अजगरों की आकृतियाँ बनी होती हैं। इनके हाथों में सुनहरी रंग की छड़ियाँ होती हैं।

ये नर्तक धीरे-धीरे बढ़ते हैं। तभी दो अन्य नर्तक उसी प्रकार की वेशभूषा में आते हैं। हाथ में विचित्र प्रकार के शस्त्र होते हैं। थोड़ी देर में दो और नाचने वाले मुखोट पहने आते हैं। तब ये छहों, जो पाप, दैत्यों और असत् के प्रतीक हैं, खूब तेज गति से नाचते हैं। वाद्य और संगीत भी उसी के अनुरूप तीव्र होता है। उनकी गति से आह्लाद प्रदर्शित होता है, मानो उन्होंने संसार पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया हो।

जब ये नृत्य में मग्न होते हैं, तभी देवताओं के मुखोट और वस्त्र पहने नर्तक आ जाते हैं। अब देव-दानव-संघर्ष पूरे जोर से आरंभ होता है। संगीत में जोश, ओज और नर्तकों के द्रुत पद-चाप। सभी नर्तक फिरकी के समान घूमते दिखाई पड़ते हैं। अपने शस्त्रों से वे एक-दूसरे पर प्रहार करते हैं। सारा वातावरण ढोल की गंभीर ध्वनि और शस्त्रों की खड़खड़ाहट से गूँज उठता है।

वस्तुतः बूझण लामाओं के पुत्रों को कहते हैं। स्पिति के पिण घाटी के लामा स्वयं मठ में रहते हैं, उनके बीवी-बच्चे गाँव के घरों में। ये बूझण स्थान-स्थान पर जाकर नृत्य, संगीत तथा अभिनय द्वारा अपना निर्वाह करते हैं।

एक अन्य बूझण नाट्य बड़े रोचक कथानक को लेकर चलता है। तपस्यारत एक संन्यासी एक बार अपना वस्त्र चट्टान पर पानी के छोटे-से घड़े में धोता है। हरिणी उस जल को पीती है और वह गर्भवती हो जाती है।

हरिणी एक कन्या को जन्म देती है। कन्या अत्यंत सुंदरी होती है। उसका नाम सूर्यमुखी पड़ता है। सूर्यमुखी का एक राजा से विवाह हो जाता है। वह उसे बहुत प्यार करता है। राजा की अन्य रानियाँ ईर्ष्या करती हैं और उसके विरुद्ध राजा के कान भरती हैं। वे राजा को समझाती हैं कि सूर्यमुखी एक डायन है, जिसका प्रमाण वे यह कहकर देती हैं कि सूर्यमुखी ने मांस के लालच में अपना पुत्र मार डाला है। वस्तुतः उन्होंने स्वयं उस बालक का वध किया होता है। राजा विश्वास कर सूर्यमुखी को महल से निकाल देता है। वह कई वर्षों तक जंगलों में भटकती फिरती है। अंततः राजा को उसके विरुद्ध षड्यंत्र का पता चल जाता है और वह उसे वापस बुला लेता

Digitised by
Tharah Kardu

है।

इसके अतिरिक्त इन बूझणों का एक और प्रिय नृत्य-नाट्य है। इसे हम खड्ग-आखेट-नाट्य का नाम दे सकते हैं।

अभिनय आरंभ करने से पूर्व एक ओर रखी काँस्य मूर्तियों की धूप-दीप से पूजा की जाती है। तदनंतर शंख-ध्वनि से दर्शकों का आह्वान होता है। सामने एक रेशमी वस्त्र रखा होता है, जिस पर अजगर के चित्र बने होते हैं।

अभिनेता एक-एक करके सामने आते हैं और नाटक शुरू करने से पूर्व चारों ओर जौ छिड़कते हैं।

पहले दृश्य में सामूहिक नृत्य होता है, जिसकी गति शुरू में तो ढीली-सी रहती है, किंतु बाद में तेज हो जाती है। एक समय तो इतनी तेजी आ जाती है कि नर्तक तितली के समान घूमने लगते हैं। नृत्य के साथ ढोल बजता है।

दूसरा दृश्य भालू के शिकार का होता है। शिकारी भालू की खाल को ओढ़कर सामने आता है। उसके हाथ में तीर और कमान होते हैं। आरंभ में तो वह थोड़ी देर मूक अभिनय करता है, किंतु एकाएक वह जोर-जोर से बोलने लगता है। अपनी वाणी द्वारा और भावभंगिमा से वह दर्शकों को हँसाकर लोट-पोट कर देता है।

तीसरे दृश्य में खड्ग-नृत्य आरंभ होता है। इसमें पाँच अभिनेता भाग लेते हैं। उनका शरीर कमर से ऊपर नंगा होता है। गले में एक रूमाल बँधा रहता है। कुछ अभिनेता अपने जबड़े में त्रिशूलाकार की सुई भी बींधे रहते हैं। उनके दोनों हाथों में तलवारें होती हैं। पहले तो वे खड्ग-चालन का प्रदर्शन करते हैं; किंतु ज्योंही गति एक विशेष मात्रा की हो जाती है, तो उनमें से एक अभिनेता पृथक् जा खड़ा होता है। वह हाथों को घुमा तलवारों की नोक अपने पेट में चुभो देता है। ढोल की थाप पर वह दोनों हाथों से तलवार को जोर से दबाता हुआ, इधर-उधर दौड़ता है। अचानक वह तलवार की मूठों को भूमि में गाड़कर स्वयं नोक पर पेट के बल झुककर तैरता-सा लगता है। इस क्षण उसका सारा भार तलवारों की नोकों पर ही होता है। विशेष बात यह कि तलवारें तीखी नोक की होती हैं।

तलवार की नोक कई बार पसलियों में चुभोकर नृत्य किया जाता है।

अभिनय की समाप्ति पर जौ के दाने छिड़के जाते हैं और कुछ-एक दर्शकों में बाँटे जाते हैं।

नाट्य के अंत में सभी नर्तकों और दर्शकों को 'ॐ नमो मणिपद्मे हुम' मंत्र का जाप करना पड़ता है।

बूढ़ा अथवा सिंह—शिमला में जुब्बल क्षेत्र में तथा सिरमौर एवं कुल्लू के कई भागों में एक बैले जैसा नाट्य होता है जिसे सिंह (शेर) या बूढ़ा कहा जाता है। यह

tharahkardu.in

नाटक चैत्र के अंतिम सप्ताह में होता है। सिंह अभिनेता गाँव-गाँव, द्वार-द्वार जाकर इसे करते हैं।

इस अभिनय का केवल मात्र आवश्यक उपकरण सिंहों की मुखाकृति के मुखोट हैं। यह मुखोट प्रायः लकड़ी के बने होते हैं, और नीचे से पकड़ने के लिए उनमें डंडी लगी होती है, जिससे उन्हें पकड़कर मुँह के सामने रखा जाता है। इस अवसर पर डफ या खंजरी का प्रयोग होता है।

डफ एवं खंजरी वाले अपने बाजों को बजाते हुए गाते हैं। उधर 'बूढ़ा-बूढ़ी' अभिनेता मुद्राओं, भंगिमाओं और सिर के अर्थपूर्ण झुकाव द्वारा उस गीत-कथा का व्याख्यात्मक अभिनय करते हैं।

कथा का सार इस प्रकार है : एक युवक था। वह बड़ा हँसमुख, मजाकिया किंतु एकदम निखट्टू था। उसे एक सुंदरी से प्रेम हो गया। उसने उसे अपने वश में करने के अनेक उपाय किए। उसने सुंदरी को बताया कि वह बहुत धनवान है। उसके कई मकान हैं, काफी जमीन-जायदाद है। सैकड़ों भेड़, बकरियाँ, गाय, बैल हैं। उसने आश्वासन दिया कि यदि वह उसकी जीवनसंगिनी बन जाए, तो सदा आराम में रहेगी। किंतु नायिका इतनी भोली तो थी नहीं। उसने उसकी बात की सच्चाई की जाँच की। उसे ज्ञात हुआ कि उसका प्रेमी तो केवल शेखीबाज है। वास्तव में वह कंगाल है, जिसके पास भोजन करने के लिए थाली तक नहीं। प्रेमी घबरा जाता है और खिसक जाना चाहता है। सुंदरी उसका उपहास करती है, किंतु उसे जाने नहीं देती और अंत में उससे विवाह कर लेती है।

Digitised by
Tharah Kardu

सहायक पुस्तकें

हिंदी-संस्कृत

ऋग्वेद

यजुर्वेद

महाभारत

मनुस्मृति

शिवपुराण

किशोरीलाल वैद्य	पहाड़ी चित्रकला
ओमचंद हाँडा	
गोवर्धनसिंह	जुब्बल के लोकनृत्य
दिनकर, रामधारीसिंह	संस्कृति के चार अध्याय
पद्मचंद्र काश्यप	1. हिमाचली संस्कृति का इतिहास
	2. हिमाचल की ऐतिहासिक और पौराणिक कथाएँ
	3. कुल्लुई लोक-साहित्य,
	4. लामण, हिमालयी भाव गीत
बंशीराम शर्मा	किन्नर लोक-साहित्य
भगवानसिंह	हड़प्पा सभ्यता और वैदिक साहित्य
मोहन मैत्रेय	पंजाब का पर्वतीय साहित्य
रामकृष्ण कौशल	हिमानियों के देश में
रामशरण शर्मा	आर्य संस्कृति की खोज
रामविलास शर्मा	1. पश्चिमी एशिया और ऋग्वेद
	2. मानव सभ्यता का विकास
	3. भारत के प्राचीन भाषा परिवार और हिंदी
राहुल सांकृत्यायन	1. मध्य एशिया का इतिहास
	2. कुमाऊँ
	3. किन्नर प्रदेश
सेमवाल, पी०एन०	1. पश्चिमी हिमालय क्षेत्र के अतीत की झाँकी।

tharahkardu.in

BIBLIOGRAPHY

ENGLISH

Archer, W. G.	(1) Indian Paintings in the Punjab Hills
	(2) Indian Miniatures
Basham, A. L.	The Wonder that was India
Census of India, 1961	Fairs and Festivals of Himachal Pradesh
Coomaraswamy	Rajput Paintings
Cunningham, A.	Ancient Geography of India
Dandekare, R. N.	Vedic religion and Mythology, Review of Indological Research, in last 75 years
Franch, J. G.	Himalayan Art
Gazetteer, Shimla District	
Grierson, G. A.	(1) Linguistic Survey of India, Vol. VIII & IX,
	(2) Linguistic Survey of Punjab
Gupta, N. S.	Cultural History of Kapisa and Gandhara
Goetz, Hermann	The Early Wooden Temples of Chamba
Goverdhan Singh	Fairs and Festivals of Himachal Pradesh
Hillebrandt, Alfred	Vedic Mythology
Khosla, G. D.	Himalayan Circuit
Kochhar, Rajesh	The Vedic People : Their History & Geography
Kashyap, P. C.	(1) Surviving Harappan Civilisation
	(2) Living Pre-Rigvedic and Early Rigvedic Traditions of Himalayas
Law, B. C.	Some Khstriya Tribes of Ancient India
Mukherjee Radhakamal	Culture and Art of India
Oakley, E. S.	Holy Himalaya
Punjab District Gazetteer,	Kulu and Seraj, Vol. XXX A. Pt. II
Randhawa, M. S.	(1) Kangra Valley Paintings

Digitised by
Tharah Kardu

	(2) Chamba Paintings
	(3) Kangra Paintings on Love
Ray, S.C.	Early History and Culture of Kashmir
Sharma, R. S.	Advent of the Aryans in India
Thapar, Romila	(1) History of India
	(2) Ed. Recent Perspectives of Early Indian History
	(3) Ancient Indian Social History
Tribes and Castes—	A Glossary of the Tribes and Castes of the Punjab and North-West Frontier Provinces, Vol. 1-3
H.P. Village Surveys	(1) Chitrari,
	(2) Brahmour
	(3) Kupha Parmar
	(4) Pangana
	(5) Rajana Kothi
Marg :	
	(1) March, 1964,
	(2) June, 1964,
	(3) March, 1957,
	(4) March, 1970,
	Folk Dances of India.
March of India,	1954

□□

tharahkardu.in

Digitised by
Tharah Kardu

tharahkardu.in

Digitised by
Tharah Kardu

tharahkardu.in

डॉ० पद्मचन्द्र काश्यप भारतीय इतिहास और संस्कृति के मान्य अध्येता हैं। हिमालयी जीवन के सर्वांगीण निरीक्षण-परीक्षण में उनकी विशेष रुचि है।

हिमाचल प्रदेश के निरमंड गाँव (जिला कुल्लू) में अक्तूबर, 1925 को जन्मे डॉ० काश्यप पश्चिमी हिमालय के लोक-साहित्य का वैज्ञानिक विश्लेषण करने वाले पहले व्यक्ति हैं। उनकी जातीय-पुरातात्त्विक ऐतिहासिक खोजें बताती हैं कि भारत का सुदूर भूतकाल केवल मिट्टी के नीचे दबा पड़ा नहीं है, वह आज भी जीवित है। उनके 'Surviving Harappan Civilisation' को पुरातत्त्वविदों द्वारा 'A sensational book...(which) opens up a hither neglected line of ethno-archaeological investigation' आँका गया है। सद्यःप्रकाशित 'Living Pre-Regvedic and Early Rigvedic Traditions of Himalayas' में उन्होंने स्थापित किया है कि संस्कृति इतिहास के लिए उतना ही प्रामाणिक आधार है जितना लिखित-उत्खनित सामग्री। वैदिक सप्त-सिंधु के पर्वतीय क्षेत्र की लोक-संस्कृति में उन्होंने पूर्व ऋग्वैदिक एवं आरंभिक ऋग्वैदिक युगीन इतिहास का मुँहबोलता विवरण प्रस्तुत किया है।

आपके 'कुल्लुई लोक साहित्य', 'लामण, हिमालयी भाव गीत', 'हिमाचली संस्कृति का इतिहास', 'हिमालय : ऐतिहासिक एवं पौराणिक कथाएँ' अपने विषय के आधिकारिक संदर्भ ग्रंथ बन गए हैं।

Digitised by
Tharah Kardu

हिमाचल पुस्तक भंडार

tharahkardu.in